महाभारत

में

धर्म

राजस्थान विश्व विद्यालय द्वारा
जनवरी सन् १९६५ में
पी एच० डी० की उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

महाभारत में धर्म

(महाभारत के आधार पर धर्म के लक्षण एवं आचार का प्रामाणिक विवेचन)

लेखिका—

डा० शकुन्तला रानी तिवारी

एम०ए०, पी-एच० डी०

प्रचारक—

भारती पुस्तक मन्दिर

चौबुर्जा, भरतपुर (राजस्थान)

※ प्रकाशक—
पाटल प्रकाशन
४/२११ बानूगज, आगरा ।

※ प्रचारक—
भारती पुस्तक मन्दिर
(चौबुजा) भरतपुर (राजस्थान)

※ प्रथम प्रकाशन, १९७०

※ मूल्य ३५) पैंतीस रुपया ।

※ श्री नैमीचन्द जैन द्वारा
मथुरा प्रिंटिंग प्रेस,
मथुरा में मुद्रित ।

❋ समर्पण ❋

पूज्य माँ

और

आदरणीय पिताजी

को

श्रद्धा पूर्वक समर्पित



पूर्व वचन

अपनी सहधर्मिणी के इस शोध प्रबन्ध के सम्बन्ध में कुछ भी कहना मेरे लिए कठिन ही नहीं, कदाचित् अधिक उचित भी नहीं है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में अपनी धारणा को पक्षपात से बचाना कठिन है। इसमें उनकी प्रशंसा के साथ-साथ आत्म प्रशंसा की भी आशंका हो सकती है।

उनके अनुरोध से लिखे हुए ये दो शब्द हमारे दाम्पत्य सम्बन्ध के प्रकाशक बनें, मेरे मत में इस पूर्व वचन का इससे अधिक उद्देश्य नहीं है। मैं अपनी सहधर्मिणी की बाल्यकाल से संजोयी हुई उच्च शिक्षा की आकांक्षा को पूर्ण करने में सहायक हो सका, इसकी मुझे प्रसन्नता है। अपने कार्य में अधिक व्यस्त रहने के कारण मैं उनके अध्ययन में अधिक सहयोग न दे सका, इसका मुझे खेद है। अपनी उच्च शिक्षा की भांति उन्होंने इस अनुसन्धान कार्य को भी बहुत कुछ अपने परिश्रम और अध्यवसाय से ही पूर्ण किया है। श्रम और अध्यवसाय उनके विशेष गुण हैं। इन्हीं के द्वारा उन्होंने गृहस्थ धर्म के साथ समन्वय रखते हुए अपनी शिक्षा को पूर्ण किया है।

भारतीय पुरातत्व के विख्यात विद्वान् आदरणीय डा० फतहसिंह जी का आत्मीय सम्बन्ध हमारे परिवार की एक मूल्यवान उपलब्धि है। उनकी उदार अनुकम्पा से ही इस अनुसंधान कार्य में उनका अमूल्य पथ प्रदर्शन मिल सका। आदरणीय डा० फतहसिंहजी की प्रेरणा उनके प्रोत्साहन तथा उनके निरन्तर निर्देशन से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

आत्मीय सम्बन्ध के नाते मैं अपनी सहधर्मिणी को उनके श्रम और अध्यवसाय की सफलता के लिए बधाई दूँ तथा आदरणीय डा० फतहसिंहजी के प्रति उनके अपार अनुग्रह के लिए आभार प्रदर्शन करूँ, यही श्रम के इस अनुष्ठान और अनुसन्धान के प्रसंग में मेरा धर्म है।

महारानी श्रीजया कालिज
भरतपुर (राजस्थान)
२० जनवरी १९७०

रामानन्द तिवारी
"भारतीनन्दन"

भूमिका

१—विषय निर्देश—

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में महाभारत के धर्म-सम्बन्धी तत्वों का अनुसंधान अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। महाभारत भारतीय साहित्य का एक अनुपम रत्न है। आकार की विशालता की दृष्टि से वह विश्व के साहित्य में अतुलनीय है। विषय की दृष्टि से भी उसका महत्व अपार है। स्वयं महाभारत में ही कहा गया है कि जो अन्यत्र है वह इस महाभारत में भी है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं मिलेगा। इसी आधार पर यन्न भारते तन्न भारते की उक्ति प्रचलित हुई। महाभारत के वर्तमान रूप मे धर्म सम्बन्धी तत्व, डा० सुकथनकर के मतानुसार, कथा भाग से कई गुना अधिक है। पश्चिमी विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं और वे महाभारत के मूल कथा-काव्य की खोज करते रहे हैं। किन्तु २००० वर्ष से महाभारत का वर्तमान रूप ही मान्य है, जिसमें धर्मतत्व की प्रधानता है। डा० सुकथनकर इस धर्म तत्व को महाभारत का अभिन्न और आन्तरिक अङ्ग मानते हैं। भारतीय परम्परा में महाभारत धर्मशास्त्रों और स्मृतियों के समान एक धर्म ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। धर्मराज के नायकत्व और भगवान श्रीकृष्ण के निर्देशन ने महाभारत की कथा को भी धार्मिक तात्पर्य से युक्त बना दिया है। महाभारत में धर्म तत्व की प्रधानता मानकर ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 'महाभारत में धर्म' को अध्ययन और विवेचन का विषय बनाया गया है।

महाभारत की महिमा तथा महाभारत में धर्म के महत्त्व से प्रस्तुत विषय का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। महाभारत का भारतीय साहित्य में इतना मान है कि उसे 'पंचम वेद' कहा जाता है। 'धर्म' भारतीय संस्कृति और जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है, जैसा कि आगे प्रस्तावना में तथा शोध

प्रब ध के आरम्भिक अध्यायो म स्पष्ट किया गया है। 'धम' शब्द अगरजी के रिलाजन का पयाय नहा है। धम शास्त्र और महाभारत म धम का अभिप्राय मुरय रुप स उदात्त और मानवीय आचार स है। महाभारत ▮ घम का यही रुप याप्त है। धम के इसी रूप को मुरय मानकर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध म महाभारत के धम तत्व का विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्ध के आरम्भिक अ यायो म महाभारत के सदभ म धम के स्वरुप का विवेचन किया गया है। उसके बाद बारह अध्यायो म धम के विविध पक्षो का विवरण और विवेचन महाभारत के आधार पर किया गया है। यह धम का प्रधानत सामाजिक नतिक और मानवीय रूप है। अन्त मे एक अध्याय म ईश्वर अवतार देवता आदि सम्बन्धी धम का विवरण दि य धम' के अन्तगत किया गया है। धम का सामाजिक, नतिक और मानवीय धारणा का मुख्य मानकर उसके साथ दिव्य धम की सगति दिखाई गई है। उपसहार म अनुसधान के निष्कर्षो का आकलन है। महाभारत की महिमा और उसम धम की महत्ता ही प्रस्तुत शोध प्रब ध के शीषक विषय और अध्ययन के महत्व का आधार है।

२—महाभारत सम्बन्धी शोध का इतिहास—

भारतीय परम्परा म प्राचीन साहित्य के मूल ग्रन्थो के अध्ययन और अनुशासन की प्रथा प्रचलित थी। मूल ग्रन्थो के अध्ययन मे सहायता देने के लिए व्याख्यायें और टीकाय तो लिखी जाती थी किन्तु एतिहासिक और वज्ञानिक आलोचना के नाम पर आलोचना को मूल ग्रन्थ स अधिक महत्वपूर्ण बनाने की प्रथा प्राचीन भारत म प्रचलित न थी। इसी कारण प्राचीन भारत म इतन विशाल साहित्य का रचना हो सकी। आधुनिक युग म रचना स अधिक आलोचना हो रहा है और आलोचना ही साहित्य का स्थान ले रही है। यह पश्चिम के आधुनिक वज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण का ही फल है। महाभारत का एतिहासिक और वज्ञानिक आलोचना का प्रवत्तन भी पश्चिमी विद्वानो ने ही किया है। भारतीय परम्परा म तो मुरयत महाभारत का टीकायें मिलती है जिनम नीलकण्ठी टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक है। नीलकण्ठी टीका के अतिरिक्त महाभारत की अन्य धार्मिक और

आध्यात्मिक व्याख्याएँ भी मिलती हैं। इनमें आनन्दतीर्थ मध्वाचार्य का महाभारत तात्पर्य निर्णय और अप्पय दीक्षित का महाभारत तात्पर्य संग्रह विशेष उल्लेखनीय है। इनमें भक्ति और अध्यात्म के दृष्टिकोण से महाभारत की संक्षिप्त व्याख्या की गई है।

महाभारत की ऐतिहासिक और वस्तुनिष्ठ आलोचना का प्रवर्तन आधुनिक काल में पश्चिमी विद्वानों ने किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में महाभारत की इस पश्चिमी आलोचना का संक्षिप्त विवरण दिया गया है और उनके दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया गया है। महाभारत के पश्चिमी आलोचकों में वाप, लासन, सोरेनसन, हॉप्किन्स, ओल्डनबर्ग, वेबर, लुड्विग, मक्डोनल, विन्तरनित्स, वाथ, होल्ट्ज़मान आदि विद्वानों का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें अधिकांश विद्वान् महाभारत के वर्तमान रूप को अनेक लेखकों की कृति मानकर उसके धार्मिक पक्षों को प्रक्षिप्त मानते रहे तथा महाभारत के मूलकथाकाव्य की खोज करते रहे। आधुनिक भारतीय विद्वान् भी पश्चिमी विद्वानों के इस दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। रमेशचन्द्र दत्त जैसे भारतीय मनीषी भी इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर महाभारत के मूल कथाकाव्य की खोज करते रहे और महाभारत के धार्मिक अंशों को प्रक्षिप्त मानते रहे। भारतीय विद्वानों में जिन्होंने पश्चिमी मतों का प्रतिवाद करने का साहस किया उनमें प्रिंसीपल थडानी, चिन्तामणि विनायक वैद्य और डा० सुक्थनकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रिंसीपल थडानी ने लगभग दो हजार पृष्ठों में महाभारत की व्याख्या उसे एक आध्यात्मिक रूपक मानकर की है। महाभारत के प्रत्येक पात्र और प्रत्येक घटना को रूपक मानकर प्रिंसीपल थडानी ने सम्पूर्ण महाभारत के तात्पर्य को जिस सूक्ष्मता के साथ घटित किया है वह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। सूक्ष्म और विस्तृत होने के कारण प्रिंसीपल थडानी की व्याख्या अत्यन्त जटिल बन गई है। उसका विश्लेषण एक सम्पूर्ण शोध ग्रन्थ में ही हो सकता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रसंगतः प्रिंसीपल थडानी के अभिमत का इंगितमात्र किया गया है। श्री वैद्य द्वारा रचित 'महाभारत मीमांसा' में महाभारत के इतिहास विषय आदि अनेक पक्षों का अत्यन्त सन्तुलित और समीचीन विवेचन है। सौभाग्य से उनके मूल मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद हिन्दी के प्रसिद्ध मराठी

सेवक पंडित माधवराव सप्रे की कृपा से उपलब्ध है। श्री वैद्य ने अनेक पश्चिमी विद्वानों के मत का खण्डन करके भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया है।

आलोचना और दृष्टिकोण के विचार से डा० सुक्थनकर के महाभारत सम्बन्धी भाषण सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। डा० सुक्थनकर के भाषणों का संग्रह 'मीनिंग आव महाभारत' के नाम से बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित हुआ है। चार भाषणों में से पहले में डा० सुक्थनकर ने महाभारत के पश्चिमी आलोचकों के मतों का विवरण देते हुये उनका खण्डन किया है तथा महाभारत के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण अपनाने का अनुरोध किया है। दूसरे भाषण में महाभारत की कथा और उसकी शिक्षा का विवरण है। तीसरे में महाभारत की नैतिक और धार्मिक व्याख्या है। चौथे भाषण में महाभारत में आध्यात्मिक तात्पर्य का उद्घाटन है। चार अध्यायों का यह लघु ग्रन्थ महाभारत के प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् डा० सुक्थनकर का कीर्तिस्तम्भ है। उन्होंने भाण्डारकर शोध संस्थान की ओर से महाभारत के प्रामाणिक संस्करण का सम्पादन किया है। पाठशोधन की दृष्टि से उनका यह सम्पादन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु महाभारत के तात्पर्य की व्याख्या की दृष्टि से उनके उक्त भाषण विशेष महत्व के अधिकारी हैं। इन भाषणों के दोनों ही पक्ष अद्वितीय हैं। डा० सुक्थनकर ही एक ऐसे विद्वान् हैं जो महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की स्थापनाओं का प्रबल खण्डन करने का साहस कर सके हैं। दूसरी ओर महाभारत के तात्पर्य की जो व्याख्या उन्होंने की है वह भी महाभारत के विद्यार्थियों के लिए एक प्रकाशस्तम्भ का काम करेगी।

डा० सुक्थनकर के अभिमत का विशेष महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि महाभारत का जो वर्तमान रूप दो हजार वर्ष से मान्य है उसमें धार्मिक अंश की ही प्रधानता है और यह धार्मिक अंश महाभारत के अभिन्न और आन्तरिक अंग बन गये हैं। इनको प्रक्षिप्त मानकर इनकी उपेक्षा करना अनुचित है। पश्चिमी विद्वानों ने एक विपरीत दृष्टिकोण ग्रहण करके महाभारत और भारतीय आस्था के साथ अन्याय किया है। डा० सुक्थनकर ने यह निर्देश किया है कि भारतीय विद्वानों का कर्तव्य है कि वे महाभारत के वर्तमान रूप

को स्वीकार कर स्वतन्त्र भारतीय दृष्टिकोण से उसका अध्ययन करें। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 'महाभारत में धर्म का अध्ययन' भारतीय दृष्टिकोण से ही किया गया है। इस अध्ययन का आधार मुख्यत महाभारत का ग्रन्थ तथा धर्म की भारतीय आस्था है। मराठी उच्चारण के अनुसार कदाचित् उक्त विद्वान् का नाम 'सुक्ठणकर' होना चाहिये किन्तु महाभारत के सम्बन्ध में उनके अभिमतों को सुन्दर कथन मानकर मैंने उन्हें 'सुकथनकर' कहना ही उचित समझा है। ध्वनि साम्य के कारण उनका यह अभिधान मान्य हो सकता है।

३—अध्ययन के आधार

डा० सुकथनकर के उक्त मत के आधार पर स्वयं महाभारत के ग्रन्थ को ही प्रस्तुत अध्ययन का अवलम्ब बनाया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के बीस अध्यायों में पिछले पन्द्रह अध्याय महाभारत के धर्म सम्बन्धी श्लोकों के आधार पर ही लिखे गये हैं। आरम्भ के पाँच अध्यायों में भी महाभारत का आधार बहुत है किन्तु आरम्भिक आलोचना आदि के लिए महाभारत के सम्बन्ध में मिलने वाले विदेशी और भारतीय ग्रन्थों का अवलम्ब भी लिया गया है। महाभारत की रचना सामग्री, तिथि आदि के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों के मत मक्डौनल, विन्तरनित्स आदि के प्रसिद्ध इतिहासों तथा डा० सुकथनकर के ग्रन्थ के आधार पर दिये गये हैं। पश्चिमी मतों की आलोचना कुछ डा० सुकथनकर के मत के आधार पर और कुछ स्वतन्त्र मत के आधार पर की गई है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य आधार महाभारत का मूल ग्रन्थ ही है। अत नीलकण्ठी आदि टीकाओं का उपयोग प्रस्तुत अध्ययन में नहीं किया गया है। महाभारत का ग्रन्थ अपने आप में ही बहुत विशाल और एक जीवन व्यापी अध्ययन के लिए पर्याप्त है। प्रस्तुत अध्ययन में धर्मशास्त्रों की धारणा के अनुकूल धर्म का मुख्यत सामाजिक, नैतिक और मानवीय रूप ही प्रस्तुत किया गया है। रिलीजन अथवा अध्यात्म के अर्थ में धर्म से हमारा अधिक प्रयोजन नहीं रहा है। अत आनन्दतीर्थ मध्वाचार्य अप्पय दीक्षित आदि की आध्यात्मिक व्याख्याओं का भी प्रस्तुत अध्ययन में उपयोग नहीं किया गया है। श्री सम्पूर्णानन्द (?) थडानी का आध्यात्मिक रूपक भी प्रस्तुत अध्ययन में उपयोगी

नही रहा है। रुपक अथवा वृत्त के रूप म महाभारत की कथा से प्रस्तुत अध्ययन का अधिक सम्बन्ध नही है। इसम विशेष रुप म कथा के प्रसग म आन वाले धम सम्ब धी तत्वो का ही विवेचन किया गया है। श्री चितामणि विनायक वद्य की 'महाभारत मीमासा तथा डा० सुकथनकर के ग्रथ का जहा अवलम्बन लिया गया है उनके सकेत पादटिप्पणियो म यथास्थान दे दिये गय हैं।

महाभारत की मूल सहिता क कई सस्करण मिलत हैं। उसके उत्तरी और दक्षिणी पाठो म भेद है। महाभारत के य सस्करण दुलभ और महघ है। भाण्डारकर शोध सस्थान पूना से महाभारत का एक शोधपूण सस्करण प्रकाशित हुआ है। यह दुलभ तो नही, किन्तु महघ अवश्य है। कुछ वष पूव गोरखपुर के प्रसिद्ध धार्मिक सस्थान गीताप्रेस ने महाभारत का एक सुदर और सुलभ सस्करण प्रकाशित किया है। यह सस्करण उत्तरी और दक्षिणी दोनो पाठो क सयोग से निर्मित हुआ है। अत अध्ययन और सदभ की दृष्टि स अधिकपूण और उपयोगी है। अल्पमूल्य क कारण यह सुलभ भी है। उत्तर भारत म अब इसका प्रचार भी है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध क पाठक गीता प्रेस क इस सस्करण स पादटिप्पणियो क सन्दर्भो की तुलना अधिक सरलता स कर सकेंगे। इसी कारण यह टिप्पणियाँ गीता प्रेस स प्रकाशित महाभारत के अनुसार दी गई हैं। श्लोको की सख्या म कहा मतभेद भी हो सकता है। इसलिए अधिकाश टिप्पणियो म श्लोको की पक्तिया ही दे दी गई हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध क परीक्षको को इस प्रबन्ध की विचार सामग्री का मूलगत प्रमाण उसी पष्ठ पर पादटिप्पणियो म दिय गय श्लोको म मिल सकेगा। यहाँ यह निवेदन करना भी उचित होगा कि महाभारत क विशाल ग्रन्थ की सम्पूण सामग्री का उपयोग इस अध्ययन म नही हो सका है। प्रबन्ध की सीमाओ क अन्तगत यह सम्भव भी नही था। अत सम्पूण महाभारत म बिखर हुए धम-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य कथनो को ही इसम दिया जा सका है। य कथन वणाश्रम धम की व्यवस्था के अनुसार धम क मुख्य तत्वो का स्पष्टीकरण करत है, यही इनका महत्व है। महाभारत क धम सम्बन्धी विचारो क प्रसग म आवश्यकता क अनुसार अन्य धमशास्त्रो क मत भी यथा स्थान दिय गय हैं।

४— धर्म का स्वरूप—

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जिस धारणा के अनुसार महाभारत में धर्म का विवेचन किया गया है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। धर्मशास्त्र और महाभारत में जिस अर्थ में धर्म को ग्रहण किया गया है वह धर्म सामान्य मानवीय और नैतिक धर्म है। यह धर्म अँगरेजी रिलीजन का पर्याय नहीं है। रिलीजन एक ओर अलौकिक और दूसरी ओर सीमित होता है। ईश्वर पैगम्बर आदि से रिलीजन का सम्बन्ध उसे अलौकिक बना देता है। ईश्वर के विशेष रूप, विशेष पैगम्बर विशेष विधि आदि से बँधकर यह रिलीजन एक सीमित सम्प्रदाय बन जाता है। पश्चिम के ईश्वरवादी सम्प्रदाय इसी प्रकार अपनी आस्थाओं में सीमित हुए हैं। उनमें भी मानवीय धर्म तत्व का सम्पुट है किन्तु वह उनकी विशेष रूढ़ियों में बँध गया है। छल बल से विश्व में इन धर्मों का प्रचार किया गया है किन्तु इन धर्मों की धारणायें मानवता की स्वतन्त्र विभूति नहीं बन सकता।

ईश्वर-सम्बन्धी आस्था के रूप में धार्मिक सम्प्रदाय भारतवर्ष में भी पाये जाते हैं, यद्यपि ये पश्चिमी सम्प्रदायों की भाँति सकुचित असहिष्णु और प्रचारवादी नहीं है। इनके विपरीत ये उदार और सहिष्णु हैं। किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में धर्म का अभिप्राय इन सम्प्रदायों से नहीं है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में धर्म को मुख्य रूप से मानवीय, सामाजिक और नैतिक माना गया है। महाभारत के अनुसार मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई नहीं है। (न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्)। मनु ने भी अपने धर्मशास्त्र में कहा है कि मनुष्य अत्यन्त मानवीय है उसका अवमान कभी नहीं करना चाहिए (पुरुष नावमन्यत्)। इस प्रकार धर्मशास्त्र और महाभारत का धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त मानवीय है। धर्म की इसी परिभाषा को यहाँ अपनाया गया है और इसी के अनुसार महाभारत के धर्म सम्बन्धी तत्वों का विवेचन किया गया है। इस धारणा के अनुसार धर्म मनुष्य का श्रेष्ठ उदार और मानवीय कृत्य बन जाता है। यह स्वतन्त्र मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के विविध रूपों में चरितार्थ होता है। धर्मशास्त्र की परम्परा में इन परिस्थितियों को वर्णों और आश्रमों का नाम दिया है तथा इनके अनुसार धार्मिक

कतव्या का विधान किया गया है। यह धम ईश्वर के प्रति मनुष्य की आस्था नही वरन् मनुष्य के प्रति मनुष्य का उदार और मानवीय कत य है। यह सावभौम और सव मा य मानव धम है जिसम किसी रूढि, विधि आदि का ब धन नही है। अहिंसा, सत्य समता, न्या आदि के मानवीय गुण इस धम के उपलक्षण है। चारो वर्णों तथा चारा आश्रमो के विविध कत या म यह धम चरिताथ होता है। धम की यह सामाजिक और मानवीय धारणा महा भारत मे भी याप्त है। प्रस्तुत शोध प्रब ध म इसी धारणा के अनुसार महा भारत के धम सम्ब धी तत्वो का विवरण और विवेचन किया गया है।

५—मौलिकता का सकेत—

विश्व विद्यालय के नियमा के अनुसार शोध प्रब ध मे विषय सामग्री व्याख्या सिद्धा त आदि की दृष्टि से मौलिकता की अपेक्षा की जाती है। सिद्धा ता की मौलिकता तो बहुत दुलभ है कि तु विषय, सामग्री और याख्या का नवीनता आवश्यक है। विषय की नवीनता ही उसकी मौलिकता बन जाती है। जिस विषय पर कोई महत्वपूण काय नही हुआ है उसे नवीन कहा जा सकता है। महाभारत और धम दोना ही अत्य त प्राचीन विषय हैं फिर भी आश्चय की बात है कि महाभारत म धम के विषय पर कोई महत्वपूण ग्र थ प्रकाशित नही हुआ है। महाभारत को मुख्यत धार्मिक ग्र थ ही माना जाता है। उसके वतमान रूप म धार्मिक अश कथा भाग की तुलना म कई गुना अधिक है। फिर भी महाभारत म धम का व्यवस्थित अध्ययन अब तक उपेक्षित हो रहा। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रब ध का विषय नवीन है और नवीनता की दृष्टि स वह मौलिकता का अधिकारी है।

महाभारत की कुछ धार्मिक उक्तिया प्रसिद्ध हैं। कि तु महाभारत की धम सम्ब धी प्रचुर सामग्री क विधिवत् विश्लेषण का सम्भवत प्रथम प्रयास प्रस्तुत शोध प्रब ध म किया गया है। महाभारत की धम-सम्ब धी सामग्री के सकलन और विश्लेषण की दृष्टि स भी प्रस्तुत प्रयास कुछ मौलिकता का अधिकारी है।

धम का जिस धारणा को इस शोध प्रब ध म प्रस्तुत किया गया है

यह धम शास्त्रों से सम्मत है और महाभारत म भी मान्य है। इस दृष्टि से यह धम सम्बन्धी धारणा मौलिक नही कही जा सकती। ऐसी मौलिक धारणा के लिए यहाँ अवकाश भी नही है। किन्तु अँगरेजी के रिलीजन की साम्प्रदायिक सकीर्णता की तुलना म धम सम्बन्धी उक्त धारणा को अधिक विशदता और प्रखरता के साथ इस शोध प्रबन्ध म प्रस्तुत किया गया है। यही इसकी मौलिकता हो सकती है। धम की इस धारणा की मानवीयता, उदारता सावभौमता आदि की गम्भीर और विस्तृत व्याख्या करने की चेष्टा इस प्रबन्ध म की गई है। इसी व्याख्या के प्रसग म एकेश्वरवाद के आग्रह आरोपण प्रचार, धम परिवतन आदि के सम्बन्ध म कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं, जो सिद्धान्तों की दृष्टि से भी कुछ मौलिकता के अधिकारी हो सकते हैं। धम के स्वरूप और सिद्धान्तों का यह विवेचन प्रबन्ध के चौथे और पाँचवें अध्याय म किया गया है जो किसी सीमा तक मौलिक कहा जा सकता है। प्रबन्ध के शेष भाग म महाभारत के धम सम्बन्धी तत्वों का विवेचन उन मौलिक स्थापनाओं के अनुसार किया गया है जो उक्त दो अध्यायों म निधारित की गई हैं। आरम्भिक अध्यायों म पश्चिमी विद्वानों के महाभारत सबधी अभिमतों के खण्डन के लिए भी कुछ मौलिक तक प्रस्तुत किये गये हैं।

६—अध्यायों का विषय सकेत—

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध म बीस अध्याय हैं, इनम आरभ के छ अध्यायों मे महाभारत और महाभारत मे धम के स्वरूप एव स्थान के सम्बन्ध म सामान्य विवेचन किया गया है। अगले बारह अध्यायों मे वण आश्रम व्यवस्था के अनुसार धम का निरूपण है। अन्त म एक अध्याय म दिव्य धम का विवरण और एक अध्याय म उपसहार है।

पहले अध्याय म महाभारत की महिमा का वणन किया गया है। महाभारत म धम का अध्ययन करने से पहले उसकी महिमा का परिचय देना अत्यन्त समीचीन है। महाभारत ससार का सबसे बडा काव्य है। अपनी महिमा के कारण महाभारत पचम वेद कहलाता है और भारतीय जनता म हजारों वर्षों से मान्य रहा है। प्राचीन काल म भी मन्दिरों म इसकी कथा होती थी इसके प्रमाण मिलते हैं। यह वेद के समान ही एक पवित्र धम-ग्रन्थ

माना जाता है। स्वय महाभारत म भी अनक प्रकार स महाभारत की महिमा का वणन किया गया है। परम्परा और महाभारत दोनों क प्रमाण क आधार पर महाभारत की महिमा का प्रतिपादन इस अध्याय म किया गया है। महाभारत के गायक सौति क शब्दों म महाभारत तीनों लोकों म महान् ज्ञान क रूप म प्रतिष्ठित है। यह सूय के समान अज्ञान क अन्धकार को दूर करने वाला है। महाभारत सम्पूण श्रुतियों का समूह है। एक स्थान पर इस सम्पूर्ण शास्त्रों और चारो वेदो से भी अधिक बताया गया है। इसम धम, अर्थ और मोक्ष का परिपूर्ण वणन है। प्राचीन कथा क रूप म इसका ऐतिहासिक महत्व है। महाभारत साहित्य क अनक ग्रन्थों का उपजीव्य बना है तथा इसका काव्य सुन्दर है। धम और संस्कृति का तो यह विश्वकोश ही है।

दूसरे अध्याय म महाभारत की आधुनिक आलोचना का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध म महाभारत क धम सम्बन्धी तत्वों का विवेचन मुख्यत मूल महाभारत क ही आधार पर किया गया है। किन्तु आधुनिक अध्ययन म ऐतिहासिक आलोचना का परिचय देना भी अपेक्षित है। इसी दृष्टिकोण से धम के विविध पक्षों क विवेचन के पूव इस एक अध्याय म महाभारत की आधुनिक आलोचना का परिचय दिया गया है। यह परिचय विन्टरनित्स आदि के संस्कृत साहित्य क इतिहासों तथा डा० सुकथनकर के प्रथम भाषण के आधार पर दिया गया है। महाभारत की ऐतिहासिक खोज का आरंभ पश्चिमी विद्वानों ने किया। इन विद्वानों म वीप लासन सोरनसन, हौप्किन्स ओल्डनबग, होल्त्समान विन्तरनित्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाभारत क भारतीय आलोचकों म प्रिन्सीपल वडानी, पंडित चिन्तामणि विनायक वद्य डा० सुकथनकर आदि के नाम स्मरणीय हैं। पश्चिमी विद्वानों के महाभारत सम्बन्धी मतों क साथ साथ उक्त भारतीय विद्वानों का परिचय भी इस अध्याय में दिया गया है। महाभारत की इस आधुनिक आलोचना का सम्बन्ध मुख्यत उसकी रचना काल उसके लेखकों, उसके संस्करणों आदि से है।

तीसरे अध्याय में महाभारत म धम के स्थान और महत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। महाभारत के वतमान रूप म धम सम्बन्धी तत्व कथा भाग से कई गुना अधिक है। विषय तत्व की दृष्टि से भी यह धार्मिक

पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें धर्म के विविध रूपों तथा इसके अतिरिक्त अर्थ और काम का भी उपदेश किया गया है। वर्ण, आश्रम आदि के विभाजन के अनुसार धर्म का यह निर्वचन महाभारत का मुख्य विषय है। महाभारत में धर्म तत्व की विपुलता और धर्म का महत्व ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषय और विवेचन को सार्थक बनाता है। महाभारत में धर्म के स्थान के विवेचन के प्रसंग में परम्परा का प्रमाण दिया गया है तथा इसके साथ साथ इस प्रसंग में महाभारत का अन्तःसाक्ष्य भी दिया गया है। स्वयं महाभारत में अनेक स्थानों पर महाभारत को एक महान् धर्मशास्त्र कहा गया है और धर्म को उसका मुख्य विषय बताया गया है। डा० सुक्थनकर भी महाभारत में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान मानते हैं तथा धार्मिक तत्वों को महाभारत का अभिन्न अंग मानते हैं। उनका मत एक प्रकरण में दिया गया है। अन्त में दो प्रकरणों में धर्म के साथ अर्थ और मोक्ष के सम्बन्ध का विवेचन महाभारत के अनुसार किया गया है।

चौथे अध्याय में धर्म के विविध रूपों का विवरण और विवेचन किया गया है। संस्कृत भाषा का धर्म शब्द अर्थ में बहुत व्यापक है। धर्म का मूल अर्थ धारण करने वाला है। महाभारत में भी धर्म को प्रजाओं का धारण करने वाला बताया गया है। यह धर्म का सामान्य लक्षण है। किन्तु इसके अनेक रूप हैं। इनमें प्राकृतिक और मानवीय धर्मों का भेद विशेष रूप से विचारणीय है। प्राकृतिक धर्म प्राकृतिक तत्वों के अनिवार्य लक्षण है। मानवीय धर्म स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर होता है। स्वतन्त्रता मानवीय धर्म का मुख्य तत्व है। यही धर्म और सम्प्रदाय को भिन्न बना देता है। पैगम्बरों द्वारा प्रचलित धर्म प्रचार आरोपण आदि के द्वारा स्वतन्त्रता का खण्डन करते हैं, अतः उनको सम्प्रदाय कहना अधिक उचित है। धर्मशास्त्रों और महाभारत का धर्म मुख्यतः स्वतन्त्र, उदार मानवीय और नैतिक गुणों का स्रोत है। उसका ईश्वर पैगम्बर आदि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

पाँचवे अध्याय में महाभारत के मिलने वाले धर्म के स्वरूप का विवरण किया गया है। धर्म शास्त्रों और महाभारत का 'धर्म' मानवीय शील तथा

इस अध्याय म महाभारत क अनुसार धम के तत्वों का वणन किया गया है। जिस सावभौम धम का निरूपण धमशास्त्रों और महाभारत में किया गया है, वह मानव जीवन क ही समग्र विकास है। इस धम क अन्तगत मनुष्य क अनेक उदार और मानवीय गुण सन्निहित हैं। महाभारत में धम के अनेक गुणों का वणन किया गया है। इन्हीं गुणों को धर्म के तत्वों की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत अध्याय में धम क नाम स इन्हीं गुणों का विवरण किया गया है। धम के य तत्व धम क उस सामान्य और सावभौम स्वरूप को साकार बनाते हैं, जिसका निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है। धम क य तत्व धम क इस सामान्य और सावभौम स्वरूप को साकार बनाते हैं जिसका निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है। धम क य तत्व धम क इस सामान्य और सावभौम स्वरूप को मानवीय शील और व्यवहार में परिणत करते हैं। धम के इन तत्वों में अहिंसा, दम, क्षमा, सत्य, तप आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सातवें अध्याय म महाभारत क अनुसार वण धम का सामान्य विवेचन किया गया है। अगले अध्यायों में चारों वर्णों क धम का पृथक पृथक विस्तृत विवरण किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में वण विभाजन के सामान्य सिद्धान्त तथा महत्व का विवेचन है। वण व्यवस्था भारतीय समाज की एक अनुपम विशेषता है। इस रूप म समाज का विभाजन अन्य किसी देश में नहीं

मिलता। वर्ण व्यवस्था का मूल सिद्धांत समाज में कर्म का विभाजन है। विद्या, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के चार मुख्य कर्मों के आधार पर चार वर्ण बने हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्ण विभाजन का संकेत मिलता है। एक ही पुरुष के अंगों की भांति चारों वर्ण समाज के विराट पुरुष के अंग हैं। अंगों की भांति वे समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि उनके धर्म भिन्न भिन्न हैं। महाभारत में कहा गया है कि पहले सभी ब्राह्मण थे। बाद में कर्म भेद से अन्य वर्ण बन गये। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण भारतीय समाज में विद्या और तप का मान है।

आठवें अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्राह्मण धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार ब्राह्मण समाज पुरुष के मुख हैं। वे मुख के समान ही प्रमुख हैं। किन्तु ब्राह्मणों की यह प्रमुखता किसी पक्षपात के कारण नहीं थी। ब्राह्मणों ने अपने पास कोई शक्ति नहीं रखी थी जिसके द्वारा वे समाज पर शासन करते। उनका प्रभाव विद्या, तप त्याग साधना आदि के कारण था। उनकी श्रेष्ठता और उनके सम्मान का कारण भी विद्या, तप आदि का भारतीय समाज में मान था। अधिकारों तथा सुविधाओं की अपेक्षा धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों के कर्तव्यों का विधान अधिक है। ये कर्तव्य त्यागमय अधिक हैं और लाभप्रद कम हैं। धर्मशास्त्रों के इसी दृष्टिकोण से धर्म और संस्कृति की रक्षा हुई है। ब्राह्मणों के जो छः कर्तव्य मनुस्मृति में बताये गये हैं वे ही छः कर्तव्य महाभारत में भी बताये गये हैं। अध्यापन और अध्ययन लेकर दान और प्रतिग्रह तक इनका क्रम विचारणीय है।

नवें अध्याय में महाभारत के अनुसार क्षत्रिय धर्म का विवेचन किया गया है। चार वर्णों में द्विज श्रेष्ठ हैं द्विजों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को श्रेष्ठ माना गया है। भारतीय समाज में विद्या तप आदि का आदर होने के कारण ब्राह्मण समाज के पूज्य बने। रक्षा का महत्व होने के कारण क्षत्रियों को राजपद का मान मिला। पुरुष सूक्त में क्षत्रियों को 'राजन्य' कहा गया है। वे विराट पुरुष की बाहु हैं। 'बाहु' बल के स्रोत और रक्षा के साधन हैं। रक्षा के बिना समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का आधार नहीं रहता। अतः रक्षा का महत्व है। इसी कारण धर्मशास्त्रों में क्षत्रियों को प्रधानता दी गई है। भारतवर्ष

के इतिहास मे क्षत्रियो ने प्रजा तथा दुबलो की रक्षा म बडा पराक्रम दिखाया है। रक्षा के अतिरिक्त यज्ञ, दान, अध्ययन आदि भी क्षत्रियो के वतव्य हैं। रक्षा के कारण युद्ध उनका प्रमुख धम है। सत्य आदि गुण भी उनके भूषण हैं।

दसव अध्याय मे राज धम का विवेचन है। राज धम का क्षत्रिय धम से अधिक सम्बन्ध है यद्यपि ब्राह्मण आदि भी राजा होते रहे हैं। पुरुष सूक्त मे क्षत्रियो के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी ब्राह्मण आदि भी राजा होते थे। अत राज धम का पृथक मानना ही उचित है। धम शास्त्रो म राज धम का विस्तार स विधान किया गया है। महाभारत तो एक प्रकार से राज धम का वेद है। उसम राज धम का विस्तृत विवरण हैं। भीष्म ने शरशय्या पर युधिष्ठिर को राज धम का विशद उपदेश दिया है। राज धम सब धर्मों मे श्रेष्ठ है। राजा के द्वारा अपना धम पालन करने पर ही अन्य जन अपना धम पालन कर सकते है। राज धम सब धर्मों का आश्रय और रक्षक है। प्रजा का रक्षण और पालन तथा दण्डनीति राजा के मुख्य धम हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ, स्वाध्याय, दान न्याय आदि भी राजा के कतव्य हैं। सदाचारी कुशल नीतिज्ञ और धर्मात्मा राजा की प्रजा सुखी रहती है। अहकार स रहित निमल बुद्धि उद्यमशीलता ईर्ष्या का त्याग मधुर भाषिता दानशीलता आदि राजा के महत्वपूण गुण हैं। राजा चारो वर्णों का रक्षक है। इनकी रक्षा के लिए उसे न्यायी नीतिप्रिय और युद्ध कुशल होना चाहिए।

ग्यारहवें अध्याय म महाभारत के अनुसार वश्य धम का वणन किया किया गया है। धम शास्त्रो की वण व्यवस्था म वश्यो को भी द्विजो के अन्तगत माना जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वश्य ये तीन द्विज हैं। इनके उपनयन आदि सस्कार होते हैं। वश्यो को धम शास्त्रो म विशेष मान तो नही दिया गया है फिर भी श्रेष्ठ मानकर ही उनकी गणना द्विजो म की गई है। वश्यो का सम्बन्ध मुख्यत आर्थिक जीवन से है। अथ साधना के लिए कुछ उद्योग अपरिमित हैं, किन्तु दूसरी ओर उसम कुछ प्रलोभन भी होता है। अथ साधक के लिए ब्राह्मणो के समान त्याग तथा क्षत्रियो के समान वलिदान का

तो विधान नहीं किया जा सकता, फिर भी वश्य धम के विधान मे उद्यम को प्रधानता दी गई है। उद्यम और लाभ के विपरीत अनुपात म कृषि गो रक्षा और वाणिज्य का वश्यो का कत य वतलाया गया है। यह क्रम उद्योग की महिमा के अनुकूल है। किन्तु अथ शक्ति के प्रताप स कालान्तर म यह क्रम विपरीत हो गया और वाणिज्य वश्यो का प्रमुख धम बन गया। महाभारत म वाणिज्य के अतिरिक्त स्वाध्याय, यग, सदाचार दान आदि को वश्यो का कत य बताया गया है।

बारहवें अध्याय मे महाभारत के अनुसार शूद्र धम का विवेचन किया गया है। शूद्रो को धम शास्त्र म निम्न स्थान दिया गया है। इस प्रकार उनके साथ नि सन्देह कुछ अयाय हुआ है। सभी शूद्र अछूत नहीं हैं किन्तु उनम कुछ अछूत भी हो गये है। शूद्रो मे अछूता की स्थिति अधिक शोचनीय और दय नीय है। धम शास्त्रो मे उच्च वर्णों की सेवा का ही शूद्रो का मुख्य कत य बताया है। शूद्रो के उपनयन आदि सस्कार नहीं होते और उनको वेदाध्ययन का अधिकार नही है। शूद्रो क साथ इस अयाय क कारण वण-व्यवस्था की प्राय आलोचना की जाती है। भारतीय सस्कृति म स्वच्छता का अत्यधिक महत्व सम्भवत शूद्रा क तिरस्कार का एक कारण बना होगा। धमशास्त्रो की भाति महाभारत मे भी सेवा को ही शूद्रो का मुख्य धम माना गया है। किन्तु दूसरी ओर शूद्रो का पालन करना स्वामी का कत य है। महाभारत म शूद्रो के लिए किसी सीमा तक यग, अध्ययन तथा अय धम कर्मों का विधान भी किया गया है। महाभारत म शूद्रो को गौरव देने वाल वचन भी मिलत हैं। एक स्थान पर कहा है कि कर्मों की पवित्रता से शूद्र भी ब्राह्मण के समान वन्दनीय बन जाता है। जो शूद्र शुभ कम करता है वह द्विजा तियो से भी श्रेष्ठ है। शुभ वृत्ति वाला शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।

तेरहवे अयाय म महाभारत के अनुसार आश्रम धम का विवचन किया गया है। अगल अध्यायो म चारो आश्रमो के कतव्यो का पृथक-पृथक और विस्तार से वणन किया गया हैं। प्रस्तुत अध्याय म आश्रम-व्यवस्था क सामान्य स्वरूप और सिद्धान्त तथा महत्व का विवचन है। आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक अपूव योजना है जो ससार के किसी देश म भी इस रूप मे

नहीं मिलती। यह योजना काल के क्रम के अनुसार जीवन में परिवर्तन और सौन्दर्य का संचार करती है। इस व्यवस्था में तप, त्याग, संयम, कर्म, भोग, वैराग्य, मुक्ति आदि का एक संतुलित सामंजस्य है जो समग्र जीवन को सफल और आनन्दमय बनाता है। जीवन की यह सुन्दर यात्रा भारतीय कल्पना की एक अद्भुत देन है। वर्ण-आश्रम-व्यवस्था की आशा अधिक सार्वभौम है। प्रस्तुत अध्याय में आश्रम-व्यवस्था के सामान्य महत्व के अतिरिक्त चारों आश्रमों के धर्मों का संक्षिप्त परिचय भी महाभारत के अनुसार दिया गया है।

चौदहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्रह्मचर्य धर्म का विवेचन किया गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम पहला ही आश्रम है। यह जीवन का निर्माण काल है। स्वास्थ्य और चरित्र का गठन तथा विद्या का उपार्जन इसके मुख्य धर्म हैं। इन्हीं पर उसकी सफलता और जीवन का आनन्द निर्भर है। ब्रह्मचर्य की सामान्य अवधि पचीस वर्ष तक मानी जाती है यद्यपि कोई भीष्म, हनुमान आदि के समान आजीवन ब्रह्मचारी भी रह सकता है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ आत्म-साधना है किन्तु इसमें इन्द्रिय संयम की अधिक अपेक्षा होने के कारण ब्रह्मचर्य का सीमित अर्थ इन्द्रिय संयम ही हो गया है। प्रस्तुत अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्रह्मचारी के लक्षण और कर्तव्यों का विवरण किया गया है। जटा, मेखला, दण्ड आदि प्राचीन काल में विद्यार्थियों के चिह्न थे। किन्तु यह उनका बाह्य रूप था। जीवन की सरलता और सात्विकता इसके मुख्य लक्ष्य थे जो सार्वभौम सत्य हैं। इन्द्रिय संयम से स्वास्थ्य और चरित्र सुदृढ़ होता है। अध्ययन और साधना का भी यही समय है। गुरु सेवा इन दोनों में उपकारक है।

पन्द्रहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार गृहस्थ धर्म का विवेचन किया गया है। गृहस्थ आश्रम चारों आश्रमों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह भिक्षादान आदि के द्वारा अन्य तीनों आश्रमों का पोषण करता है। इसीलिए मनु ने उसे ज्येष्ठ आश्रम कहा है। ब्रह्मचर्य की साधना के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सफल बनाता है। ब्रह्मचर्य त्याग और तप का जीवन है। गृहस्थाश्रम

र जीवन के उपभोग के लिए भी अवकाश मिलता है, किन्तु धर्म और आचार की मर्यादा इस उपभोग को सीमित करके कल्याणकारी बनाती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम भोग और त्याग का समन्वय है। धर्म शास्त्रों और महाभारत में गृहस्थ के कर्तव्यों और धर्म का ही अधिक वर्णन किया गया है। आतिथ्य गृहस्थ का सबसे बड़ा धर्म है। इसके अतिरिक्त पंचमहायज्ञ आदि गृहस्थ के अन्य कर्तव्य हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान दया आदि को गृहस्थों के लिए महत्वपूर्ण बताया गया है। पुत्र की उत्पत्ति और परिवार का पालन तथा अन्य सामाजिक कर्तव्यों के द्वारा गृहस्थ का जीवनपूर्ण होता है तथा वह वानप्रस्थ और सन्यास के योग्य बनता है।

सोलहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार स्त्री धर्म का विवेचन किया गया है। गृहस्थाश्रम में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। स्त्री के सहयोग से ही गृहस्थाश्रम के धर्म पूर्ण होते हैं। भारतीय संस्कृति और परम्परा में माता, पत्नी, पुत्री आदि के रूप में स्त्री को पर्याप्त आदर मिला है। महाभारत में कथानक की दृष्टि से भी स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। शान्तिपर्व में भार्या को अनुपम बन्धु बताया गया है। महाभारत में स्त्री की महिमा और स्त्री के धर्म का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। पातिव्रत और पति सेवा स्त्री का सबसे बड़ा धर्म है। परिवार का पालन और अतिथियों का सत्कार उसके मुख्य कर्तव्य हैं। पुरुषों का भी इस सम्बन्ध में बहुत दायित्व है। महाभारत और धर्म शास्त्रों में पुरुष को भी एकपत्नीव्रत रहने का आदेश किया गया है। धर्म शास्त्रों ने स्त्री को स्वतन्त्रता के योग्य नहीं माना है। मनु के प्रसिद्ध वाक्य के समान वचन महाभारत में विराट पर्व में मिलता है। धर्म शास्त्रों के इस दृष्टिकोण का कारण स्त्री की रक्षणीयता है। धर्मशास्त्रों का उद्देश्य स्त्री को स्वतन्त्रता से वंचित करना नहीं वरन् उसके शील और समाज की मर्यादा की रक्षा करना है।

सत्रहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार वानप्रस्थ धर्म का विवेचन किया गया है। वानप्रस्थ का अर्थ वन को प्रस्थान करना है। भारतीय धर्म शास्त्र गृहस्थ जीवन के प्रपंचों में ही सम्पूर्ण जीवन को बिताना उचित नहीं समझता। वानप्रस्थ में मनुष्य घर को छोड़कर वन में सरल और सात्विक

जीवन व्यतीत करता है। वह सामाजिक जीवन से कृतकृत्य होकर शेष धार्मिक और सास्कृतिक कर्तव्यो को पूर्ण करता है। उत्तरोत्तर विकासशील जीवन की यह भारतीय योजना अनुपम है। स्त्रियो के लिए वानप्रस्थ का विकल्प है, वे चाहे तो घर म पुत्रो के साथ भी रह सकती हैं। वानप्रस्थी का जीवन त्याग सयम और ब्रह्मचय का जीवन होता है। गृहस्थो के पास वन वान प्रस्थी के लिए भी बताये है। वानप्रस्थ भिक्षा के द्वारा निर्वाह करता है। भिक्षा के सम्बन्ध मे भी कुछ नियम हैं। वन्य अन्न, कन्दमूल फल आदि उप लब्ध न होन पर ही उन्हे सायकाल मे भिक्षा करनी चाहिए। उन्ह भी भोजन का सग्रह नही करना चाहिए। तप याग साधना, अध्ययन अध्यापन आदि उनके मुख्य व्रत म हैं। अहिंसा दया, शम, मौन आदि उनके गुण हैं।

अठारहवे अध्याय म महाभारत के अनुसार सन्यास धम का विवेचन किया गया है। सन्यास जीवन का अन्तिम आश्रम है। उसम आश्रम व्यवस्था पूर्ण होती है। वानप्रस्थ आश्रम म वन मे निवास करके तथा जीवन की शेष साधना पूर्ण करके मनुष्य को सन्यास ग्रहण करना चाहिए। सन्यास कृतकृत्यता की अवस्था है। सन्यासी का जीवन पूर्णत मुक्त और स्वच्छन्द होता है। वह वानप्रस्थ की भाति एक स्थान पर नही रहता वरन् ससार म स्वच्छन्द विचरण करता है इसीलिए सन्यासी कोप रिक्तक कहते हैं। वह भिक्षा क द्वारा अपना निर्वाह करता है। उसके कोई कतव्य शेष नही रहत है। सन्यास म वानप्रस्थ के समान स्त्री साथ नही रह सकती। जटा कमण्डल, दण्ड आदि सन्यासी क बाह्य लक्षण है, किन्तु इनका अधिक महत्व नही है। एकान्त आत्म-साधना ही सन्यासी का एकमात्र कतव्य है। त्याग, सतोष, दम आदि सन्यासी क धम हैं। ये उसकी मुक्ति के साधक हैं। वस्तुत सहज आत्मनिष्ठा सन्यास की पूर्णता है। पूर्णता कठिन होन के कारण सन्यासियो क लिए भी नियम बनाये हैं तथा उनके भी भेद किये गये हैं।

उन्नीसवें अध्याय म महाभारत क अनुसार दिव्य धम का विवेचन किया गया है। पिछले अठारह अध्यायो म महाभारत क अनुसार धम क सामाजिक और मानवीय रूप का विस्तारपूवक विवेचन किया गया है। किन्तु महाभारत म धम क दिव्य अथवा ईश्वरीय रूप का महत्व भी बहुत है।

मामाजिक और मानवीय धम से भेद करने के लिए हमने धम के उस रूप को दिव्य कहा है, जिसका सम्बध ईश्वर से होता है, धम शास्त्र और महाभारत म सामाजिक और मानवीय धर्मों का ही विवरण अधिक है। धम शास्त्रो म ईश्वर की चचा भी कम है, किंतु महाभारत मे श्रीकृष्ण को ईश्वर क रूप मे ही माना गया है। ईश्वर के अवतारो और देवताओ की चचा महाभारत म मिलती है। दवताओ से सम्बध रखने वाल तीथ, व्रत आदि का वणन भी महाभारत मे मिलता है। यही धम का दिव्य रूप है, जिसका विवेचन इस अतिम अध्याय म किया गया है। धम का यह दिव्य रूप सामाजिक और मानवीय धम को एक अलौकिक आधार प्रदान करता है। सिद्धात की दृष्टि से यह दिव्य धम भी सामाजिक और मानवीय धम की उदार भावना से युक्त है।

बीसवें अध्याय म प्रस्तुत अध्ययन और विवचन का उपसहार किया गया है। पिछले उन्नीस अध्यायो म जिन तथ्यो, विषयो और सिद्धातो का विस्तारपूवक विवेचन किया गया है, उनके मुख्य निष्कर्षो का सिंहावलोकन इस उपसहार म निम्नलिखित प्रकरणो क अतगत किया गया है—

१—अध्ययन क निष्कष।

२—महाभारत एक अनुपम ग्रथ है।

३—महाभारत की एतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन है।

४—महाभारत का वतमान रूप ही मा य है।

५—धम ही महाभारत का मम है।

६—धम का मम मानवीयता है।

७—मानवीयता के मुख्य तत्व समानता और स्वतत्रता है।

८—धम का आधार आध्यात्मिक है।

९—धम और रिलाजन म अन्तर है।

१०—धम और सम्प्रदाय म विरोध आवश्यक नही है।

११—धमशास्त्रो और महाभारत का धम मुख्यत मानवीय और सामाजिक है।

१२—महाभारत के अनुसार अविरोध इस धर्म की कसौटी है।

१३—धर्म की आध्यात्मिकता और मानवीयता उदार नैतिक गुणों में व्यक्त होती है।

१४—वर्ण और आश्रम धर्म के विधान के भारतीय अवलम्ब हैं।

१५—वर्णों की व्यवस्था में कुछ सामाजिक विषमता अवश्य उत्पन्न हुई, किन्तु उसका मूल उद्देश्य विषमता नहीं वरन् समाज का सामंजस्य तथा कर्त्तव्य विभाजन है।

१६—द्विजों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता सामाजिक परिस्थिति के परिणाम हैं।

१७—ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण प्राचीन समाज में विद्या, धर्म आदि के महत्व तथा तप, त्याग, पवित्रता सरलता आदि का आदर था।

१८—क्षत्रियों की श्रेष्ठता का कारण रक्षा का महत्व।

१९—प्रजापालन और प्रजा की रक्षा राजा के मुख्य धर्म हैं।

२०—वैश्यों के आर्थिक व्यवसाय में भी दान आदि के द्वारा श्रेय का सामंजस्य किया गया है।

२१—शूद्रों के साथ वर्ण-व्यवस्था में निश्चित रूप से अन्याय हुआ है और उसका संशोधन आवश्यक है।

२२—आश्रम व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर योजना है।

२३—ब्रह्मचर्य सफल और पूर्ण जीवन की सुदृढ़ नींव है।

२४—गृहस्थाश्रम सब धर्मों का पोषक है तथा जीवन की प्राकृतिक सामाजिक और सांस्कृतिक सफलता के द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

२५—स्त्री की रक्षा और स्त्री का आदर समाज का गौरव है सेवा और पातिव्रत गृहस्थ जीवन को सुखी और शान्तिपूर्ण बनाते हैं।

२६—वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम-व्यवस्था को तथा जीवन को पूर्ण बनाते हैं।

२७—मानवीय और सामाजिक धर्म से दिव्य धर्म का आवश्यक विरोध नहीं है।

२८ देवताओं तीर्थों और व्रतों की त्रिवेणी धर्म के रूप को पूर्ण बनाती है।

२६—महाभारत भारतीयों के लिए सदा पठनीय है।

३०—महाभारत का साहित्यिक स्रोत काव्य के अनेक भगीरथों का आमन्त्रण करता है।

३१—महाभारत हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक आस्था का सुदृढ़ अवलम्ब बन सकता है।

८—आभार—

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की रचना राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० फतह सिंह के निर्देशन में हुई है। उनकी प्रेरणा और उनके अनुग्रह से ही यह कठिन कार्य पूर्ण हो सका है। विषय के अध्ययन, सामग्री संकलन आदि के सम्बन्ध में वे अपने अमूल्य परामर्श देते रहे हैं। ग्रन्थ के संशोधन में उन्होंने जो कष्ट उठाया है, वह उनकी उदारता का सूचक है। जिन विद्वानों के ग्रन्थों का इस शोध प्रबन्ध में उपयोग किया गया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी मेरा धार्मिक कर्तव्य है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रणयन तथा इसके आधार पर शिक्षा की एक उच्चतर उपाधि की प्राप्ति मेरी चिरकालीन कामना की पूर्ति है। एक मध्यवर्गीय पुराणपंथी परिवार में जन्म लेने के कारण मैं शिक्षा के आरम्भिक स्तरों से आगे नहीं बढ़ सकी। फिर भी उच्च शिक्षा की एक निभृत आकांक्षा मेरे मन में पलती रही और मैं विवाह-सूत्र के अवलम्ब से इस आकांक्षा की पूर्ति के सपने सँजोती रही। परम्परा के बन्धनों के कारण मेरे माता पिता मेरी शिक्षा का उपक्रम तो नहीं कर सके, किन्तु मेरी शिक्षा सम्बन्धी आकांक्षाओं के प्रति उनकी सदा सहानुभूति रही। यह उनकी सहानुभूति का ही फल है कि मुझे एक ऐसा दाम्पत्य सम्बन्ध प्राप्त हो सका, जिसमें मुझे गार्हस्थ्य के धर्मों के पुण्य लाभ के साथ साथ शिक्षा की दिशा में भी अग्रसर होने का अवसर मिला। माता पिता की प्रेरणा और पति के सहयोग से मैं विवाह के बाद गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों में भी घर में ही रह कर अपनी उच्च शिक्षा

सम्पन्न कर सकी, यह मेरे सौभाग्य का एक उज्ज्वल पक्ष है।' साहित्यकारों का गृहस्थ जीवन प्राय: विडम्बना बन जाता है। मेरे पति साहित्यकार और दार्शनिक दोनों ही हैं। अत: मेरे लिए इस विडम्बना की आशंका दूनी हो सकती थी। किन्तु मेरे पति इस विडम्बना के विरोधी तथा जीवन के प्रमुख पक्षों के समन्वय के समर्थक हैं। इस नाते वे साहित्यकारों और दार्शनिकों में एक अपवाद माने जा सकते हैं। अपनी साहित्यिक और दार्शनिक साधना में लीन रहते हुये भी, परिवार की ही नहीं वरन् अन्य अनेक परिचितों की उन्नति में उनकी गहरी रुचि रही है। सामाजिक उन्नति एक प्रकार से उनका धर्म बन गई है। बाईस वर्ष के अध्यापन काल में अनेक छात्रों को उनके इस धर्म का प्रसाद मिला है। परिवार के जनों को भी इस प्रसाद का अंश मिलना स्वाभाविक था। इसी प्रसाद के पुण्य से मैं विवाह के बाद गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों में भी घर में रह कर ही अपनी उच्च शिक्षा को सम्पन्न कर सकी। अपने इस सौभाग्य से मुझे प्रसन्नता मिली है और इस पर मुझे गर्व भी है। मेरे साथ साथ बच्चों को भी अपने पिता के उन्नति धर्म का प्रसाद मिला है। उनकी प्रेरणा से ही वे अपनी आरम्भिक शिक्षा घर में ही पूरी करके तथा आरम्भिक विद्यालय के विविध लाभों से वंचित रह कर भी विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में उत्तम पद प्राप्त कर रहे हैं। उनकी विद्या और प्रतिभा पिता की प्रेरणा का ही प्रसाद है।

डा० फतहसिंह के अनुसार मेरी यह उच्चशिक्षा स्वान्त: सुखाय ही कही जा सकती है। जीवन के सामंजस्य के सम्बन्ध में मेरे पति की धारणा में आर्थिक वैभव का अधिक महत्व नहीं है। वेदान्त के व्यावहारिक रूप के आराधक होने के नाते वे अन्न से लेकर आत्मा तक जीवन की सभी भूमिकाओं के समुचित सामंजस्य के पक्षपाती हैं। उनके इसी अनुरोध के कारण मैं अपनी उच्च शिक्षा को अर्थकरी बनाने का साहस न कर सकी। अध्यापिका बनने पर गृहस्थ जीवन का सन्तुलन भंग हो सकता है ऐसी सम्भावना मुझे स्वयं भी सशंकित करती रही। बाल्यकाल के संस्कारों के प्रभाव में गृहस्थ जीवन के धर्मों में मेरी गहरी श्रद्धा है। अत: अपनी उच्च शिक्षा को स्वान्त: सुखाय मानकर भी मैं सन्तुष्ट हूँ। गार्हस्थ्य के धर्म को अक्षुण्ण रखकर ही मैंने अपनी शिक्षा पूर्ण की है। मैं उच्चशिक्षा की अपनी मौलिक

आकांक्षा को पूर्ण देखकर अपने सौभाग्य पर प्रसन्न हूं किन्तु जिस गार्हस्थ्य में मेरी गहन श्रद्धा रही है उसके सौन्दर्य और सन्तुलन में विक्षोभ की सम्भावना का खतरा मोल लेने का मैं साहस नहीं ले सकती। इसीलिए मैं शिक्षा व ज्ञान लाभ करके ही सन्तुष्ट हू तथा अपने पति और अपने बच्चों की विद्या साधना में यथाशक्ति सहयोग देकर प्रसन्न हू। अर्थ का अधिक लाभ न पाकर भी धर्म के अधिक लाभ का ही मैं अपने जीवन की कृतार्थता मानती हूँ। अपने पति के व्यावहारिक वेदान्त की प्रेरणा से धर्म में अध्यात्म का समन्वय भी हमे अपने पारिवारिक जीवन में ही प्राप्त हुआ है। नारी के जीवन की इससे अधिक उपलब्धि और क्या हो सकती है।

बाल्य के संस्कार अपनी आस्था और पति की प्रेरणा से धर्म में ही मेरी अधिक निष्ठा रही है। अतः अपनी निष्ठा के अनुकूल विषय को मैंने अनुसंधान के लिए चुना। इस अनुसंधान के प्रसंग में धर्मशास्त्र और महाभारत के अध्ययन से धर्म के प्रति मेरी निष्ठा और दृढ़ हुई है। महाभारत के अध्ययन के कारण कोई महाभारत तो घर में नहीं हुआ फिर भी इस कार्य में जिन दिनों मैं अधिक व्यस्त रही उन दिनों मैं अवश्य ही परिवार की सेवा को उतना समय और ध्यान न दे सकी जितना कि मैं चाहती रही। अल्प वयस्क बालकों को उन दिनों मेरा इतना वात्सल्य नहीं मिल सका, जितना कि अपेक्षित था। यह मेरा अपराध नहीं था, किन्तु यह मेरी विवशता थी। अनुसंधान कार्य को पूर्ण करने के बाद मैं इस त्रुटि का संशोधन करने का निरन्तर प्रयत्न करती रही हू। मुझे सन्तोष है कि मैंने पिछले पाँच वर्षों में परिवार की सेवा तथा पति की साहित्य साधना और बालकों की शिक्षा में अधिकतम सहयोग देकर जीवन के सामंजस्य का वह खोया हुआ सूत्र पुनः पा लिया है जो मेरे पति की सैद्धान्तिक निष्ठा रहा है और जो अब मेरी भी सहज श्रद्धा का आस्पद बन गया है।

भरतपुर
२० जनवरी १६७०

शकुन्तला रानी तिवारी

अध्याय-सूची

—

विषय-सूची

प्रस्तावना

अध्याय— १

महाभारत की महिमा

अध्याय— २

महाभारत की आधुनिक आलोचना

अध्याय— ३

महाभारत मे धम

अध्याय— ४

धर्म के रूप

अध्याय— ५

महाभारत मे धर्म का स्वरूप

अध्याय-६

महाभारत मे धर्म के तत्व

अध्याय-७

महाभारत मे वर्ण-धर्म

अध्याय–८

महाभारत मे ब्राह्मण धर्म

प्रकरण पृष्ठ

अध्याय–९

महाभारत मे क्षत्रिय-धर्म

अध्याय–१०

महाभारत मे राजधर्म

अध्याय–११

महाभारत मे वैश्य-धर्म

अध्याय–१२

महाभारत मे शूद्र-धम

प्रकरण पृष्ठ

अध्याय—१३

महाभारत में आश्रम धर्म

अध्याय—१४

महाभारत में ब्रह्मचर्य-आश्रम-धर्म

अध्याय—१५

महाभारत में गृहस्थ-धर्म

अध्याय-१६

महाभारत मे स्त्री-धर्म

अध्याय-१७

महाभारत मे वानप्रस्थ-धर्म

अध्याय-१८

महाभारत में सन्यास-धर्म

धर्म आदि के रूप में धर्म की शिक्षा भी महाभारत में विस्तार से मिलती है। अतः गौरवमय इतिहास होने के साथ-साथ महाभारत एक महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्र भी बन गया है। इसके विशाल आकार में धर्म के लगभग सभी पक्ष समाहित हो गये हैं। इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र के त्रिविध रूप में उसका महत्व और मान तिगुना हो गया है।

महाभारत की सबसे पहली विशेषता उसका विशाल आकार है। वर्तमान रूप में महाभारत लगभग एक लाख श्लोकों का विशाल ग्रन्थ है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों में एक लाख श्लोकों के महाभारत का गौरवपूर्ण उल्लेख मिलता है।[1] इससे विदित होता है कि लगभग दो हजार वर्ष से एक लाख श्लोकों का महाभारत भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। मैकडोनल का मत है कि इस रूप में महाभारत ग्रीक के 'इलियड' और 'ओडेसी' दोनों काव्यों को मिलाकर आकार में उनके आठ गुने के बराबर है और इस प्रकार वह संसार का सबसे बड़ा काव्य है।[2] संसार के साहित्य के इतिहास में कोई भी ऐसा काव्य नहीं है जो आकार की विशालता में इसके निकट भी पहुँच सके। इसके विशाल आकार की तुलना में लैटिन कवि वर्जिल का एनीड नामक महाकाव्य जो लगभग १०,००० पंक्तियों का है एक छोटी कविता के समान जान पड़ता है।[3] महाभारत की इसी विशालता के कारण व्यासजी के लिए उसके लेखन की समस्या उपस्थित हुई थी जिसका उल्लेख महाभारत के आरम्भ में ही मिलता है।[4] गणेश जैसे लेखक के होते हुए भी व्यास जी ने तीन वर्ष में महाभारत की रचना पूर्ण की थी।[5] विदेशी इतिहासकार सम्पूर्ण महाभारत को एक लेखक की कृति नहीं मानते।[6] उनका मत है कि जय, भारत और महाभारत के तीन संस्करणों में इसका क्रम से विकास हुआ

१—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २८६।
२—वही „ „ पृष्ठ २८४।
३—चर्निंग आरनोल्ड : महाभारत —प्रिफेस—पृष्ठ ८।
४—महाभारत—आदि पर्व—अध्याय १ श्लोक ७०।
५— „ —स्वर्गारोहण पर्व—अध्याय ५ श्लोक ४८
६—वि. तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १, पृष्ठ ३२६,४६२

है।[७] किन्तु ईसा के पाँचसौ वर्ष पूर्व आश्वालायन गृह्यसूत्र में महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। स्वयं महाभारत के अनुसार आकार की विशालता के कारण इसे महाभारत कहा जाता है।[८] यदि सम्पूर्ण महाभारत एक व्यक्ति की रचना न हो, तो भी इतना विशाल ग्रन्थ भारतीय प्रतिभा का एक अद्भुत चमत्कार है। महाभारत के अतिरिक्त वेद पुराण आदि अनेक विशाल ग्रन्थ भारतीय प्रतिभा से उत्पन्न हुए हैं। महाभारत भारतीय प्रतिभा के नन्दन वन का कल्पवृक्ष है।

कल्पवृक्ष के समान ही महाभारत में मनुष्य के सभी वाञ्छित विषय मिलते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत के विकास के सम्बन्ध में उसके विषय की व्यापकता का निर्देश किया है। मैक्डौनल और विन्तरनित्स का मत है कि भरतवंशी वीरों की मूलकथा की विस्तृत परिधि में अनेक आख्यान तथा धर्म-कर्म के उपदेश समाहित हो गये हैं।[९] स्वयं महाभारत के आदि पर्व में वेदव्यास ने ब्रह्माजी से महाभारत के विषयों के विस्तार का वर्णन किया है। उनके अनुसार वेद और उपनिषदों का रहस्य, इतिहास पुराणों के वर्णन, चातुर्वर्ण्य और आश्रमों के धर्मों का विवरण न्याय शिक्षा चिकित्सा आदि अनेक विषयों का वर्णन महाभारत में है।[१०] पश्चिमी विद्वानों के अनुसार ये अनेक विषय अनेक लेखकों द्वारा महाभारत में सन्निविष्ट किये गये हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी उपदेश और उपाख्यान पुरोहितों और ब्राह्मणों के द्वारा मूल कथा में जोड़े गये हैं।[११] वस्तुतः महाभारत की मूल कथा ही इतनी विशाल है कि उसकी विविध घटनाओं के प्रसंग में जीवन के अनेक पक्ष अनायास खुल जाते हैं। इन प्रसंगों के बीच में मिलने वाले उपाख्यान विषय के विस्तार को और बढ़ा देते है। इस प्रकार महाभारत भारतीय संस्कृति का एक विशाल विश्वकोष बन जाता है। महाभारत की

७—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–भाग १ पृ० ४६५।
८—महाभारत–आदि पर्व–अध्याय–१, श्लोक ३००।
९—मक्डौनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८५।
विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १, पृष्ठ ३२१
१०—महाभारत—आदि पर्व अध्याय १, श्लो० ६१ से ७० तक।
११—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–भाग १ पृष्ठ ३१९।

विशालता के सम्बन्ध म यह प्रसिद्ध है कि जो महाभारत म नहीं है वह अयत्र कहीं नहीं है।[१२] स्वय महाभारत म ही उसकी व्यापकता का निर्देश किया गया है कि जो यहाँ है वही अयत्र मिलेगा जो यहाँ नहीं है वह अयत्र कहीं नहीं मिलेगा।[१३]

महाभारत के विषयो की यह व्यापकता उसके आकार की विशालता को सार्थक बनाती है। भारतीय जनता के लिए जो भी ज्ञान, शिक्षा आदि अपेक्षित है वह सब महाभारत म मिल जाती है। महाभारत की विशाल कथा की घटनायें और अय उपाख्यान भी अनेक शिक्षाओ के स्रोत हैं। विद्वानो के लिए जो वेद का स्थान है वही साधारण जनो के लिए महाभारत का महत्त्व है।[१४] वेद विद्वानो के लिए ज्ञान का भाण्डार है, उसी प्रकार महाभारत साधारण जनता के लिए ज्ञान का भाण्डार है। महाभारत के इस महासागर मे कथा शिक्षा धम आदि की नदियाँ मिल गई हैं। इसी एक ग्रथ म साधारण जनो को सब कुछ मिल जाता है इसीलिए महाभारत जनता मे बहुत लोकप्रिय रहा है। वीर काव्य होने के कारण यह जनता को प्रेरणा देता है। अर्वाचीन युग म जो स्थान आल्ह खण्ड का है वही स्थान प्राचीन परम्परा म महाभारत का है। आल्ह खण्ड एक प्रकार से हिन्दी का अर्वाचीन महाभारत है। महाभारत की घटनाओ की नाटकीयता तथा गम्भीर यथार्थता और सवाद की शैली उसे अधिक रुचिकर बना देती है। धम, शिक्षा आदि की दृष्टि से विषयो की उपयोगिता इस रुचि का पोषण करता है। इसी लोकप्रियता के कारण प्राचीन काल से ही महाभारत की कथा जन समूहो म गाई जाती रही है।[१५] स्वय महाभारत की रचना ही इसी गायन के रूप मे हुई है। शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र म महाभारत के गायन मे इस परम्परा का प्रमाण मिलता है। महाभारत के विषयो की व्यापकता और जनता मे उसके आदर एव उपयोग के कारण उसे पचम वेद मानना नितान्त उचित है।[१६]

१२—यन्नभारते तन्नभारते।

१३—महाभारत—आदि पव अध्याय ६२-श्लोक २६।

१४—कृष्ण चैतन्य ए यूहिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर-पृ० ३२१।

१५—मकडोनल ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर-पृष्ठ २६०।

१६—वरदाचारी ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर-पृष्ठ ४६।

स्वय व्यास ने महाभारत के विषयो मे वेद रहस्य का प्रथम उल्लेख किया है।[१७] धर्मोपदेश, विषयो की व्यापकता, जीवन के मान आदि की दृष्टि से महाभारत वेद के समान है। प्राचीनता, पवित्रता और लोकप्रियता उसे जनता का वेद बना देती हैं।

महाभारत अपने आकार की विशालता के कारण ही ससार का महान ग्रन्थ नही है और न वह केवल अपने विषयो की व्यापकता के कारण भारतीय जनता का वेद बन गया है वरन् वह मनुष्य-जीवन के गम्भीर तत्वो से परिपूर्ण होने के कारण भारतीय साहित्य की एक गौरवपूर्ण निधि बन गया है। आकार मे महाभारत इलियड आदि यूरोपीय महाकाव्यो से बहुत अधिक बडा है। सर हाल्म इलियट ने उसे इलियड की तुलना मे तत्व की दृष्टि से भी महान माना है।[१८] प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्रदत्त ने, जिन्होने महाभारत का अंग्रेजी मे सक्षिप्त पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है महाभारत को दुनिया की प्रतिभा का सबसे महान् ग्रन्थ माना है।[१९] महाभारत के महान विद्वान् डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ है जिसे भारतीय परम्परा ने अपार श्रम के द्वारा लगभग २००० वर्षो से सुरक्षित रक्खा है।[२०] पश्चिमी विद्वानो ने महाभारत के प्रबन्ध और इतिहास के सम्बन्ध मे कुछ आलोचनात्मक खोज की है जिसमे उन्होने महाभारत के सम्बन्ध मे अनेक अनर्गल कल्पनाये प्रस्तुत की हैं। डा० सुकथनकर ने अपने गम्भीर ग्रन्थ[२१] मे पश्चिमी विद्वानो की ऐतिहासिक खोजो की कडी आलोचना की है तथा उनके विचारो को काल्पनिक बताया है।[२२] ऐतिहासिक अध्ययन का महत्व मानते हुए भी डा० सुकथनकर महाभारत के

१७—महाभारत आदि पर्व—अध्याय १, श्लोक ६२

१८—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ५६।

१९—वही " " पृष्ठ ४।

२०—वही " " पृष्ठ ६८।

२१—मीनिंग आव दी महाभारत।

२२—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ६७

महत्त्व को सार्वभौम और सार्वकालिक मानते हैं।[23] उनके अनुसार महाभारत एक अक्षय और अमर काव्य है। वह साहित्य की उस विशिष्ट श्रेणी में प्रमुख एक महान काव्य है जिसमें कोई भी मानवीय प्रयास उसके साथ स्पर्धा नहीं कर सकता।[24] डा० सुकथनकर के मत में ऐतिहासिक खोज महाभारत के आन्तरिक सत्य एवं महत्त्व को भूल कर उसके बाहरी रूप में भटकती रही है।[25] डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय परम्परा के सर्वोत्तम आदर्शों का रत्नाकर है।[26] उनके मत में ऐतिहासिक गवेषणाओं की मरीचिकाओं को छोड़कर स्वयं महाभारत के युगों से सुरक्षित और युगों से प्रसिद्ध रूप के आधार पर महाभारत के सत्य और महत्त्व का अनुसंधान करना अधिक उचित है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में डा० सुकथनकर के इसी निर्देश के अनुसार महाभारत के मूल पाठ के आधार पर महाभारत में प्राप्त धर्म-सम्बन्धी तत्त्वों का विवरण प्रस्तुत किया है।

२–महाभारत की श्रेष्ठता और उसका माहात्म्य—

महाभारत की विशालता व्यापकता और ज्ञानपूर्णता के कारण उसकी महिमा भारतीय समाज में चिरकाल से प्रतिष्ठित है। विद्वानों और साधारण जनों में महाभारत अखिल ज्ञान का भण्डार माना जाता है। महाभारत का गायन और श्रवण महान् पुण्य का कारण समझा जाता है। इसीलिए प्राचीनकाल से महाभारत की कथा की परम्परा चली आती है।

महाभारत की इस महिमा के अनेक प्रमाण स्वयं महाभारत में ही मिलते हैं। महाभारत के आरम्भ में ऋषियों ने महाभारत को आख्यानों में सर्वश्रेष्ठ तथा वेदार्थ से भूषित और पवित्र बताया है।[27] शौनक मुनि के यज्ञ में महाभारत का गायन करने वाले सौति ने महाभारत की सब प्रकार

२३—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत पृष्ठ ६०
२४—वही " " पृष्ठ ३२
२५—वही " " पृष्ठ १८, १२४
२६—वही " " पृष्ठ ३०
२७—महाभारत आदिपर्व अध्याय १—श्लो० १८

के उत्तम ज्ञान से पूर्ण श्रेष्ठ इतिहास बताया है।[२८] महाभारत के आरम्भ में सौति ने कहा है कि यह महाभारत तीनों लोकों में एक महान् ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है।[२९] उन्हीं के शब्दों में महाभारत सूर्य चन्द्रमा और दीपक के समान प्रकाशमान है। अज्ञान के तिमिर से अन्धे लोगों के लिए यह ज्ञानांजन की शलाका के समान आँख खोलने वाला है।[३०] यह महाभारत सूर्य के समान अन्धकार को नष्ट करने वाला है।[३१] यह महाभारत पूर्ण चन्द्रमा के समान है जिसमें श्रुतियों की चाँदनी छिटकती है और मनुष्यों की बुद्धि रूपी कुमुदनी विकसित हो जाती है।[३२] यह महाभारत एक जलते हुए दीपक के समान है यह मोह का अन्धकार मिटाकर लोगों के अन्तःकरण को भली भाँति ज्ञानालोक से प्रकाशित करता है।[३३]

महाभारत की इस महिमा का रहस्य उसकी शैली और उसके विषय में निहित है। शैली की दृष्टि से महाभारत एक सुन्दर काव्य है। महाभारत के आरम्भ में सौति ने इस काव्य की संज्ञा दी है।[३४] आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में काव्यों में इसकी गणना की है।[३५] पश्चिमी इतिहासकारों ने भी यह स्वीकार किया है कि महाभारत के महासागर में अनेक सुन्दर काव्य रत्न मिलते हैं।[३६] महाभारत में इस काव्य को सुन्दर और मंगलमय शब्दों से अलङ्कृत तथा विविध प्रकार के छन्दों से युक्त बताया है। इसकी उपमा एक वृक्ष से दी गई है। वृक्ष के रूपक का निर्वाह बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है और महाभारत की विभिन्न घटनाओं को इसका बीज मूल स्कन्ध

२८—महाभारत-आदिपर्व-अध्याय २ श्लो० ३६,४०
२९—वही आदिपर्व अध्याय १-श्लो० २७
३०—महाभारत " अध्याय १–८४
३१— " " अध्याय १–८५
३२— " " " १–८६
३३— " " " १–८७
३४— " " " १–७२
३५—आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक
३६—विन्तरनित्स ए हिस्टी आव इण्डियन लिटरेचर भाग १—पृ० ३२६

नाशा आदि बताया गया है।[३७]वरदाचारी न महाभारत की भाषा को सरल गम्भीर और प्रभावशाली बताया है।[३८] सवाद शली और उपाख्याना म महाभारत क काव्य को सजीव, ययाथ और प्रभावपूण बना दिया है। कुछ कूट श्लोका ने जिनकी सख्या आठ हजार आठ बताई जाती है इस सरल और गम्भीर काव्य को चमत्कारपूण बना दिया है। इन कूट श्लोका क प्रसग का वणन महाभारत के आरम्भ म मिलता है।[३९] इनके सम्ब ध म व्यासजी ने स्वय यह कहा है कि इनका अर्थ या तो मैं समझता हूँ या शुकदव समझते हैं।[४०] सौति के अनुसार इन कूट श्लोका का रहस्य भेदन करना कठिन है। स्वय गणेशजी भी महाभारत को लिखते समय इन कूट श्लोका का अथ समझने के लिए क्षण भर ठहर जाते थे।[४१]

विषय की दृष्टि से महाभारत बहुत व्यापक है। महाभारत की विशाल कथा और उसके उपाख्याना के प्रसग म वेदो और शास्त्रो की बहुत कुछ शिक्षा महाभारत म आ गई है। इसीलिए महाभारत का वेदो क ज्ञान से परिपूण[४२] तथा वदा के समान पवित्र कहा गया है।[४३] नमिषारण्य के ऋषियो न महाभारत की सहिता को चारो वेदो से सयुक्त और पवित्र बताया है।[४४] वशम्पायन के शब्दो म यह सम्पूण श्रुतियो का समूह है।[४५] वशम्पायन न इसे काष्ण वद अर्थात् कृष्ण द्वपायन द्वारा रचित वेद कहा है[४६]और इसे वेदो के समान पवित्र तथा श्रवणयोग्य ग्र था म सवश्रेष्ठ बताया

३७—महाभारत-आदिपव-अध्याय १-श्लोक ८८ से ९३ तक
३८—वरदाचारी—ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर—पृ० ४६
३९—महाभारत आदिपव—अध्याय १–८०
४०— " " " १–८१
४१— " " " १–८२,८३
४२— " " " १–६२
४३— " आदिपव—अध्याय ६२–४६
४४— " " " १–२१
४५— " आदिपव—अध्याय ६२–३५
४६— " " " ६२–१८

है।[४७] इसमें सम्पूर्ण धर्म और अर्थ का उपदेश है।[४८] यह एक पवित्र धर्मशास्त्र, एक उत्तम अर्थशास्त्र और एक श्रेष्ठ मोक्ष शास्त्र है।[४९] धर्म, अर्थ और मोक्ष का परिपूर्ण विवरण होने के कारण महाभारत सम्पूर्ण वेद और शास्त्रों के बराबर है। स्वयं व्यासजी के शब्दों में एक ओर अठारह पुराण सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और चारों वेद हैं तथा दूसरी ओर अकेला महाभारत है, यह अकेला ही उन सबके बराबर है।[५०] धर्म के साथ महाभारत में अध्यात्म का भी वर्णन है।[५१] ऐसे उत्तम विषयों से युक्त महाभारत पवित्र और गौरववर्धन है।[५२] सौति के शब्दों में जिस प्रकार दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में उपनिषद्, औषधियों में अमृत, सरोवरों में समुद्र और चतुष्पदों में गाय सबसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार इतिहासों में महाभारत सबसे श्रेष्ठ है।[५३] महाभारत की इसी महिमा के कारण यह कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है[५४] अर्थात् महाभारत सम्पूर्ण ज्ञान का निधान है। उसको पंचमवेद का पद उचित ही दिया गया है।

महाभारत वेदों के समान महत्त्वपूर्ण और पवित्र ग्रन्थ है। उसके श्रवण और गायन से अनेक प्रकार के पाप नष्ट होते हैं तथा उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। महाभारत में उसके श्रवण और गायन के फल की महिमा अनेक स्थानों पर बताई गई है। महाभारत के आरम्भ में सौति ने कहा है कि महाभारत का अध्ययन पुण्यकारक है। श्रद्धापूर्वक इसका अध्ययन करने वालों के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।[५५] महाभारत में कुरुओं का प्रथित चरित्र और

४७—महाभारत-आदिपर्व-अध्याय ६२–१६
४८— ’ ” ६२–१७
४९— ’ ६२–२३
५०—महाभारत-स्वर्गारोहणपर्व—अध्याय ५–४०
५१—महाभारत—आदिपर्व—अध्याय १–२५९
५२— ’ आदिपर्व—अध्याय ६२–४९
५३— ’ आदिपर्व—अध्याय १–२६५, २६६
५४— ’ आदिपर्व—अध्याय १–२७
५५—महाभारत—आदिपर्व—अध्याय ६२–५३

श्री कृष्ण का पवित्र चरित्र वर्णित है।[५७] धर्मबुद्धि वालों को इसका श्रवण करना चाहिए।[५८] जो धर्मपरायण पुरुष श्रद्धा के सहित प्रतिदिन इसके प्रथम अध्याय का भी पाठ करता है वह पाप से मुक्त हो जाता है।[५९] जो इस प्रथम अध्याय का श्रवण करता है वह संकटकाल में भी दुःख से अभिभूत नहीं होता।[६०] पाप नाश के अतिरिक्त महाभारत के अध्ययन और श्रवण से अन्य फलों की प्राप्ति होती है। महाभारत पाण्डवों की विजय का काव्य है इसीलिए उसका नाम जय काव्य है। विजय की कामना करने वाले राजाओं को इसका श्रवण करना चाहिए।[६१] महाभारत का श्रवण करने वाला श्रद्धाशील मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है।[६२] धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य को सम्पूर्ण महाभारत का श्रवण करना चाहिये ऐसा करने से उसे सिद्धि की प्राप्ति होती है।[६३] महाभारत का श्रवण करने वाला राजा पृथिवी पर विजय प्राप्त करता है और शत्रुओं को पराजित करता है।[६४] युवराज और युवरानी को यह बार बार सुनना चाहिए इससे वीर-पुत्र अथवा राज्यभागिनी कन्या का जन्म होता है।[६५] इसका पाठ और श्रवण करने वालों को सेवा परायण पुत्र और प्रियकारक सेवक प्राप्त होते हैं।[६६] महाभारत का श्रवण करने वाले धन यश आयु पुण्य और स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।[६७] उनको विपुल यश की प्राप्ति होती है

५७—महाभारत आदिपर्व— अध्याय ६२।श्लो० ३० ३३

५८— ६२।श्लो० ३५

५९— अध्याय १ श्लो० २६१

६०— श्लो० २६२

६१— उद्योगपर्व— अध्या० १३६।श्लो० १८

६२— आदिपर्व— अध्याय ६२ श्लो० ४७

६३— ' ६२ श्लो० ४५

६४— श्लो० २१

६५— ' " श्लो० २२

६६— ' श्लो० २४

६७— ' श्लो० [illegible]

और वे लोक में मान को प्राप्त करते हैं।[६८] जो श्रद्धापूर्वक महाभारत का श्रवण करता है, वह दीर्घ आयु कीर्ति और स्वर्ग को प्राप्त करता है।[६९] धर्मशास्त्र होने के साथ-साथ महाभारत अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी है।[७०] मोक्षकामी के द्वारा यह श्रवण करने योग्य है।[७१] भक्तिपूर्वक जय नामक महाभारत का श्रवण करने वाले को श्री, कीर्ति और विद्या प्राप्त होती है।[७२]

महाभारत का श्रवण करना और श्रवण कराना दोनों ही पुण्यकारक हैं। जो विद्वान् पर्वों के अवसर पर महाभारत का श्रवण कराता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है तथा ब्रह्म भाव की प्राप्ति के योग्य बन जाता है।[७३] जो विद्वान् पाण्डवों के इस पवित्र इतिहास को सुनाता है, उस शाश्वत धर्म की प्राप्ति होती है।[७४] जो सत्यवादी दानशील, उदार और आस्तिक लोगों को महाभारत का श्रवण कराता है उसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है।[७५] श्राद्ध के समय जो महाभारत सुनाता है उसका श्राद्ध अक्षय होकर पितरों को प्राप्त होता है।[७६] श्राद्ध में भोजन करने वाले ब्राह्मणों को महाभारत सुनाने से पितरों को अक्षय अन्न-जल की प्राप्ति होती है।[७७] महाभारत का श्रवण कराने वाले पुण्यात्मा मनुष्य को राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।[७८] जो ब्राह्मण इसका श्रवण कराते हैं तथा जो मनुष्य इसका श्रवण करते हैं उनके कर्माकर्म

६८—महाभारत-आदिपर्व अध्या० ६२ श्लो० ३१
६९—महाभारत आदिपर्व १—अध्याय १ श्लो० २७१
७०— ” १ ” ६२–२३
७१— स्वर्गारोहणपर्व १८—अध्याय ५–५१
७२— ” १८—अध्याय ५–४९
७३— ” ” १८—अध्या० ५–४०
७४— ” आदिपर्व १—अध्याय ६२–३०
७५— ” १—अध्याय ६२–१८
७६— ” ” १—अ० ६२–३७
७७— ” ” १—अ० १–२६७
७८— ” १—अ० ६२–४७

अनाध्य हो जाते है।[७९] महाभारत के सुनने और सुनाने से तो पुण्य होता ही है, जो वाचक के लिए महाभारत के ग्रन्थ का दान करता है, उसे सम्पूर्ण पृथिवी के दान का फल मिलता है।[८०]

३—महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व—

भारतीय परम्परा म महाभारत को एक इतिहास माना जाता है। शैली की दृष्टि म यह काव्य है किन्तु विषय-वस्तु और घटनाओं की दृष्टि से यह एक इतिहास है। प्राचीन भारत की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना का बहुत कुछ यथार्थ वर्णन इसमे मिलता है। पश्चिमी विद्वान् प्राचीन भारत वासियो के ऐतिहासिक बोध पर आक्षेप करते हैं। पार्जीटर का मत है कि प्राचीन भारतीयो न कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नही लिखे।[८१] मक्डोनल ने कहा है कि इतिहास भारतीय साहित्य की एक कमजोरी है। ऐतिहासिक बोध का अभाव एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण सस्कृत साहित्य के इतिहास मे ठीक कालक्रम नही मिलता।[८२] पश्चिमी विद्वानो की मुख्य आपत्ति इतिहास के कालक्रम को लेकर है। कालक्रम और घटनाय म इतिहास के दो मुख्य तत्त्व हैं। प्राचीन भारत के इतिहास म कालक्रम के सम्बन्ध मे कुछ कठिनाई अवश्य है इसका एक कारण तो भारतीय इतिहास और साहित्य की प्राचीनता है। विक्रम् सम्वत् से पूर्व का कोई सवत् भी ससार म नही मिलता। दूसरे कालक्रम की अपेक्षा प्राचीन भारतीयो का ध्यान घटनाओ तथा उनसे लक्षित होने वाले जीवन के सत्यो की ओर अधिक रहा। घटनाओ म कुछ कल्पना की अतिरंजना तथा कुछ अलौकिकता का पुट अवश्य है फिर भी प्राचीन इतिहास म विशेषत महाभारत म प्राचीन घटनाओ का बहुत कुछ यथार्थ रूप मिलता है। घटनाओ के इस रूप को इतिहास ही कहा जायगा। इसी आधार पर महाभारत को इतिहास मानना उचित है।

७८—महाभारत आदिपर्व १—अ० ६२–४४
८०— " १—अध्या० ६२–५०
८१—एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टोरीकल ट्रेडीशन-पृष्ठ—२
८२ —मक्डोनल ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर-पृष्ठ—१०

इस रूप में इतिहास का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है।[८३] ऐसे इतिहासों में महाभारत अत्यन्त विशाल और प्रमुख है। स्वयं महाभारत में अनेक स्थानों पर महाभारत को इतिहास कहा गया है।[८४] महाभारत के युद्ध की घटना और महाभारत के ग्रन्थ की रचना के तिथि काल का निर्णय चाहे कितना ही कठिन अथवा अनिश्चयपूर्ण हो किन्तु प्राचीन तथ्यों और घटनाओं की दृष्टि से महाभारत की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। प्राचीन भारतीय इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना इसका आधार है। यह घटना अपने आप में महान् और विशाल है। एक प्राचीन और महान् राजवंश की उत्पत्ति से लेकर उसके संघर्ष और विनाश तक की महान् और विशाल कथा महाभारत में वर्णित है। इस कथा की घटनाये बड़ी गम्भीर कठोर तथा दारुण एवं भयंकर है यह भी इन घटनाओं की ऐतिहासिकता का प्रमाण है। महाभारत में इन प्राचीन घटनाओं का वर्णन बड़ी यथार्थता के साथ किया गया है। वरदाचारी ने महाभारत की इस यथार्थता की सराहना की है।[८५] नियोग के द्वारा धृतराष्ट्र पाण्डु आदि की उत्पत्ति, द्यूत-क्रीडा, अज्ञातवास युद्ध की कूटनीति आदि अनेक प्रसंगों में महाभारत की कठोर यथार्थता के दर्शन होते है। एक महान् कृति एक महान् घटना घटनाओं की यथार्थता लोक परम्परा में मान्यता आदि कई अर्थों में महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व है। काल निर्णय सम्बन्धी कठिनाई से महाभारत का यह ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं होता।

८३—नलिनविलोचन शर्मा साहित्य का इतिहास दर्शन—पृष्ठ-२

८४—जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥

महाभारत-आदिपर्व १—अध्याय ६२,श्लोक० २०

इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवती सुत

आदिपर्व १—अध्याय १, श्लो० ५४

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।

आदिपर्व १—अध्याय १ श्लो० ८६

८५—वरदाचारी हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० ५३

महाभारत की घटना और महाभारत का ग्रन्थ दोनों ही महान् हैं। इसीलिए महाभारत शब्द का प्रयोग दोनों के अर्थ में होता है। महान् होने के कारण ही इनको 'महान्' का विशेषण मिला है। महत्ता के अर्थ में महाभारत महान् युद्ध और महान् ग्रन्थ के सामान्य अर्थ का वाचक बन गया है। पिछले यूरोपीय युद्ध को यूरोपीय महाभारत कहा जाता है। व्यंग्य प्रयोग में आपस की लड़ाई को भी हम महाभारत कह देते हैं। किसी विशाल और महान् कृति को भी व्यंग्य से महाभारत कहा जाता है। इस प्रकार 'महाभारत' शब्द युद्ध और रचना दोनों के सामान्य भाव का व्यंजक बन गया है। वस्तुत महाभारत का युद्ध प्राचीन भारत की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस महायुद्ध में प्राचीन भारत के एक महान् राजवंश का सर्वनाश हो गया। इस युद्ध के उपसंहार में श्रीकृष्ण का यादव कुल भी गृहयुद्ध में नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त राज्य के लिए होने वाले संघर्ष के प्रसंग में द्यूत-क्रीडा, लाक्षागृह, अज्ञातवास आदि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनायें महाभारत में वर्णित हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, वक-संहार आदि की घटनायें मुख्य घटनाओं के महत्त्व को बढ़ाती हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना के अर्थ में महाभारत को एक विशेष अर्थ में ऐतिहासिक कहा जा सकता है जिस अर्थ में कि अतीत की अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं को ऐतिहासिक कहा जाता है। यह ऐतिहासिक घटनायें ऐसी होती हैं जो भविष्य के इतिहास को मोड़ देती हैं। महाभारत की घटना भी एक ऐसी ही घटना है। इस घटना ने भारतवर्ष के इतिहास को असाधारण रूप में प्रभावित किया है। महाभारत की इस महान् घटना के पात्र भी अपने महान् व्यक्तित्व और कृतित्व आदि के कारण भारतीय इतिहास में अमर हो गये हैं। आबालवृद्ध भारतीय जनता उनके गीत गाती है। महाभारत का यह इतिहास चिरकाल से भारत में विख्यात है।

महाभारत की घटना के समान महाभारत का ग्रन्थ भी महान् है। वह महाभारत के कथा प्रसंग के समान ही विशाल और महत्त्वपूर्ण है। विशालता और महत्त्वपूर्णता दोनों के [illegible] अर्थ में महान् है।[१] यदि ऐतिहा

१ महाभारतमन्ने । १—१ २७३

सिक का अर्थ महत्वपूर्ण मानें, तो प्राचीन भारत की एक महान् और महत्त्वपूर्ण घटना का विवरण और महत्वपूर्ण वृत्त होने के नाते महाभारत का ग्रन्थ भी ऐतिहासिक है। इस महान् घटना के यथार्थ विवरण के अर्थ में भी यह ऐतिहासिक है। कुछ कल्पना का पुट होते हुए भी महाभारत में घटनाओं का वर्णन मुख्यतः यथार्थ रूप में ही मिलता है। इस दृष्टि से काव्य होते हुए भी महाभारत एक इतिहास है और उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। हम उससे तत्कालीन भारतवर्ष के इतिहास और वृत्त के सम्बन्ध में अनेक बातें विदित होती हैं। इतिहास का यही महत्त्व है और महाभारत में यह महत्त्व अपने आकार के अनुपात में वर्तमान् है। भरतवंशी वीरों की मूल कथा के प्रसंग में भारतवर्ष के अनेक देशों के राजाओं का वर्णन महाभारत में किया गया है इन राजाओं ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। इन अनेक देशों और राजाओं के वर्णन से महाभारत एक प्रकार से प्राचीन भारत का इतिहास बन गया है तथा उसकी ऐतिहासिकता और उसका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक बढ़ गया है। मूल कथा के अतिरिक्त मिलने वाली अन्य अनेक कथायें इसकी ऐतिहासिकता और इसके ऐतिहासिक महत्त्व को बढ़ाती हैं। मूल कथा के समान इनसे भी भारत की तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में अनेक बातें विदित होती हैं। प्राचीन भारत के वृत्तों और उसकी स्थितियों का परिचय महाभारत की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक देन है।

वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास को केवल प्राचीन घटनाओं का यथातथ्य वर्णन माना जाता है। किन्तु इतिहास की घटनाओं से मनुष्य को शिक्षा भी मिलती है। यह शिक्षा इतिहास के महत्त्व को बढ़ाती है। इस शिक्षा की दृष्टि से महाभारत का महत्त्व अन्य इतिहासों से भी अधिक है। महाभारत का गृहयुद्ध भावी भारत के लिए एक महान् सदेश है वह राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा प्रेरक बन सकता है। इसके अतिरिक्त द्यूत-क्रीड़ा अज्ञातवास आदि अनेक घटनाओं से बड़ी शिक्षा मिलती है। महाभारत के पात्रों की नीतियाँ और उनके वचन भी जीवन के गम्भीर रहस्यों पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत की घटनाओं के समान महाभारत की शिक्षायें भी गम्भीर है। *ये शिक्षायें महाभारत के ऐतिहासिक महत्त्व को बढ़ाती हैं।* घटनाओं की गम्भीरता और उनके महत्त्व के कारण ही महाभारत भारतीय लोक-परम्परा का एक अभिन्न अंग बन गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से महाभारत के इतिहास में काल आदि सम्बन्धी कठिनाइयाँ भले हों हों किन्तु घटनाओं की गम्भीरता

तथा शिक्षा के महत्त्व और परम्परा का अग बन जाने की दृष्टि से यह अय वर्णानिक इतिहासो से अधिक महत्त्वपूण है। स्वय महाभारत मे इसे इतिहासा म उत्तम माना गया है।[८७] महाभारत की अपने सम्ब ध म यह धारणा उचित और आदरणीय है। उक्त अनेक दृष्टियो स महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व गौरवपूण है।

४—महाभारत का साहित्यिक महत्त्व—

इतिहास के साथ साथ महाभारत को एक का य भी माना जाता है। काव्य होन के नात महाभारत का साहित्यिक महत्त्व भी विचारणीय है। ग्र थ के आरम्भ म वदव्यास ने इसे का य ही बताया है।[८८] आन दवधन ने अपने ध्व यालोक म भी महाभारत को का य के अ तगत माना है।[८९] श्री चिता मणि विनायक वद्य ने कहा है कि—'महाभारत न केवल इतिहास और धम का ही ग्र थ है कि तु वह एक उत्तम महाकाव्य भी है।'[९०] महाभारत क अधिकारी विद्वान् डा० सुकथनकर ने उसक साहित्यिक सौ दय की बहुत सराहना की है और अपन महाभारत सम्ब धी ग्र थ म उसक काव्य सौ दय चरित्र चित्रण आदि क ममस्पर्शी उदाहरण दिय हैं।[९१] शली की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप से एक का य है। जिस अनुष्टुप के सु दर छ द म वाल्मीकि रामायण की रचना हुई है उसी अनुष्टुप छ द में महाभारत का विशाल का य भी

८७—इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा।
आदिपर्व अध्याय २–श्लो० ३८

इतिहासोत्तमादस्माज्जाय ते कविबुद्धय ।
आदिपर्व-अध्या० २–श्लो० २८४

८८—कृत मयेद भगवन् काव्य परमपूजितम्।
आदिपर्व-अध्या० १–श्लो० ६१

८९—आन दवधन ध्व यालोक प्रथम उद्योत कारिका १

९०—सी०वी० वैद्य महाभारत मीमांसा—पृष्ठ २६

९१—डा० सुकथनकर ऑनिंग आव दी महाभारत—पृष्ठ ३४ ३७

रचा गया है। यद्यपि महाभारत में काव्य का सौन्दर्य वाल्मीकि रामायण के समान नहीं है, फिर भी अनेक स्थलों में पर्याप्त काव्य सौंदर्य मिलता है। वनपर्व में हिमालय पर्वत पर गन्धमादन पर्वत के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। युद्ध, शोक आदि के वर्णन बड़े सजीव और प्रभावशाली हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, अज्ञातवास, स्वर्गारोहण आदि के स्थल बड़े मार्मिक हैं। इस विशाल काव्य में शब्दों और अलंकारों का सौंदर्य भी यथेष्ट मात्रा में मिलता है। ग्रन्थ के उपक्रम में महाभारत को सौति ने सुन्दर शब्दों और विविध छन्दों से अलङ्कृत काव्य बताया है।[९२] वरदाचारी ने महाभारत की भाषा को सरल गम्भीर और प्रभावशाली बताया है।[९३] डा० सुक्थनकर ने महाभारत में प्रयुक्त संस्कृत भाषा और अनुष्टुप छन्द को महाकाव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त बताया है। शब्दों की विविधता और छन्द की सरल गति उनकी दृष्टि में इस विशाल महाकाव्य के सौंदर्य के अनुरूप हैं।[९४] वितरनित्स ने भी अनुष्टुप छन्द को सर्वोत्तम छन्द माना है।[९५] सरल, गम्भीर और सजीव शैली में लिखित विशाल महाभारत विश्व का एक अद्भुत महाकाव्य है। एक महान् प्रबन्ध के आधार ने इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली बना दिया है। सम्वाद की शैली के योग से यह अधिक सजीव और रोचक बन गया है। भरतवंशी वीरों के संघर्ष और युद्ध की कथा विशाल ज्ञान के साथ-साथ अत्यन्त रोमहर्षक है। महाभारत के पात्रों के अद्भुत चरित्र और महाभारत की मार्मिक घटनायें प्रभावशाली काव्य का उपकरण बन गई हैं। इस विशाल प्रबन्ध काव्य में कथा की विशालता के कारण एक दीर्घ प्रवाह है जो एक महान् प्रबन्धकाव्य के अनुरूप है। बीच में आने वाले उपाख्यानों में तथा प्रासंगिक धर्मोपदेशों में कथा और काव्य के सौंदर्य में कुछ शिथिलता अवश्य आ जाती है किन्तु यह विक्षेप भी महाभारत के विशाल प्रवाह में भ्रमरों के समान हैं। डा० सुक्थनकर ने महाभारत के प्रबन्ध और लक्ष्य की कलात्मक एकता का समर्थन किया है।[९६] सामान्य रूप से महाभारत का

९२—महाभारत—आदिपर्व अध्याय १ श्लो० २८

९३—वरदाचारी ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर- पृ० ४८

९४—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ४२

९५—वितरनित्स : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर-भाग-१ पृ० ४६१

९६—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृ०—२०

विशाल प्रवन्ध काव्य छद, अलकार, भाषा, वरणन चरित्र चित्रण, मार्मिक भाव आदि अनक काय गुणा से परिपूर्ण है। आलकारिक काव्या की तुलना मे सरल और गम्भीर शली के इस महान् काय को एक निसग काय कहा जा सकता है। यदि आलकारिक काया का उपमा हम एक सुरचित उद्यान मे द तो महाभारत को निसग काय का एक विशाल वन कहना होगा। विन्तरनित्स न प्रव ध की अस्तव्यस्तता का दृष्टि मे इस काय का वन कहा है।[९७] किन्तु उनके इस व्यग्यपूर्ण आक्षेप को हम एक दूसर अर्थ में महाभारत के निसग काव्य का निदेंन मान सक्ते हैं। महाभारत के इस विशाल काव्य वन में कुछ गहन वीथियाँ भा हैं जो कसे कान्तार के निकट स आता है। य गहन वीथियाँ महाभारत के व आठ हजार आठ सौ (८८००) कूट श्लोक हैं जिनके सम्बन्ध म व्यास जी न यह कहा है कि इनका अर्थ केवल मैं समझता हूँ और शुकदेव समझन ह तथा जिनको समझने के लिए बुद्धिनिधान गणेश को भी क्षण भर ठहरना पडता था।[९८] यदि सरलता और सौन्दय म महाभारत वाल्मीकि रामायण के समान है ता उसके यह कूट अश गम्भीरता म नषध और शिशुपालवध के निकट हैं। कथा की विशालता और चरित्रा की अद्भुतता की दृष्टि स महाभारत का काव्य अतुलनीय है। ब्रह्माजी का यह कथन सत्य ही है कि इसस उत्कृष्ट काव्य कोई भी कवि न लिख सकेंगे।[९९]

पश्चिमी विद्वाना न यह स्वीकार करत हुए भी कि महाभारत में अनक सुन्दर काव्य-स्थल मिलत हैं प्रबन्ध का अस्त-व्यस्तता का आक्षेप करत हुए महाभारत की एकसूत्रता और उसके प्रबध सौन्दय का अस्वीकृत किया है।[१००] विन्तरनित्स न इस काव्य क वन का उपमा दी है और इस एक अनगढ़ काव्य कहा है। उन्होंन इस एक साहित्यिक दानव भी कहा है।[१०१]

९७—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर-भाग १-पृष्ठ-३२६
९८—महाभारत-आदि पर्व-१-अध्याय-१, श्लो० ८१ ८३
" " " १, श्लो० ७३
९९—वही " , अध्याय २, श्लो० ३८०
१००—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग-१, पृष्ठ ३२६
१०१—वही " " पृ० ३२६

पश्चिमी विद्वानों के ये आक्षेप महाभारत की कथा और सामग्री की विशालता और विविधता तथा विचार तत्वों की बहुरूपता पर आश्रित हैं। वे इसमें प्राचीन कीर्ति काव्य, ब्राह्मण धर्म तथा परम्परागत उपाख्यानों का असंगत मिश्रण देखते हैं।[१०२] ये आक्षेप बौद्धिकता के आग्रह हैं। विशालता के कारण ये विद्वान् महाभारत को एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते। किन्तु जो विविधता और असंगति ये महाभारत में देखते हैं, वही एक कवि की कृति में भी मिल सकती है। सभी काव्य कृतियाँ आलोचकों की बुद्धि के अनुरूप संगत नहीं हो सकतीं। कवि-कल्पना को बुद्धि के अनुसार परखना उचित नहीं है। विषयों और कथाओं की विविधता महाभारत के विशाल काव्य के काव्य सौन्दर्य के अनुरूप है। कथा प्रबन्ध की कुछ असंगतियाँ इतने विशाल काव्य में वही स्थान रखती हैं जो चन्द्रमा में उसके लाञ्छन का है। व्यापक दृष्टि से महाभारत का साहित्यिक सौन्दर्य असंदिग्ध है।

कथा प्रबन्ध, चरित्र चित्रण, भावगरिमा, छन्द-अलंकार आदि अनेक काव्य गुणों से परिपूर्ण इस अद्भुत महाकाव्य का मौलिक साहित्यिक महत्त्व अतुलनीय है। एक महान् काव्य की दृष्टि से यह अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इसके साथ-साथ अपने विषय और प्रबन्ध की विशालता के द्वारा महाभारत अनेक उत्तरकालीन काव्यों का आधार और स्रोत बन गया है। यह महाभारत के साहित्यिक महत्त्व का दूसरा पक्ष है। इस दृष्टि से महाभारत हिमालय के समान है। साहित्य के इस हिमालय से अनेक काव्यधारायें प्रवाहित हुई हैं। स्वयं महाभारत में ही यह भविष्यवाणी की गई है कि महाभारत काव्य सभी मुख्य कवियों का उपजीव्य होगा।[१०३] सौति ने महाभारत को काव्यों का स्वामी बताया है जिस प्रकार उन्नति के अभिलाषी सेवक अभिजात स्वामी की सेवा करते हैं उसी प्रकार संसार के श्रेष्ठ कवि महाभारत की सेवा करके काव्य की रचना करते हैं।[१०४] जिस प्रकार सेवक का वैभव स्वामी का अनुदान है उसी प्रकार इन कवियों का काव्य वैभव भी महाभारत का

१०२–मैकडोनल ए हिस्टी आव संस्कृत लिटरेचर–पृ० २८५

विंतरनित्स ए हिस्टी आव इण्डियन लिटरेचर–
भाग १, पृ० ३१६ ४५६

१०३–महाभारत आदि पर्व–१–अध्याय १, श्लो० ६२

१०४– ,, आदि पर्व–१–अध्याय २, श्लो० ३८,३८६

अनुदान है। इस उत्तम काव्य से कवियो की बुद्धि इसी प्रकार प्रेरित होती है, जिस प्रकार पाँच भूतो से सृष्टि प्रकट होता है।[१०५] संस्कृत साहित्य व अनेक कवियो ने महाभारत से प्रेरित होकर तथा महाभारत व आख्याना का आश्रय ग्रहण करके काव्यो और नाटका की रचना की है। संस्कृत-साहित्य व विद्वान् इतिहासकार वरदाचारी ने अपन संस्कृत साहित्य के परिशिष्ट म एस लगभग चालीस ग्रन्थो की सूची दी है जिनक प्रबन्ध का स्रोत महाभारत म है।[१०६]

५—महाभारत का धार्मिक महत्त्व

एक प्राचीन इतिहास और एक विशाल महाकाव्य होने के साथ-साथ महाभारत एक धमशास्त्र भी है। भारतीय परम्परा म धम का अथ पश्चिमी परम्परा के समान किसी विशेष साम्प्रदायिक आग्रह के अथ म रूढ नही है। धम की भारतीय परिभाषा क लिए ईश्वर के किसी विशेष रूप किसी विशेष पगम्बर धम ग्रन्थ आदि की मान्यता आवश्यक नही है। धम का यह भारतीय रूप अत्यन्त उदार और मानवीय है। इसम एक उदार और मानवीय रूप म ईश्वर तथा देवता की उपासना भी सम्मिलित है। किन्तु मनुष्यता, स्वतन्त्रता समानता आदि इस उपासना के आवश्यक अग है। एक उदार मानवीय आचार इस धम का मुख्य तत्व है इसलिए यही आचार अथवा कत्तव्य धमशास्त्रा का मुख्य विषय बन गया है। धमशास्त्रो म धम के इसी रूप का विवरण अधिक मिलता है। इसी अथ मे महाभारत को भी धमशास्त्र माना जाता है। भारतीय धारणा के अनुसार जो बाते धम के अन्त गत मानी जाती हैं उनका महाभारत म अनक स्थानो पर विस्तृत वणन मिलता है। इसी कारण महाभारत को इतिहास तथा काव्य होने क साथ साथ धमशास्त्र भी माना गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि महाभारत म इतिहास की अपेक्षा काव्य अधिक है और काव्य की अपेक्षा धम का तत्त्व अधिक है। इसलिए आगे चलकर इसकी प्रतिष्ठा धमशास्त्र क ही रूप म अधिक हुई है।

१०५—महाभारत आदि पव अध्याय २, श्लो० ३८५
१०६—वरदाचारी ए हिस्टी आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २६५ देखिए—परिशिष्ट—क

स्वय महाभारत म ही महाभारत को इतिहास काव्य कहने क साथ साथ अनक स्थानो पर धमशास्त्र ही अधिक कहा गया है। आदि पव म महाभारत को एक महान् धमशास्त्र कहा गया है।[१०७] पश्चिमी विद्वाना का मत है कि अपन मूल रूप म महाभारत एक कीर्ति-काव्य था कालातर म ब्राह्मणा न धार्मिक तत्वा का समावेश करक इसे धमशास्त्र बना दिया।[१०८] किन्तु व यह स्वीकार करत ह कि ईसवी सन् के आरम्भ मे महाभारत का यह धार्मिक रूप स्थिर हो चुका था। डायोक्रिस्टोम नामक ग्रीक यात्री का प्रमाण इस प्रसग म महत्वपूण है। उसके समय म एक लाख श्लोका का महाभारत धुर दक्षिण तक प्रचलित था। प्राचीनकाल स ही भारतीय जनता इस धमशास्त्र के रूप म मानती रही है।[१०९] ईसा की पाचवी शताब्दी के दानपत्रा म धम शास्त्र के रूप म महाभारत का उल्लेख बडे आदर क साथ मिलता है।[११०] सातवी शताब्दी म कुमारिल भट्ट और शकराचाय ने धमशास्त्र अथवा स्मृति के रूप म महाभारत का प्रमाण माना है।[१११] बाण भट्ट न मन्दिरा म होन वाली महाभारत की कथा का उल्लेख किया है। मन्दिरा म पाठ के लिए महाभारत की प्रतियां दान की जाती थी।[११२] इन सब प्रमाणो से सिद्ध होता है कि इतिहास और काव्य होते हुए भी अन्तत धमशास्त्र क रूप म महाभारत की अधिक प्रतिष्ठा हुई। महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वद्य का मत है कि 'महाभारत का धम ग्रन्थ का पूरा स्वरूप प्राप्त हो गया है और उसक बाद बने हुये सब ग्रन्थ उसक वचना को स्मृति के समान प्रमाण मानत ह।[११३] वरदाचारी के मत म भी महाभारत इतिहास और काव्य होने क साथ साथ एक धमशास्त्र भी है।[११४] डा० सुक्थनकर महाभारत क धार्मिक तत्वा का प्राचीन तथा इस महान् ग्रन्थ का अन्तरग तत्व मानते

१०७—महाभारत-आदिपर्व—१ अध्याय-२, श्लो० ३८३

१०८—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर-भाग-१ पृ० ३१६

१०९—वही „ „ , पृ० ३२१

११०—मकडोनल ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर पृ० २८८

१११—वही „ , पृ० २८१

११२—मकडोनल ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर-पृ० २८०

११३—सी० वी० वद्य महाभारत मीमासा—पृष्ठ १८

११४—वरदाचारी ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ ५४ ५५

है।[११५] उनका विश्वास है कि इन तत्वा के निकाल देने पर महाभारत प्राणह अगो से रहित शरीर के समान रह जायेगा।[११६] उनके मन म महाभारत के धार्मिक तत्वा को प्रक्षिप्त मानने वाले पश्चिमी विद्वानो की महाभारत के मूल काय की खोज मृगमरीचिका होने के साथ-साथ अनुचित भी है।[११७] उन्होंने महाभारत का मुख्यत एव धम ग्रन्थ मानकर उसके धार्मिक नतिक और आध्यात्मिक तत्वो की गम्भीर व्याख्या की है। उनके अनुसार धम ही महाभारत की मूल धुरी है।[११८]

भारतीय धारणा के अनुसार धम के जो विषय हैं उनका महाभारत म अनेक स्थानो पर विस्तार से वणन किया गया है। धम के इन विषयो का विपुल परिमाण म समावेश करने के कारण ही महाभारत धमशास्त्र बना है। वर्णों और आश्रमों के कत्तव्य इस धम के मुख्य तत्व हैं। चातुवण्य और वर्णाश्रम के धर्मों का उल्लेख महाभारत के आरम्भ म उसके विषयो के अन्तगत किया गया है।[११९] इन धर्माचरणो का विधान महाभारत म अनेक स्थाना पर मिलता है। शान्तिपव म और अनुशासन पव म धम का उपदेश विशेष रूप स तथा विस्तार के साथ किया गया है। इन पर्वों की इस विशेषता का उल्लेख आदिपव के दूसरे अध्याय म महाभारत के विषय विवरण के प्रसग म किया गया है।[१२०] वर्णाश्रम-धम राजधम मोक्षधम आदि का वणन महाभारत म प्रामाणिक रूप म किया गया है। इसस महाभारत का धार्मिक महत्व असदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाता है।

वर्णों और आश्रमों के धम विधान के अतिरिक्त ईश्वर तथा देवताओ की उपासना के अथ म भी महाभारत एक धम ग्रन्थ है। महाभारत म कृष्ण का दिव्य चरित्र विशेष रूप म वर्णित है। आदिपर्व म कहा गया है कि

११५—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृ० ८६
११६—वही " " पृ० ५
११७—वही " " पृ० ५
११८—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ८०
११९—महाभारत—आदि पव—अध्याय १ श्लोक ६५
१२०— " " अध्याय २, श्लो० ३२६ से ३३७ तक।

"भगवान वासुदेव का चरित्र महाभारत का मुख्य विषय है उन्हीं का इसमें संकीर्तन किया गया है। वे ही सत्य, ऋत पवित्र एवं पुण्य है।[121] विंटरनित्स का मत है कि महाभारत के धार्मिक स्थलों में कृष्ण के चरित्र की इतनी प्रधानता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत एक वैष्णव धर्म का ग्रन्थ है।[122] किन्तु विष्णु और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओं का वर्णन भी महाभारत में मिलता है। विंटरनित्स का मत है कि शिव की महिमा के अंश बाद में जोड़े गये हैं, जब महाभारत का प्रचार भारत के उन भागों में हुआ जिनमें शिव की पूजा प्रचलित थी। [123] श्री वैद्य का मत है कि वैष्णव और शैव धर्मों का समन्वय महाभारत में सौति ने किया है। इस समन्वय के लिए उन्होंने श्री कृष्ण को शिव का उपासक और शिव को श्री विष्णु का उपासक बनाया है। भीष्म पर्व में देवी की स्तुति भी है तथा दत्तात्रेय स्कन्द आदि देवताओं का भी वर्णन है। इस प्रकार महाभारत उदार भारतीय धर्म के विविध रूपों का संगम बन गया है।[124] इसके अतिरिक्त स्वर्ग नरक पाप पुण्य प्रायश्चित, संस्कार आदि भारतीय धर्म-तत्वों का विवरण भी महाभारत में किया गया है।[125] भारतीय धार्मिक धारणा के उक्त तत्वों का विस्तृत और महत्त्वपूर्ण वर्णन करने के कारण महाभारत मुख्यतः एक धर्म ग्रन्थ बन गया है। एक पवित्र धर्मशास्त्र के रूप में ही वह हजारों वर्षों से प्रतिष्ठित है। धर्म ग्रन्थ होने के कारण ही वह वेद के समान पवित्र माना जाता है। वेद अखिल धर्म का स्रोत है। धर्म की दृष्टि से ही महाभारत वेद के समान पवित्र और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। स्वयं महाभारत में इसे कार्ष्ण वेद कहा गया है[126] और इसे वेद के समान माना गया है।[127]

१२१—महाभारत–आदिपर्व—अध्याय २, श्लो० २५६

१२२—विंटरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–भाग—१, पृ० ३२०

१२३—वही ,, ,, पृ० ३२०

१२४—सी० वी० वैद्य महाभारत मीमांसा पृ० १७१८

१२५—सी० वी० वैद्य महाभारत मीमांसा—पृष्ठ ४६६ ४७२

१२६—कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते।

आदिपर्व अध्याय ६२ श्लो० १८

१२७—इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्

महाभारत आदि पर्व—१, अध्याय ६२, श्लो० ४८½

एक स्थान पर तो इसे वेद से भी अधिक माना गया है।[१२८] साधारण जनता के लिए वेद दुर्गम है, उनके लिए महाभारत सचमुच वेद से भी अधिक मूल्यवान है। इन सब प्रमाणों से महाभारत का धार्मिक महत्त्व सिद्ध होता है।

६—महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व—

प्राचीन इतिहास, महाकाव्य और धर्मशास्त्र होने के नाते महाभारत हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है। महाभारत के ऐतिहासिक, साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व के साथ साथ उसका सांस्कृतिक महत्त्व भी विचारणीय है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। प्रकृति के आधार पर अपने उद्योग से मनुष्य ने जो कुछ बनाया है, उसी को संस्कृति कहते हैं। व्यक्तिगत की अपेक्षा संस्कृति सामाजिक अधिक है। मनुष्य की जिन रचनाओं को संस्कृति में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है वे प्रायः एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक मनुष्यों के उद्योग से बनी हैं। अजन्ता की गुफायें, ताजमहल आदि ऐसी ही कृतियां हैं। जो रचनायें एक व्यक्ति की कृति जान पड़ती हैं उनमें भी वह व्यक्ति समाज की चेतना का माध्यम अथवा निमित्त बन गया है। सामाजिक भाव की प्रेरणा से ही ये व्यक्ति ऐसी महान् सांस्कृतिक रचनाएं दे सके हैं। कालिदास, सूरदास, तुलसीदास आदि के काव्य उनकी व्यक्तिगत रचनाएँ अवश्य हैं, किन्तु जो सुंदर और कल्याणमय रूप इन रचनाओं को मिला है वह सामाजिक भावना की प्रेरणा से ही सम्भव हो सका है। व्यक्तिगत भाव से ऊपर उठकर कालिदास की कला भारतवर्ष की प्रकृति और उसके जीवन के साथ एकरस हो गई है। सूर और तुलसी की कला में उनका व्यक्तिगत भाव उनके भक्तिभाव में निमग्न हो गया है। रचना का यह सामाजिक भाव वेद, पुराण और महाभारत में भी मिलता है। बाइबिल और कुरान की भांति ये किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। वेदों के बनाने वाले ऋषियों की संख्या बहुत है। पुराणों और महाभारत को वेदव्यास की रचना माना जाता है। किंतु कदाचित् ये एक व्यक्ति की रचना नहीं है। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार भी इन्हें अनेक व्यक्तियों की रचना मानते हैं। अपने दृष्टिकोण से वे इसे दोष मानते हैं, किंतु सांस्कृतिक

१२८—महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व १८—अध्याय ५—श्लो० ४०

दृष्टिकोण मे यह दोष नही है। अनेक व्यक्तियो के सहयोग मे ये रचनायें अधिक सास्कृतिक बन गई हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य का यह साहित्यिक गुण एव ऐसी विशेषता है जिसका उदाहरण व्यक्तिवादी पश्चिम के साहित्य मे मिलना कठिन है।

इतिहास काव्य और धर्मशास्त्र की सब कृतिया रचनात्मक होने के नाते सस्कृति का अग मानी जाती हैं। किन्तु महाभारत जैसी कृतिया जो अनेक व्यक्तिओ के सहयोग से बनती हैं अधिक सास्कृतिक कही जायगी। व्यक्तिगत कृतियो में भी सामाजिक भाव और उद्देश्य जिन कृतियो मे जितना अधिक होता है उन्हे सस्कृति के इतिहास मे उतना ही अधिक महत्त्व दिया जाता है महाभारत रचना, भाव और उद्देश्य तीनो ही दृष्टियो से अधिक सामाजिक है अतएव अधिक सास्कृतिक है। प्राचीन भारत मे जो लोक-काव्य की परम्परा प्रचलित थी उसी का पूर्ण परिणाम महाभारत मे प्रगट है। सस्कृत साहित्य के इतिहासकार भी यह मानते हैं कि सूत चारण आदि जो कीर्ति कथायें गाया करते थे उन्ही की विशाल परम्परा का समाहार महाभारत मे हुआ है। सामाजिक भावो और उद्देश्यो से भी महाभारत परिपूर्ण है। इस प्रकार सस्कृति के सामान्य दृष्टिकोण से महाभारत एक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक रचना है।

भारतीय सस्कृति के विशेष भाव भी महाभारत मे सुदर और प्रभावशाली रूप मे साकार हुए हैं। भरतवशी वीरों का चरित्र भारतीय इतिहास की एक ओजस्वी परम्परा है। रचना होने के साथ साथ सस्कृति एक परम्परा भी है। इतिहास की घटनायें, इतिहास के पात्र, इतिहास के आदर्श आदि जब समाज की प्रतिष्ठित परम्परा बन जाते हैं तो उनका सास्कृतिक महत्त्व बढ जाता है। जिन काव्यो मे ऐसी परम्परायें अकित होती है तथा जो काव्य ऐसी परम्पराओ के वाहक हो जाते हैं व लोक की निधि बन जाते हैं। ये परम्परायें जन साधारण की सम्पत्ति बन जाती है। प्रत्येक मनुष्य इनसे परिचित होता है और इनको अपना मानता है तथा इनसे प्रेरणा लेता है। महाभारत के वीरो की कथाये तथा उसके अन्य उपाख्यान ऐसी ही परम्परायें है। भीष्म का ब्रह्मचर्य और राज्यत्याग युधिष्ठिर का सत्य भीम का बल, अर्जुन का पराक्रम द्रौपदी का पातिव्रत, कुन्ती का धैर्य कर्ण का दान, श्री कृष्ण की उदारता आदि भारतीय समाज के आदर्श बन गये हैं। जन जन इन आदर्शों को मान देता है और

देनेवाले प्रेरणा स्रोत है। प्रासंगिक उपाख्यानों में भी सावित्री और दमयन्ती के पातिव्रत के ऐसे आदर्श मिलते हैं, जो भारतवर्ष में घर घर में प्रेरणा भरते हैं। दूसरी ओर दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन आदि की अनीति आदर्श न होते हुए भी एक परिचित परम्परा बन गई है। घर घर में इन परम्पराओं की चर्चा होती है और बात-बात में महाभारत के अच्छे बुरे पात्रों के उदाहरण दिये जाते हैं। इस प्रकार महाभारत का ऐतिहासिक काव्य हमारी सांस्कृतिक परम्परा का एक विशाल सागर है। इसी सांस्कृतिक महत्त्व के कारण प्राचीन काल से ही मंदिरों तथा सार्वजनिक स्थानों पर महाभारत का गायन और पारायण होता रहा है। महाभारत के गायन की यह प्रथा यह सूचित करती है कि महाभारत भारतीय संस्कृति का आलय ही नहीं है वरन् वह भारतीयों के सांस्कृतिक जीवन का एक ओजस्वी आश्रय भी है।

धर्मशास्त्र भी संस्कृति का अंग है। वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों के जिस रूप में महाभारत में धर्म का निरूपण किया गया है, धर्म का वह रूप भारतीय जीवन का अंग रहे है। ये आचार और कर्त्तव्य हमारे सामाजिक जीवन के पथप्रदर्शक रहे है। ऐतिहासिक पात्रों के आदर्श और धार्मिक आचार दोनों ही रूपों में महाभारत भारतीय संस्कृति का भाण्डार है। तीर्थों के वर्णन तथा व्रतों के उपदेश संस्कृति के इस भाण्डार को और सम्पन्न बनाते है। इस प्रकार भारतीय परम्परा के विभिन्न अङ्गों का यह सुन्दर काव्य भारतीय संस्कृति का एक विशाल कोष बन गया है। आकार और महत्ता दोनों ही दृष्टि से यह भारतीय संस्कृति के गौरव के अनुरूप है। भारतीय जीवन की परम्परा से एकाकार होकर महाभारत का ऐतिहासिक, साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व सजीव और परिपूर्ण रूप में उसके सांस्कृतिक महत्त्व को सुरक्षित बनाता है।

अध्याय—२

महाभारत की आधुनिक आलोचना

१—आधुनिक आलोचना का दृष्टिकोण—

भारतीय परम्परा में महाभारत को एक सांस्कृतिक महाकाव्य और धर्मशास्त्र माना जाता है। उसे पंचम वेद की पदवी दी गई है। वेद और धर्मशास्त्रों के समान ही उसे एक पवित्र ग्रंथ माना जाता है। लगभग दो हजार वर्षों से महाभारत वर्तमान शतसाहस्री संहिता के रूप में प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों में महाभारत की इस प्रतिष्ठा के प्रमाण मिलते हैं।[1] ईसा की पहली शताब्दी के मध्य में दक्षिण आने वाले डायोक्रिसोस्टोम नामक यात्री ने लिखा है कि उसके समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत (जिसे उसने भारत का इलियड कहा है) प्रसिद्ध एवं प्रचलित था।[2] इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं कि महाभारत की कथा मंदिरों में गाई जाती थी और जनसमूह उसे श्रद्धा से सुनते थे।[3] भारतवर्ष में ही नहीं वरन् पूर्व एशिया के उन देशों में भी महाभारत का प्रचार था जिनमें भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ था।[4] ईसा की पूर्व शताब्दियों में भी महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है।[5] किन्तु आधुनिक विद्वान् इस महाभारत की शतसाहस्री संहिता को प्रमाण नहीं मानते। उनका सिद्धान्त विकासवादी है। उनके मतानुसार महाभारत के वर्तमान रूप का विकास कई चरणों में हुआ है। कई संस्करणों और अनेक प्रक्षेपों के द्वारा महाभारत को शतसाहस्री

१—मक्डोनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८६
२—सी० वी० वैद्य महाभारत मीमांसा—पृष्ठ ४३
३—मक्डोनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २९०
४—वही पृष्ठ २९०
५—वही पृष्ठ—२८७

संहिता का रूप निर्धारित हुआ है।[६] पश्चिमी विद्वानों का ध्यान महाभारत की सामग्री और उसके रचना काल के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन की ओर रहा है। वे भारतीयों की भाँति महाभारत को श्रद्धा का विषय नहीं मानते। उनके लिए वह ऐतिहासिक आलोचना का विषय है। उस ऐतिहासिक आलोचना के प्रसंग में वे उन बातों को कोई महत्त्व नहीं देते जो भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार महत्त्वपूर्ण हैं। महर्षि वेदव्यास की कृति तथा प्राचीन भारतीय वीरों की कथा होने के कारण भारतीय जनता की महाभारत के प्रति गहरी श्रद्धा रही है। जनमेजय और शौनक के यज्ञों में उसका पारायण होने के कारण वह एक धार्मिक कथा बन गई है। धर्मशास्त्र के समान धर्म के विस्तृत विवरणों तथा भगवान श्रीकृष्ण के नेतृत्व के कारण महाभारत का धार्मिक रूप ही प्रमुख बन गया है। इसी कारण भारतीय जनता युगों से श्रद्धा के साथ महाभारत का श्रवण और गायन करती रही है। ईसवी सन् के पूर्व महाभारत की शतसाहस्री संहिता का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। किन्तु इससे यह भी सिद्ध नहीं होता है कि ईसवी सन् के पूर्व महाभारत की शतसाहस्री संहिता वर्तमान नहीं थी। महाभारत के आकार का विस्तार हुआ भी हो तो भी सम्भवतः महाभारत के वे अंश उसमें ईसा के पूर्व की शताब्दियों में भी रहे होंगे और उस समय भी महाभारत का स्वरूप ऐसा रहा होगा जिसके कारण वह भारतीयों की श्रद्धा का विषय बना।

अस्तु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार महाभारत मुख्यतः एक धर्मशास्त्र है। इसी रूप में और इसी कारण वह युगों से भारतीयों की श्रद्धा का कारण रहा है। किन्तु पश्चिमी विद्वानों ने उसे श्रद्धा का विषय न मानकर ऐतिहासिक आलोचना का विषय माना है। धर्म से ईसाई होने के नाते भारतीय धर्मशास्त्र उनके लिए श्रद्धा के विषय नहीं बन सकते। यदि धार्मिक दृष्टिकोण से नहीं तो एक आदरपूर्ण सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी वे भारतीय साहित्य के ग्रन्थों को नहीं देख सकते। डा० सुकथांकर ने महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों के अनुसार दृष्टिकोण की आलोचना की है।[७] उन्होंने पश्चिमी विद्वानों के दृष्टिकोण से प्रभावित भारतीय विद्वानों

६—विन्टरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १ पृष्ठ—३१६

७—डा० सुक्थनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ २५

ने भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया है।[8] श्रद्धा और भावना से रहित होने के कारण महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण केवल ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है। वे एक निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से महाभारत आदि भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन का दावा करते हैं। उनकी आलोचनाओं में भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रति एक तिरस्कार का भाव दिखाई देता है जो अत्यन्त शोचनीय है। यह भाव उनकी वैज्ञानिक आलोचनाओं को भी विकृत बना देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने महाभारत आदि के सम्बन्ध में अनेक अनर्गल कल्पनायें की हैं। डा० सुकथनकर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[9] में इन आलोचनाओं का उल्लेख और खण्डन किया है।

पश्चिमी विद्वानों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार महाभारत किसी एक व्यक्ति और एक काल की रचना नहीं है।[10] उनके अनुसार अनेक शताब्दियों में कई व्यक्तियों के द्वारा तथा अनेक प्रकार की सामग्री के सम्मिश्रण से महाभारत के वर्तमान रूप का निर्माण हुआ है। उन्होंने महाभारत के वैज्ञानिक अध्ययन में इस सामग्री के विभिन्न तत्वों के विश्लेषण और उनके काल निरूपण का प्रयत्न किया है। कई कारणों से प्राचीन भारतीय अध्ययन में ऐतिहासिक तिथियों का निर्णय कठिन हो जाता है। एक मुख्य कारण तो भारतीय इतिहास की प्राचीनता है। किन्तु पश्चिमी विद्वानों के अनुसार उसका मुख्य कारण यह है कि प्राचीन भारतवासियों का इतिहास के वैज्ञानिक रूप में रुचि नहीं थी। कुछ विद्वान् तो भारतीयों पर ऐतिहासिक वृत्ति के अभाव का दोष लगाते हैं।'[11] पश्चिमी विद्वानों के इस दोषारोपण का कारण यह है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में तिथियों का निर्णय करना कठिन है। कालक्रम के निश्चय की कठिनाई के कारण ही

८—मीनिंग आव महाभारत पृष्ठ ३१

९—मीनिंग आव महाभारत

१०—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर भाग १, पृष्ठ ३२६
सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ८

११—मैक्डोनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ—१०

पश्चिमी विद्वान् भारतीय परम्परा म इतिहास का अभाव दखत हैं। ह्विटनी न अपने संस्कृत व्याकरण की भूमिका म लिखा है कि भारतीय साहित्य के इतिहास की तिथियाँ उन कीलों के समान हैं, जिनको एक बार लगान क बाद बार-बार उखाडना पडता है।[१२] विंतरनित्स का मत है कि प्राचीन भारतीय साहित्य क सम्बन्ध म कोई निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकती।[१३] पार्जीटर का मत है कि भारतीयों ने कोई इतिहास-ग्रन्थ नहीं लिखे हैं।[१४] यह ठीक है कि प्राचीन भारतीय इतिहास म तिथियों का निर्णय करना कठिन है। इसका एक कारण तो भारतीय इतिहास की प्राचीनता है। इतने प्राचीन काल के सम्बन्ध मे, जबकि कदाचित् कोई सम्वत् आदि भी प्रचलित नहीं थे तिथियों और कालक्रम का निर्णय कठिन होना कोई आश्चय की बात नहीं है।

अर्वाचीन देशों के इतिहास की स्थिति से एक प्राचीन देश की तुलना करना उचित नहीं है। प्राचीनता क अतिरिक्त ग्रीस, असीरिया मिस्र आदि की तुलना म भारतवर्ष की विशालता और इतिहास की विपुलता भी उक्त कठिनाई को बढाती है। दूसरी बात यह है कि पश्चिमी देशों के लौकिक और बहिर्मुख दृष्टिकोण की तुलना म भारतीयों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक और आन्तरिक रहा है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ऐतिहासिक वृत्त शाश्वत अर्थ के वाहक बन जाते है। रामायण और महाभारत के वृत्त यथार्थ होते हुए भी शाश्वतभावों के वाहक बन गये हैं। इतिहास के इस रूप म काल का महत्त्व बहुत कम हो जाता है। इसी कारण प्राचीन भारतीय इतिहास म कालक्रम का महत्त्व बहुत कम हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों के रचयिताओं ने भी अपने नाम स्थान समय आदि लौकिक तथ्यों को ध्यान नहीं दिया है। उनका यह दृष्टिकोण भी आध्यात्मिक प्रभाव को प्रमाणित करता है।

किन्तु प्राचीन वृत्तों की यथार्थता के प्रति भारतीयों का आग्रह रहा है। महाभारत म कौरव पाण्डवों के जन्म द्यूत वनवास आदि अनेक प्रसंगों की

१२—ह्विटनी संस्कृत ग्रामर–भूमिका

डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ–६

१३—विंतरनित्स हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–प्रथम भाग–पृ०२५–२६

१४—पार्जीटर एन्शन्ट इण्डियन हिस्टोरीकल ट्रेडीशन पृष्ठ–२

कठोर यथार्थता महाभारत की ऐतिहासिकता का संकेत करता है। प्राचीन वृत्त के अर्थ में इतिहास की भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद आदि प्राचीन ग्रंथों में इतिहास शब्द का उल्लेख मिलता है।[15] वैदिक यज्ञों के अवसर पर इतिहास की कथायें कही जाती थी। महाभारत से ही विदित होता है कि जनमेजय के सर्पयज्ञ में वैशम्पायन ने तथा शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में उग्रश्रवा सौति ने महाभारत सुनाया था। महाभारत में इतिहास की जो परिभाषा मिलती है उसमें भी कथावृत्त तथा उसके आध्यात्मिक प्रयोजन को ही महत्व माना गया है।[16] इतिहास के आध्यात्मिक प्रयोजन के कारण ही उसमें धर्मशास्त्र के तत्त्वों का समावेश हो गया है। इसी दृष्टिकोण के कारण हमारे प्राचीन इतिहास काव्यमय हैं। भारतीय आत्मा के आध्यात्मिक स्रोत से ही धर्म, दर्शन, इतिहास आदि के क्षेत्र में काव्य की सरस्वधारायें प्रवाहित हुई हैं। रामायण और महाभारत के इतिहास भी काव्यमय हैं। भारतीय परम्परा में जहाँ एक ओर इनकी गणना इतिहास के अन्तर्गत की जाती है वहाँ दूसरी ओर इन्हें काव्य भी माना जाता है। वाल्मीकि की रामायण तो आदिकाव्य कहा जाती है। महाभारत भी छन्द शैली, सौन्दर्य अलंकार आदि अनेक दृष्टियों से काव्य के गुणों से परिपूर्ण है। रामायण और महाभारत दोनों को ही इतिहास के साथ-साथ महाकाव्य भी माना जाता है। वस्तुतः इसमें काव्य के अनेक गुण वर्तमान हैं किंतु उनका ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है।

सामान्यरूप से भारतीय साहित्य तथा विशेषतः महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण भारतीय चेतना के ऐतिहासिक बोध के प्रति संदेह से भरा है। उनकी आलोचना का दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। किन्तु उनके निर्णय भारतीय साहित्य में ऐतिहासिकता की दृष्टि से दोष ही अधिक देखते हैं। महाभारत के युद्ध की घटना और महाभारत के ग्रंथ की रचना के

१५—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १—पृ० ३१३

१६—धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।

पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

नलिन विलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास दर्शन—पृष्ठ—२

सम्बन्ध में विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने विभिन्न अनुमान लगाये हैं। विरोधी होने के साथ साथ ये अनुमान अनिश्चयपूर्ण भी हैं यद्यपि इस अनिश्चय का दोषारोपण वे भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव पर करते हैं। ऐतिहासिक होने के साथ साथ महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण विकासवादी है। वे वैदिक आख्यानों और प्राचीन वीरगाथाओं में महाभारत का बीज खोजते हैं। उनके अनुसार महाभारत का मूल रूप कौरव पाण्डवों के युद्ध का कोई छोटा सा महाकाव्य है। कई विद्वानों ने वर्तमान महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों को अलग करके इस मूल महाभारत का रूप स्थिर करने का प्रयत्न भी किया है। इनका मत है कि कालान्तर में अन्य अनेक उपाख्यान महाभारत में सम्मिलित हो गये तथा ब्राह्मणों ने ब्राह्मण धर्म का सन्निवेश करके महाभारत को वर्तमान विशाल रूप दिया। इन विद्वानों के अनुसार जय भारत और महाभारत के तीन रूपों में महाभारत के तीन संस्करण हुए हैं और इन तीन संस्करणों में उत्तरोत्तर महाभारत की श्लोक संख्या बढ़ती गई है तथा अपने अन्तिम रूप में महाभारत एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ बना है।

पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव से अधिकांश भारतीय विद्वान् भी महाभारत के इस विकासवादी सिद्धान्त को मानते हैं। संस्कृत साहित्य के भारतीय इतिहासों में पश्चिमी विद्वानों के इसी मत का समर्थन मिलता है। पश्चिमी आलोचना के महाभारत सम्बन्धी इस विकासवादी मत का दृष्टिकोण काव्य की दृष्टि से महाभारत के प्रबन्ध तथा महाभारत के वर्तमान रूप में मिलने वाले विपुल धार्मिक तत्त्व के प्रति अन्यायपूर्ण है। पश्चिम के छोटे महाकाव्यों के आधार पर वे विषय की एकसूत्रता तथा विचारों की एकता को महाकाव्य का आवश्यक लक्षण मानते हैं। महाभारत के विशाल प्रबन्ध में उन्हें एकसूत्रता नहीं मिलती। विचारों की दृष्टि से भी वे इसमें विरोध पाते हैं। महाभारत के धार्मिक तत्त्व उनके मत में ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े गये हैं तथा वे महाभारत की सम्पूर्ण योजना के साथ संगत नहीं हैं। कई व्यक्तियों और कई कालों की रचना होने के कारण महाभारत अनेक विषम तत्त्वों का एक विशाल संकलन बन गया है। महाभारत के इस वर्तमान विस्तृत रूप में उसका प्राचीन रूप सदा के लिए लुप्त हो गया है। पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने भी इस मूल महाकाव्य की हानि पर खेद प्रकट किया

है।[17] भारतीय विद्वानों में महाभारत के महान् अधिकारी डा० सुक्थनकर ने पश्चिमी विद्वानों के इस दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया है। डा० सुक्थनकर के मत में महाभारत सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज लक्ष्य से दूर चली जाती है, वह महाभारत के मुख्य तात्पर्य को भूल जाती है।[18] उनके मत में महाभारत का प्रबन्ध बहुत कुछ सुगठित है। उसमें ऐसी विशृंखलता नहीं है जैसी कि पश्चिमी विद्वान् देखते हैं।[19] पश्चिमी विद्वान् महाभारत के धार्मिक अंगों को एक अवान्तर तत्व मानते हैं, वे उन्हें प्रक्षेप कहते हैं। किन्तु डा० सुक्थनकर ने यह धारणा प्रकट की है कि धार्मिक अंग महाभारत के मूल लक्ष्य के अनुकूल हैं और वे उसके अभिन्न अंग है।[20] उन्होंने यह निर्देश किया है कि ऐतिहासिक खोज को छोड़कर हम महाभारत के उस वर्तमान रूप को महत्त्व देना चाहिए जो भारतवर्ष में युगों से लोकप्रिय रहा है।[21] पश्चिमी विद्वानों में केवल एक डाल्हमान का मत डा० सुक्थनकर के अनुकूल है। डाल्हमान भी महाभारत को एक सुगठित प्रबन्ध मानते हैं तथा उनके अनुसार महाभारत के धार्मिक अंग उसके अभिन्न अंग हैं। किन्तु अधिकांश पश्चिमी विद्वान् डाल्हमान के इस मत से सहमत नहीं है तथा वे उसी ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोण के पोषक हैं जिसका निर्देश ऊपर के विवरण में किया गया है।

२ पश्चिमी आलोचकों के मत—

डा० सुक्थनकर ने अपने महाभारत सम्बन्धी भाषण माला के पहले भाषण में महाभारत के पश्चिमी आलोचकों के मतों का विवरण दिया है। उनके इस अमूल्य ग्रन्थ के आधार पर ही प्रस्तुत प्रकरण में इन पश्चिमी आलोचकों के मतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आनन्दतीर्थ श्री मध्वाचार्य ने अपने 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में लिखा है कि महाभारत देवताओं के

१७—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ४
१८—वही " " " पृष्ठ १८
१९—वही " " " पृष्ठ १२४
२०—वही " " " पृष्ठ ६६
२१—वही " " " पृष्ठ ३१

द्वारा भी दुर्विज्ञेय है।[२२] आनन्दतीथ के इस वचन का अपने प्रथम भाषण के मगलाचरण म उल्लेख कर डा० सुकथनकर ने महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् ओल्डनवग के मत का सबसे पहले उल्लेख किया है। ओल्डनवग के मत म महाभारत का आरम्भ एक सरल कथाकाव्य के रूप म हुआ था। किन्तु कालान्तर म वह असख्य असगतियो से पूण एक विशृखल सकलन बन गया।[२३] ओल्डनवग का विश्वास था कि महाभारत के मूल रूप म छोटी छोटी कीर्ति-कथायें गद्य के सूत्रो से जुडी हुई थी। ओल्डनवग के मत मे महाभारत के धार्मिक अश प्रक्षेप हैं। महाभारत के अध्ययन के आरम्भ से ही पश्चिमी विद्वानो के विचार और उनकी खोज इसी दिशा म अग्रसर रही है। पश्चिमी विद्वान् इस विशाल ग्रन्थ के स्वरूप को समझने म असमथ रहे है जिसका धार्मिक अश कथा भाग से चौगुना है।[२४] उनकी खोज के प्रयत्न महाभारत के मूल और प्रक्षिप्त अशो को अलग करने म लग रहे है।[२५]

महाभारत की पश्चिमी आलोचना की यह दिशा आरम्भ से ही रही है। सन् १८२९ मे जमन विद्वान् कौप ने यह मत प्रकट किया था कि महाभारत के सभी अश एक समय की रचना नही है। कौप के बाद लासन ने कौप के मत का समथन किया और महाभारत के विभिन्न अगो को अलग-अलग करने की चेष्टा की। लासन के अनुसार शौनक के सत्र म जिस महाभारत का पाठ हुआ था वह उसका दूसरा सस्करण है। आश्वलायन गृह्यसूत्र मे उल्लिखित महाभारत का यही रूप था। इसके काल का अनुमान लासन ने ईसा से ४०० वष पूव लगाया है। लासन का मत है कि कृष्ण के प्रभुत्व के अनुरूप अश

२२—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१

दुर्विज्ञेय अत सर्व
भारत तु सुरैरपि ।

आनन्दतीथ मध्वाचाय महाभारत तात्पय निणय—२/१४९

२३—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१

२४—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—४

२५—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—४

महाभारत म उसक बाद जोडे गये है।[२६] डा० सुकथनकर का मत है कि लासन यह नही समझ सके कि कृष्ण के प्रभुत्व के अश निकाल देने के बाद महाभारत एक निष्प्राण ग्रथ रह जायगा।[२७]

लासन क बाद सौरनसन न महाभारत के मूलग्रथ का उद्धार करने का प्रयत्न किया, जो ऊर पाठ के नाम से प्रसिद्ध है। वाय ने महाभारत क मूल पाठ के निर्धारण को एक ऐसी समस्या बताया है कि जो अब सुलझने योग्य नही है।[२८] सौरेंनसन क बाद किसी ने ऐसा प्रयत्न नही किया फिर भी पश्चिमी विद्वान् महाभारत के मूल रूप के सम्बन्ध म सिद्धान्तो की कल्पना और उस मूल रूप क निर्धारण की कसौटियो का विवेचन करते रहे। लुटविग ने असगतियो, प्रयासो आवृत्तियो आदि को इस कसौटी के महत्त्वपूर्ण तत्त्व बताया। डा० सुकथनकर का विश्वास है कि ये कसौटिया विश्वसनीय नही है तथा इनके अनुसार महाभारत की सामग्री का विश्लेषण एक प्रकार से व्यक्तिगत धारणा का आग्रह मात्र है।[२]

महाभारत की सामग्री के विश्लेषण का यह प्रयास अमरीकन विद्वान् हौपकिंस के अध्ययन मे अपनी चरमसीमा को पहुचता है। हौपकिंस न भी महाभारत म एकसूत्रता का अभाव पाया है तथा उसके विभिन्न अशो को विभिन्न कालो की रचना बताया है। उन्होने इन विभिन्न अशो क विश्लेषण और काल निर्धारण का प्रयत्न किया।[३०] विंतरनित्स आदि सस्कृत साहित्य के इतिहासकारो न भी इसी मत का समर्थन और इसी प्रणाली का अवलम्बन किया है।

हौल्त्समान नामक एक जर्मन विद्वान् ने महाभारत के सम्बन्ध म एक अद्भुत सिद्धात प्रतिपादित किया है, जिसे महाभारत की आलोचना के

२६—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—५
२७—वही " —पृष्ठ—५
२८—वही " " —पृष्ठ—७
२९—वही " " —पृष्ठ—७
३०—वही " " —पृष्ठ—६

इतिहास मे 'विपर्यय का सिद्धान्त' कहा जाता है। विदेशी विद्वानो को महाभारत के अन्तर्गत अनेक विरोध दिखाई देते हैं। उनमें एक प्रमुख विरोध यह है कि एक ओर पाण्डवो के पक्ष को धर्म का पक्ष बताया गया है किन्तु दूसरी ओर महाभारत मे यह स्पष्ट है कि पाण्डवो ने भीष्म, द्रोणाचार्य कर्ण आदि महारथियो के वध के लिए अनीति और अधर्म का मार्ग अपनाया। इस विरोध का समाधान हाल्ट्जमान ने इस प्रकार किया है कि मूल महाभारत कौरवो की प्रशंसा का काव्य था किन्तु बाद में उसे पाण्डवो के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार महाभारत की रचना में विकास नहीं विपर्यय हुआ है।[३१] डा० सुकथनकर ने होल्ट्जमान के विचारो को अनर्गल बताया है। होल्ट्जमान के अनुसार महाभारत का वर्तमान रूप १२०० ईसवी से पहले उपलब्ध नहीं था। बूलर आदि विद्वानो ने ऐतिहासिक खोजो के आधार पर होल्ट्जमान के इस मत का खण्डन किया है। पाँचवी शताब्दी के दानपत्र महाभारत की शतसाहस्री संहिता को प्रमाणित करते हैं।[३२]

फिर भी श्रोयडर आदि विद्वानो ने होल्ट्जमान के विपर्यय के सिद्धान्त का समर्थन किया। श्रोयडर ने जो इस सिद्धान्त को नवीन रूप दिया, उसके अनुसार मूल महाभारत की रचना कुरुदेश के कवियो ने की और उसमें कुरु जाति की वीरता का वर्णन था। कुरुजाति को पाण्डवों ने जो पांचाल देश के थे अधर्म से पराजित किया। मूल महाभारत में पाण्डवों का पक्ष अधर्म का पक्ष था। बाद में जब कृष्ण भगवान् बन गये तो विजयी पांचालों के समर्थक ब्राह्मण पुरोहितों ने महाभारत को पाण्डवों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया।[३३] होल्ट्जमान ने अपने मत का समर्थन करने के लिए पाण्डवों की उन अनीतियों की ओर संकेत किया है जो उन्होंने भीष्म द्रोण और कर्ण वध के लिए अपनाईं। किन्तु आश्चर्य की बात है कि उन्होंने कौरवों की अनीति की ओर ध्यान नहीं दिया। डा० सुकथनकर ने बताया है कि कौरवों ने पाण्डवों के वध के लिए घोरतर अधर्म का अवलम्बन किया था किन्तु उनके अधर्म के पीछे छल और कुटिलता की चतुर नीति थी। उन्होंने पाण्डवों को

३१—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१४
३२—वही —पृष्ठ—१५
३३—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१६

जीवित जलाने का आयोजन किया था। पाण्डवो के दूत श्रीकृष्ण को मारने का प्रयत्न किया अर्जुन का हृदय दुर्बल बनाने के लिए उन्होंने छल से अभिमन्यु का वध किया। कौरवों के यह अधम पूर्वतर और घोरतर हैं। इनकी तुलना में पाण्डवो की अनीति कहीं अधिक सरल और क्षम्य है।[३४] डा० सुक्थनकर का यह मत होल्ट्जमान के विपर्यय सिद्धांत का स्पष्ट खण्डन करता है। उनके मत में कौरव और पाण्डवो की नीति में जो अन्तर दिखाई देता है वह मनुष्य के भीतरी और बाहरी रूप का अन्तर है। कौरव-पाण्डवों का युद्ध मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्षों का संघर्ष है। यही संघर्ष महाभारत को एक अमर ग्रन्थ बनाता है।[३५]

महाभारत के विभिन्न अंशो के विश्लेषण के प्रयास निष्फल होने पर कुछ पश्चिमी विद्वानो ने महाभारत को समग्र रूप से देखने का प्रयत्न किया। इनमें दाल्हमान का प्रयत्न सबसे अधिक अभिनन्दनीय है। दाल्हमान को महाभारत के विशाल ग्रन्थ में लक्ष्य और प्रयोजन की एकता दिखाई दी। उनके सिद्धान्त को हौपकिंस ने 'संश्लेषण' का सिद्धान्त कहा है जो अन्य विद्वानों के विश्लेषण के सिद्धान्त से विपरीत है। दाल्हमान के अनुसार महाभारत असंगत अंशों का संकलन नहीं है। उसके प्रबन्ध और लक्ष्य में एकसूत्रता है। दाल्हमान महाभारत को एक महाकाव्य के साथ साथ धर्मशास्त्र भी मानते है। उसके धार्मिक अंश प्रक्षिप्त नहीं हैं वरन् उसका आरम्भ से ही धार्मिक रूप है। दाल्हमान का यह मत अन्य पश्चिमी विद्वानो के विपरीत है किन्तु वस्तुतः वे महाभारत के स्वरूप को दूसरों की अपेक्षा अधिक सही समझ सके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत के प्रबन्ध की एकसूत्रता तथा उसके धार्मिक अंशो की प्रधानता के सम्बन्ध में दाल्हमान का मत कुछ अतिरंजित है फिर भी दाल्हमान का मत अन्य पश्चिमी विद्वानो की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। डा० सुक्थनकर ने दाल्हमान के मत का आदर किया है, यद्यपि उनके कुछ विचारों से वे असहमत भी है। दाल्हमान महाभारत को इतिहास नहीं मानते वरन् भारतीय धर्मशास्त्र का एक प्रतीक मानते हैं। द्रौपदी का

३४—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१७

३५—वही " —पृष्ठ—१६

पच-पतिक हिन्दू परिवार की एकता का प्रतीक है। महाभारत का युद्ध ऐतिहासिक नही वरन् धम और अधम के युद्ध का प्रतीक है। दाल्हमान से पहले लुडविग ने भी महाभारत को एक प्रतीक माना था। उनके अनुमार पाण्डव पाँच ऋतुआ के और द्रौपदी पृथिवी की प्रतीक हैं। द्रौपदी का चीर हरण शिशिर की नग्न पृथिवी का प्रतीक है। लुडविग के पहल लासन न भी प्रतीक के रूप मे महाभारत की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विद्वाना मे प्रिंसीपल थडानी न महाभारत को विभिन्न भारतीय दर्शनो और सम्प्रदायो की प्रतीकात्मक व्याख्या माना है।

डा० सुकथनकर का मत है कि महाभारत एक ओर एक ऐतिहासिक काव्य भी है तथा दूसरी ओर एक धमशास्त्र भी है। ऐतिहासिक आधार के कारण ही यह भारतीय जनता म इतना लोकप्रिय रहा है। महाभारत के पात्र और उसकी घटनायें केवल प्रतीक नही हैं वरन् वे वास्तविक तथ्य भी हैं। किन्तु इनके साथ साथ वे जीवन के गम्भीर सिद्धान्तो के प्रतीक भी बन गय हैं। इस प्रकार महाभारत एक ऐतिहासिक काव्य होने के साथ साथ मनुष्य समाज के सघर्षो का एक अमर प्रतीक भी बन गया है। महाभारत के धार्मिक अश उसके अभिन्न अग हैं तथा उसका वतमान रूप बहुत प्राचीन है। पश्चिमी विद्वाना के विश्लेषण अथवा विपयय के सिद्धान्त तथा अन्य ऐतिहासिक खोज जो महाभारत के वतमान रूप की समग्रता का तिरस्कार करती हैं अधिक महत्वपूण नही हैं। पश्चिमी विद्वाना की अनेक मान्यतायें अनयन और आपत्ति जनक भी है। भारतीय साहित्य क सम्बन्ध म ही ऐसी अनगल कल्पनाय पश्चिमी विद्वान् करते रहे हैं और भारतीय विद्वानो की ओर से इनके प्रतिवाद का यत्न बहुत कम प्रयत्न हुआ है। यह भारतवष के लिए अत्यन्त शोचनीय बात है। डा० सुक्थनकर के महाभारत सम्बन्धी भाषण इस सम्बन्ध म एक अपवाद के समान हैं। उनका यह निर्देश कि भारतीय साहित्य का अध्ययन भारतीय दृष्टिकोण स होना चाहिए तथा महाभारत के सम्बन्ध म उनका यह विचार कि हम ऐतिहासिक खोज की अनगल कल्पनाओ को छोडकर महाभारत का अध्ययन स्वय महाभारत क आधार पर करना चाहिए सामान्य रूपस भारतीय साहित्य तथा विशेष रूप स महाभारत क अध्ययन के लिए माग-दशक क समान है।

३—महाभारत की रचना—

परम्परागत विश्वास के अनुसार महाभारत को महर्षि व्यास की रचना माना जाता है। एक लाख श्लोकों के विशाल आकार के ग्रन्थ को एक ही व्यक्ति की रचना मानने में आधुनिक विद्वान् संकोच करते हैं। महाभारत की सामग्री की विविधता के आधार पर भी वे महाभारत में कई प्रकार की रचनात्मक परम्पराओं का सम्मिश्रण देखते हैं। दूसरी ओर भारतीय परम्परा महर्षि वेदव्यास को महाभारत का ही नहीं, वरन् अठारह पुराणों का भी कर्त्ता मानती है। परम्परा का आदर करते हुए भी महाभारत की सामग्री और महाभारत के रचयिता दोनों की दृष्टि से महाभारत की रचना का विचार करना आवश्यक है।

महाभारत की रचना का विचार संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों ने कुछ ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर तथा कुछ महाभारत के अन्त साक्ष्य के आधार पर किया है। विन्तरनित्स आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि ईसा के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध और प्रचलित था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का सर्वप्रथम प्रमाण मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व है।[३६] किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र, पाणिनि आदि के प्रमाणों से महाभारत के आकार और सामग्री के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता।[३७] उक्त प्रमाणों के आधार पर विन्तरनित्स का मत है कि ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध और वर्तमान था चाहे वह एक लाख श्लोकों का न रहा हो।[३८] विन्तरनित्स का अनुमान है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी और ईसा की चौथी शताब्दी के बीच में महाभारत के वर्तमान रूप का विकास हुआ।[३९]

३६—मैक्डोनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८७
३७—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग-१—पृष्ठ ४७१ पादटिप्पणी—३
३८—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १—पृष्ठ ४७३
३९—वही " —पृष्ठ ४७५

महाभारत और उसके रचयिता व्यास का उल्लेख वैदिक गृह्य सूत्रों में मिलता है। किन्तु महाभारत का उल्लेख पाणिनि के यहाँ ही मिलता है। विद्वानों का मत है कि महाभारत युद्ध के अवसर पर प्राचीन भारत में गायन और काव्य होता था।[40] इन आख्यानों में प्राचीन वीरों की गौरव गाथायें गाई जाती थीं। इनके गायक थे सूत, मागध आदि कहे गये। वैदिककाल से ही वीरों और महापुरुषों की यह कीर्ति गाथायें भारतवर्ष में प्रचलित थीं। ये वीर गाथायें ही उस इतिहास के अंग हैं जिसका वर्णन ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलता है तथा जिसे वेद के उपबृंहण का साधन माना जाता है।[41] महाभारत का विशाल वाङ्मय इतिहास इन्हीं प्राचीन गाथाओं की परम्पराओं में है। महाभारत के अन्तर्गत कौरवों-पांडवों के युद्ध की मूलकथा के अतिरिक्त अन्य अनेक उपाख्यान मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि ये उपाख्यान वर्तमान महाभारत की संहिता के संकलन के पूर्व भारतवर्ष की किसी पुरानी गाथा-परम्परा में प्रचलित थे। ये उपाख्यान और गाथायें किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं थे। इन्हें प्राचीन लोक-काव्य कहा जा सकता है। ये एक प्रकार से गायजनित-साहित्यिक-सम्पत्ति के रूप में थे।[42] महाभारत के युद्ध की घटना भी वर्तमान महाभारत संहिता के संकलन के पूर्व इन गाथाओं और गीतियों के रूप में वर्तमान रही होगी।[43] विन्तरनित्स के मत में यही प्राचीन वीर-गाथा वर्तमान महाभारत का आधार है। विन्तरनित्स तथा अन्य विद्वानों का मत है कि लोक-काव्य की परम्परा में महाभारत की मूलगाथा का विस्तार होता गया तथा अन्य अनेक उपाख्यानों का भी उसमें सम्मिश्रण होता गया।[44] इस प्रकार महाभारत का आकार बढ़ता गया। विन्तरनित्स का यह भी मत है कि ब्राह्मणों और पुरोहितों ने

४०—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १—पृष्ठ—३११

४१—इतिहास पुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥
नलिनविलोचन शर्मा साहित्य का इतिहास दर्शन पृष्ठ २

४२—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १—पृष्ठ ३१४

४३—वही —पृष्ठ ३१४

४४—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १—पृष्ठ ३१७ ३२१

बाद मे ब्राह्मण धर्म के अनुकूल कथाओ और नीतियो का भी इसमे सम्मिश्रण कर दिया।[४५] इस प्रकार महाभारत एक काव्यमय इतिहास के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी बन गया।[४६] इस सम्बन्ध मे डाल्हमान और होल्त्समान के मत एक दूसरे के विपरीत है। डाल्हमान का मत है कि महाभारत आरम्भ से ही एक धर्मग्रन्थ था यह मत अधिकांश विद्वानो को मान्य नही है।[४७] इसके विपरीत होल्त्समान का मत है कि ईसा की नवी शताब्दी के बाद ब्राह्मणो ने इसे धर्मग्रन्थ बना दिया। किन्तु अनेक प्रमाणो से यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा की पाचवी शताब्दी से पहले महाभारत अपने वर्तमान रूप मे स्थिर हो चुका था।[४८]

इस प्रकार धीरे धीरे महाभारत मे वीर गाथाओ तथा धर्म और नीति के उपदेशो का मिश्रण और विस्तार होता गया। पश्चिमी विद्वानो के मत मे वर्तमान महाभारत एक दीर्घ परम्परा का पर्यवसान है।[४९] संस्कृत साहित्य के इतिहासकारो का प्राय यह अनुमान है कि महाभारत के वर्तमान रूप का विस्तार तीन चरणो मे तथा तीन संस्करणो के रूप मे हुआ है। इस मत का आधार वे वर्तमान महाभारत के अन्तर्गत मिलने वाले जय भारत, और महाभारत के तीन नामो तथा महाभारत के गायन के तीन आरम्भो मे खोजते हैं। महाभारत के अन्त साक्ष्य से विदित होता है कि प्राचीनकाल मे महाभारत को जय काव्य भी कहा जाता था। वर्तमान महाभारत के आरम्भ मे ही उसे जय काव्य कहा गया है।[५०] एक अन्य स्थान पर भी विजिगीषुओ के लिए

४५—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १ पृष्ठ ३१६
४६—मक्डौनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ २८८
४७—वही " पृष्ठ २८८
४८—वही " " पृष्ठ २८६
४९—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १—पृष्ठ ३१४ ३१८
५०—नारायण नमस्कृत्य नर चव नरोत्तमम्
देवीं सरस्वतीं चव ततो जयमुदीरयेत्।
—मगल श्लोक महाभारत

'जय नामेतिहासोऽयम्।

जय नामक इतिहास सुनने का आरम्भ किया गया है। कई स्थानो पर भारत और अयत्र महाभारत नाम भी मिलते हैं। महाभारत के इन तीन नामो के साथ उनके तीन आरम्भ मिल जाते हैं। महाभारत के अत साक्ष्य से ही विदित होता है कि पहले व्यास ने अपने शिष्य वशम्पायन को महाभारत सुनाया। वशम्पायन ने जनमजय के नागयज्ञ के अवसर पर महाभारत सुनाया। वशम्पायन से महाभारत सुनकर उग्रश्रवा सौति ने उसे नमिषारण्य में शौनक ऋषि के द्वादश वर्षीय सत्र म सुनाया। इन तीन आरम्भो से पश्चिमी विद्वान् इन तीन रचयिताओ के द्वारा महाभारत के तीन सस्करणो की कल्पना करते है। महाभारत म मिलने वाले महाभारत की श्लोक सख्या के विभिन्न सकेतो से वे इस मत की पुष्टि करते हैं। उग्रश्रवा सौति का कथन है कि वे आठहजार आठ सौ श्लोको का महाभारत जानते थे। व्यास का कथन है कि उन्होंने चौबीस हजार श्लोको का महाभारत बनाया। महाभारत म यह भी कहा गया है, कि व्यास ने साठ हजार श्लोको का महाभारत बनाया।[५१] इन प्रमाणो से पश्चिमी विद्वान् महाभारत के तीन सस्करणो म ग्रन्थ के विस्तार का अनुमान लगाते है। सामग्री की विविधता और इन अत साक्ष्यो के आधार पर वे इस मत को प्रमाणित करते है।

पश्चिमी विद्वानो मे दाल्हमान और लसी महाभारत को एक ही व्यक्ति की रचना मानते हैं।[५२] किन्तु विन्तरनित्स उनके निर्णय से सहमत नही है। उनका मत है कि महाभारत के आदिपव म ही इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि महाभारत आरम्भ से ही अपने वतमान रूप म नही था तथा वह एक व्यक्ति और एक काल की रचना नही है। विभिन्न व्यक्तियो के द्वारा विभिन्न युगो म इसका परिवधन होता रहा है।[५३] पश्चिमी परम्परा म दीक्षित अधिकाश भारतीय विद्वान् विन्तरनित्स के इस मत को ही मानते है। भारतीय परम्परा के विद्वानो म पण्डित इन्द्रनारायण द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्पूण महाभारत वेदव्यास की ही रचना है तथा उसके तीन सस्करण नही हुए। उनके अनुसार जय भारत और महाभारत महा

५१—विन्तरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर पृ० ३२४ ३२५
५२—विन्तरनित्स ए हिस्टी आव इण्डियन लिटरेटर—भाग १ पृ० ४५८
५३—वही   पृ० ४६२

भारत के तीन संस्करणों के नाम नहीं वरन् उनके तीन पर्यायवाची नाम हैं। उनके अनुसार चौबीस हजार की श्लोक संख्या उपाख्यानों से रहित महाभारत की है तथा छियत्तर हजार श्लोकों में उपाख्यान है।[५४]

ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से वितरनित्स आदि पश्चिमी विद्वानों के अभिमत के आधार बहुत कुछ संगत प्रतीत होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि भारतीय परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से महाभारत शतसाहस्री संहिता के नाम से विख्यात है तथा महर्षि वेदव्यास की कृति मानी जाती है। महाभारत में ही वैशम्पायन और सौति को उसका वक्ता नहीं, वरन् अनुगायक माना गया है। मुख्यरूप से महाभारत को वेदव्यास की कृति मानना ही उचित है। भारतीय मुनियों और विद्वानों ने अकेले ही विशाल आकार के ग्रन्थ रचे हैं। एक लाख श्लोकों के महाभारत की रचना भी उनके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्राचीन वीर गीतियाँ महाभारत का पूर्ववर्ती हो सकती हैं किन्तु महाभारत उनका संकलन मात्र नहीं है। अपने मूल रूप में महाभारत सम्भवतः महर्षि वेदव्यास की ही रचना है। मौखिक गायन के क्रम लोक काव्य में अनुगायकों के द्वारा कुछ परिवर्धन होना स्वाभाविक है। किन्तु इन परिवर्धनों को महाभारत के संस्करण मानना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विरोध की कल्पना पश्चिमी विद्वानों का आग्रह मात्र है। इतिहास में इस विरोध के कोई प्रमाण नहीं मिलते। वीर गाथा धर्म, नीति आदि के विविध विषयों का सम्मिश्रण भारतीय परम्परा में एक लेखक के द्वारा भी सम्भव है। विषय और शैली की विविधता भी आवश्यक रूप से महाभारत में कई लेखकों के भाग को प्रमाणित नहीं करती। तात्त्विक दृष्टि से महाभारत में अनेक लेखकों की कल्पना उतनी ही संदिग्ध है जितनी कि उसके एक लेखक की कृति होने की कल्पना है। महाभारत की परम्परा और उसकी सम्पूर्ण योजना को देखते हुए उसके मौलिक रूप और उसके अधिकतम अंश को वेदव्यास की कृति मानना नितान्त अनुचित नहीं है। व्यक्तियों स्थानों ग्रन्थों आदि के पर्याय भारतवर्ष में बहुत प्रचलित हैं। संस्कृत पर्याय-बहुल भाषा है। अतः जय भारत और महाभारत के नाम भी आवश्यक रूप से उसके तीन संस्करणों के सूचक नहीं हैं वे एक ही ग्रन्थ के पर्याय भी हो सकते हैं।

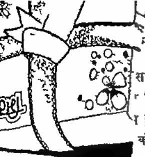
५४—गीता प्रेस का महाभारत खण्ड ३—संख्या ११ पृष्ठ ११०

४—महाभारत का काल—

ऐतिहासिक और धार्मिक अध्ययन की दृष्टि से महाभारत के काल का निर्णय भी आवश्यक है। भारतीय परम्परा में महाभारत के युद्ध का समय द्वापर युग का अन्त और कलियुग का आरम्भ माना जाता है। भारतीय ज्योतिष की गणना के अनुसार कलियुग के आरम्भ का समय ईसा से इकत्तीस सौ दो वर्ष पूर्व माना जाता है। प० इन्द्रनारायण द्विवेदी ने बड़े विस्तार के साथ महाभारत के युद्ध और कलियुग के आरम्भ के काल का निर्णय बड़े विस्तृत विवेचन के साथ किया है।[55] पश्चिमी विद्वान् भारतीय ज्योतिष की इस गणना को आदर नहीं देते। युगों की भारतीय कल्पना तथा महाभारत का युगों के साथ सम्बन्ध उन्हें काल्पनिक और अमान्य प्रतीत होता है।[56] भारत की संस्कृति और उसका साहित्य बहुत प्राचीन है अतः भारतीयों की रुचि अपने ग्रन्थों का समय अधिक प्राचीन मानने की ओर रहती है। यूरोप की संस्कृति और उसका इतिहास अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अतः भारतीय संस्कृति और इतिहास की प्राचीनता के प्रति उनका उचित आदर नहीं है। वे भारतीय ग्रन्थों का समय यथा सम्भव ईसवी सन् के आरम्भ के निकट रखने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में कालगणना का कोई निश्चित आधार न होने के कारण भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों की प्राचीनता प्रमाणित करने का पर्याप्त साधन नहीं मिलता। इस सन्देह की स्थिति में उनको भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों का समय ईसा के अधिक से अधिक निकट रखने का अवसर मिलता है। अनिश्चय की अवस्था में प्राचीन ग्रन्थों और व्यक्तियों के सम्भाव्य काल की अर्वाचीन सीमा के निर्धारण की दृष्टि से उनका यह दृष्टिकोण ठीक है। किन्तु दूसरी ओर यह दृष्टिकोण भारत के प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में एक अनुचित धारणा का पोषण करता है। भारत के जिन प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में काल निर्धारण के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं हैं उनकी प्राचीनता की आस्था को आधुनिक और वैज्ञानिक मानदण्डों के अनुरोध के द्वारा खण्डित करना कहाँ तक उचित है यह विचारणीय है।

५५—गीता प्रेस का महाभारत खण्ड–३, संख्या ११ पृ० १३५।

५६—विंटरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १, पृ० ४७४।



संस्कृति और साहित्य बहुत विशाल है तथा उसके अनुरूप विशाल साहित्य का निर्माण और विकास इतने प्राचीन हुआ होगा। आधुनिक मानदण्डों से इस विकास की की जा सकती। वैज्ञानिक दृष्टि से केवल बुद्ध का समय व कम से कम शताब्दियों का अंतर मानकर महाभारत नपद, ब्राह्मण, वेद आदि के समय का अनुमान लगाया की अर्वाचीन सीमा का निर्णय तो ठीक माना जा सकता है किन्तु इससे प्राचीन ग्रन्थों के वास्तविक काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता वरन् इसके विपरीत उनकी प्राचीनता आच्छादित हो जाती है। इस अर्वाचीन अवधि के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास का आधुनिक काल निर्णय उतना ही संदिग्ध है जितना संदिग्ध कि विश्वासी जनों की तत्सम्बन्धी आस्था को माना जाता है। प्राचीन भारत ग्रन्थों और व्यक्तियों की अर्वाचीन अवधि के वैज्ञानिक निर्धारण ने काल निर्णय के सम्बन्ध में स्वयं अनिश्चित होते हुए भी भारतीय इतिहास के तथ्यों की प्राचीनता को बहुत आघात पहुँचाया है यह प्राचीन भारतीय इतिहास और उसके अध्ययन की एक आधुनिक विडम्बना है।

वेद उपनिषद् आदि के काल निर्णय की भांति महाभारत का काल निर्णय भी पश्चिमी विद्वानों ने उक्त वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार किया है। यह वैज्ञानिक प्रणाली प्राचीन ग्रन्थों और तथ्यों की अर्वाचीन अवधि निर्धारण करके केवल यह सिद्ध करती है कि कोई अमुक ग्रन्थ अथवा व्यक्ति इस अवधि के बाद का नहीं हो सकता। यह अवधि ठीक होते हुए भी इसके निर्धारण से इन ग्रन्थों और तथ्यों का वास्तविक समय निश्चित नहीं होता वरन् इसके विपरीत इनकी प्राचीनता की आस्था विचलित होती है। महाभारत के काल निर्णय का आधुनिक वैज्ञानिक विधि के अनुसार काल की सीमा ईसवी सन् के आरम्भ से आरम्भ होती है। ईसा की पहली शताब्दी में डायोनक्राइसास्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक भारतवर्ष में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। यह ग्रीक लेखक दक्षिण भारत में आया था इससे सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में दक्षिण भारत में महाभारत का प्रचार था। [५७] उक्त ग्रीक लेखक का संकेत निश्चित रूप से

५७—सी० वी० वैद्य महाभारत मीमांसा—पृ०—४३।

महाभारत की ओर है, क्योंकि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का एक यही ग्रन्थ प्रसिद्ध रहा है। डायोनक्राइसोस्टोम के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि महाभारत के अस्तित्व की अर्वाचीन अवधि ईसा की पहली शताब्दी अथवा ईसवी सन् ५० है। होल्समान आदि विद्वानों का यह अभिमत कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की नवीं—दसवीं शताब्दी के निकट बना होगा पूर्णत असत्य है।[५८] ईसा की सातवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने तथा कवि सुबन्धु और बाण ने महाभारत का उल्लेख किया है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के कई दानपत्रों में एक लाख श्लोकों के महाभारत और उसके रचयिता महर्षि व्यास का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया गया है।[५९] इसके पूर्व भी महाभारत के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उनमें भारत अथवा महाभारत के नाम का ही निर्देश मिलता है महाभारत के विषय और आकार का प्रमाण नहीं मिलता। उक्त दानपत्रों से यह प्रमाणित हो जाता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व एक लाख श्लोकों का महाभारत स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था तथा भारत के सभी भागों में उसकी कथा का प्रचार था।[६०] यदि महाभारत की इस प्रतिष्ठा और उसके प्रचार के लिए सौ दो सौ वर्ष का समय भी दिया जाय तो यही निष्कर्ष होगा कि ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी तक एक लाख श्लोकों का महाभारत स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था और प्रसिद्ध हो चुका था।

किन्तु इसके पूर्व महाभारत संहिता के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे महाभारत के विषय और आकार के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं होता। उक्त दानपत्रों के पूर्व महाभारत के नाम का उल्लेख तो इसका पूर्व पाँचवीं शताब्दी से मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में सबसे पहले महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। साहित्य के इतिहासकार आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी मानते हैं।[६१] इसके पूर्व महाभारत के

५८—वितरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १, पृ० ४६३।
मक्डौनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २८६।
५९—वही „ पृ० २८८।
६०—वितरनित्स ए हिस्ट्री आवइण्डियन लिटरेचर भाग १, पृ० ४६३।
६१—मक्डौनल ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २८७।
वितरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १, पृ० ४७१।

नाम का उल्लेख उपलब्ध साहित्य मे नही मिलता इसी से पश्चिमी विद्वान् ई० पूव पाँचवी शताब्दी को महाभारत की रचना की प्राचीनतम अवधि मानते है। विंतरनित्स का मत है कि ईसवी पूव चौथी शताब्दी मे लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक महाभारत के वतमान रूप का विकास हुआ है।[६२] पाँचवी शताब्दी के दानपत्रो से पहले एक लाख श्लोको के महाभारत का कोई प्रमाण नही मिलता, इसस विदेशी विद्वान् यही अनुमान लगाते हैं कि इससे पहले एक लाख श्लोको का महाभारत विद्यमान नहीं था। वे तीन संस्करणो म महाभारत का विकास मानते हैं। ईसवी पूव पाचवी शताब्दी म जिस महाभारत का उल्लेख मिलता है वह व्यास का चौबीस हजार श्लोको वाला महाभारत रहा होगा और उसके बाद ईसा की पाचवी शताब्दी तक एक लाख श्लोको म उसका विस्तार हुआ होगा।

किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र म भारत और महाभारत दोनो नाम मिलते है। आकार की विशालता के कारण ही इसको 'महाभारत' का नाम मिला है। यदि एक लाख श्लोक संख्या के कारण इसे महाभारत का नाम मिला हो तब तो ईसा से पाच शताब्दी पूव इसका अस्तित्व मानना होगा। महाभारत म चन्द्रगुप्त का कही उल्लेख नही है इससे सम्पूर्ण महाभारत का ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले होने का सकेत मिलता है। अनेक प्राचीन ग्रन्थो के परिवर्धित रूपो म अर्वाचीन प्रसग मिलते हैं इससे यह प्रमाणित होता है कि मूल रूप म प्राचीन होते हुए भी आगे चलकर इन ग्रन्थों का परिवर्धन उन कालो म हुआ है जिनका सकेत अर्वाचीन सदर्भों से मिलता है। महाभारत के सम्बन्ध म बाह्य प्रमाणो का अनुसधान बहुत हुआ है। महाभारत के तीन नामो और विभिन्न श्लोक संख्याओ के अन्त साक्ष्य के आधार पर उसके परिवधन की कल्पना की गई है, किन्तु महाभारत म मिलने वाले तथ्यो के अन्त साक्ष्य के आधार पर यह अनुसधान करने का कदाचित् कोई प्रयत्न नहीं किया गया है कि इसम किस शताब्दी के बाद के तथ्यो का उल्लेख नही मिलता। ऐसे अनुसधान से उस शताब्दी के पूव महाभारत के वतमान रूप का अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा। यदि द्विवेदी जी के मतानुसार चौबीस हजार श्लोक

६२—विंतरनित्स ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ४६४ ४७५।

की संख्या को महाभारत के किसी संस्करण की श्लोक संख्या न मान कर उपाख्यान रहित श्लोकों का संग्रह माना जाय, और आठ हजार आठ सौ कूट श्लोकों की संख्या मान ली जाये तो सम्पूर्ण महाभारत व्यासकृत और मौलिक सिद्ध होता है। वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ में महाभारत सुनाया था और वे व्यास के शिष्य थे। अतः व्यास और वैशम्पायन के महाभारतों में आकार और काल का अधिक अन्तर न रहा होगा। अनुगायन में कुछ परिवर्धन होने की सम्भावना अवश्य हो सकती है। व्यास कौरव पाण्डवों के समकालीन थे। अतः इससे भी महाभारत की प्राचीनता का संकेत मिलता है। यदि वर्तमान महाभारत की एक लाख श्लोक संख्या का प्रमाण उक्त दानपत्रों से नहीं मिलता तो उसे असिद्ध करने का भी कोई प्रमाण इससे पहले की शताब्दियों में नहीं मिलता। महाभारत के तीन नामों और तीन वक्ताओं तथा विषयों की विभिन्नता के आधार पर महाभारत के परिवर्धन आदि के सम्बन्ध में जो मत उपस्थित किये गये हैं वे केवल सम्भावनाओं का संकेत करते हैं उन्हें भी पूर्णतः प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। यह भारतीय विद्या की विडम्बना है कि संदिग्ध अभिमतों को भी सिद्ध प्रमाणों का पद मिलता है और संदिग्ध सम्भावनायें भारतीय परम्पराओं की पवित्रता एवं प्राचीनता का खण्डित करने के लिए पर्याप्त मानी जाती हैं।

५ – महाभारत का सनातन महत्त्व

ऊपर के प्रकरणों में महाभारत के स्वरूप, उसकी सामग्री, उसकी रचना और उसके काल के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक विवरण एवं विवेचन किया गया है। आधुनिक और वैज्ञानिक अध्ययन में प्राचीन ग्रन्थों के विवेचन के लिए भी यह भूमिका आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर महाभारत के अध्ययन की यह भूमिका प्रस्तुत की गई है। इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। इन विद्वानों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक अवश्य है किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य की ओर अधिक आदरपूर्ण नहीं। प्रायः पश्चिमी विद्वानों में इन अध्ययनों में भारतीय साहित्य के प्रति तिरस्कार का भाव पाया जाता है। पश्चिमी विद्वानों के अधिकांश अध्ययन ऐतिहासिक ही हैं। वे प्राचीन ग्रन्थों की सामग्री, संस्करण, समय आदि के विवेचन को ही अधिक महत्त्व देते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के विषय-तत्त्व के आदरपूर्ण अध्ययन की ओर उनकी अभिरुचि कम रही है। विश्वासों, साम्राज्यवाद, ईसाई धर्म आदि इन विद्वानों के लिए भारतीय विचार-तत्त्व के समुचित मूल्यांकन में बाधक रहे हैं। इन विदेशी विद्वानों ने

आधुनिक युग मे प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया यह भारत के प्रति उनका चिरन्तन उपकार है। इनके मार्गदर्शन न ही भारतीय विद्वानो के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन की दिशा का निधारण किया। अधिकाश भारतीय विद्वान उन्ही के द्वारा निर्धारित परिपाटी के अनुसार प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करते रहे हैं। भारतीय साहित्य बहुत प्राचीन है तथा प्राचीन होने के कारण उसमे सम्बन्ध रखने वाले एतिहासिक तथ्यो के निर्णय कठिन हो जाते हैं। प्राय यह निर्णय अनिश्चित सदिग्ध और काल्पनिक रहते हैं। किन्तु यह सदिग्ध निर्णय भी पश्चिमी विद्वानो की प्रतिभा और उनके प्रभाव से इतने महत्वपूर्ण बन गये हैं कि लगभग एक शताब्दी से भारतीय विद्वान् और विद्यार्थी इन्ही मे उलझे रहे हैं। खेद की बात है कि अधिकाश भारतीय विद्वान् भी प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध म ऐतिहासिक तथ्यो के विवेचन म ही लगे रहे हैं। भारतीय विचार तत्व के आदरपूर्ण मूल्याकन की ओर समुचित ध्यान नही दिया गया है। प्राचीन परिपाटी के भारतीय विद्वान् भारतीय विचारतत्वो की श्रेष्ठता की जो प्रशसा करते रहे हैं, वह आधुनिक तर्क युग म अधिक आदर नही पा सकती। अत प्राचीन भारतीय विचार तत्वो का एक ऐसा सन्तुलित मूल्याकन अपेक्षित है, जो एक ओर एतिहासिक अनिश्चिया के प्रभाव से आच्छादित न हो, तथा दूसरी ओर प्राचीन परिपाटी की प्रशसा से भी मुक्त हो। प्राचीन ग्रन्थो के तथ्यो पर आश्रित तथा जीवन के मूल्यो से अन्वित होने पर ऐसा मूल्याकन अधिक महत्वपूर्ण बन सकेगा तथा प्राचीन भारतीय साहित्य के स्थायी गौरव की रक्षा कर सकेगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध म 'महाभारत म धर्म' का ऐसा ही विवरण विवेचन और मूल्याकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। ऊपर के प्रकरणो म भूमिका के रूप मे महाभारत की रचना और उसके काल के सम्बन्ध म कुछ एतिहासिक विवरण आवश्यक समझकर दिया गया है। ग्रन्थ के अधिकाश भाग म महाभारत की शतसाहस्री सहिता को मानकर उसी म प्राप्त सामग्री के आधार पर महाभारत के अनुसार धर्म के स्वरूप तथा उसके विविध पक्षो का विवरण एव विवेचन किया गया है। एतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से भी प्रमाणित हो चुका है कि एक लाख श्लोको की सहिता के रूप म महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसा की पाचवी शताब्दी म स्थिर हो चुका था। जिन प्रमाणो के आधार पर उक्त निर्णय किया गया है, उन प्रमाणो

से भी शताब्दियों पहले महाभारत का यह रूप वर्तमान रहा हो, यह बहुत सम्भव है। इससे पहले कुछ शताब्दियों में कई प्रतिभाओं के योग से एक लाख श्लोकों के महाभारत का रूप विकसित हुआ हो, यह सम्भव है। यदि भारतीय परम्परा की इस मान्यता को कि एक लाख श्लोकों का सम्पूर्ण महाभारत व्यास जी द्वारा रचित है प्रमाणित नहीं किया जा सकता तो दूसरी ओर महाभारत के तीन संस्करणों तथा उनके क्रमिक विकास की कल्पना भी अनुमान मात्र कही जा सकती है।

महाभारत की सामग्री और उसके समय की ऐतिहासिक समस्याओं का महाभारत के विचार तत्वों के सनातन महत्त्व पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। महाभारत की शतसाहस्री संहिता का रूप भी ईसा की पाँचवीं शताब्दी में सम्पन्न हो चुका था। उसके पहले यदि महाभारत के निर्माण में व्यास के अतिरिक्त अन्य प्रतिभाओं का योग रहा हो तो इससे महाभारत के विचार तत्वों का महत्त्व कम नहीं होता। इन विचार तत्वों का महत्त्व सनातन है रचना काल आदि ऐतिहासिक तथ्यों से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि यह विचारतत्व विभिन्न कालों में विभिन्न लेखकों के योग से महाभारत के वर्तमान रूप में एकत्र हुए हैं तो भी जीवन के सिद्धान्तों के रूप में इनका महत्त्व समान और सर्वकालीन है। भारतीय विचारतत्वों में जीवन क्षेत्र के विस्तार के कारण विभिन्नता अवश्य मिलती है, किन्तु उनमें विरोध बहुत कम है। इसका कारण यह है कि प्राचीन भारत की एक ही धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा में इन विविध विचार तत्वों का विकास हुआ है। व्यक्ति और काल का महत्त्व इस परम्परा में बहुत कम रहा है। जीवन के सनातन तत्वों और शाश्वत मूल्यों की ओर ही भारतीय विचारकों का ध्यान अधिक रहा है। आज व्यक्तित्व को महत्त्व न देकर वे ऐसी सामान्य परम्परा में खो गए हैं। अपने व्यक्तित्व तथा देश काल आदि का उल्लेख बहुत कम किया है। इसलिए प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों का निर्णय आज कठिन हो गया है। भारतीय संस्कृति की दृष्टि जीवन के सार्वभौम तत्वों और मूल्यों की ओर रही है। व्यक्तिगत कालक्रम तथा अन्य ऐतिहासिक तथ्यों का उसमें अधिक महत्त्व नहीं है। यह ऐसी सनातन दृष्टि का परिणाम है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलते। इन तथ्यों के अभाव में ही किन्हीं विद्वानों का प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में अनुमान

प्रस्तुत करन का अवसर मिला है। इनम बहुत से अनुमान खण्डित भी हो चुक है। जो अनुमान प्रचलित हैं, उनका भी आधार बहुत अल्प और दुर्बल है। भारतीय साहित्य क सम्बन्ध मे ही ऐस अनुमाना को आदर मिला है। यह भारत की उदारता उदासीनता और दुबलता का परिणाम है।

प्राचीन साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययना का अपना महत्त्व है। भारतीय साहित्य की प्राचीनता और इस साहित्य म भारतीया के शाश्वत दृष्टिकोण क कारण ऐतिहासिक तथ्या की बहुत कमी है। अत यह ऐतिहासिक अध्ययन बहुत सदिग्ध और अनिश्चित रह जाते हैं। ऐसी स्थिति म ऐतिहासिक अध्ययन का अधिक महत्त्व देना साहित्यिक और राष्ट्रीय दानो दृष्टिया स अनुचित है। साहित्यिक दृष्टि से यह उस साहित्य की भावना के साथ अन्याय है जो स्वय ऐतिहासिक तथ्या का अधिक महत्त्व नही देता। राष्ट्रीय दृष्टि म सदिग्ध और अनिश्चित ऐतिहासिक निणय हमार प्राचीन साहित्य की प्राचीनता और पवित्रता का आघात पहुचात हैं। यह आघात हमारी राष्ट्रीय भावना को भी क्षति पहुचाते है, इसकी ओर भारतीय विद्वाना और विचारका ने समुचित ध्यान नही दिया है। इन ऐतिहासिक अनुमानो स प्राचीन भारतीय साहित्य क सनातन तत्वा का महत्त्व भी कम हो जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन म महाभारत के इन सनातन तत्वा म धम-सम्बन्धी तत्वो का विवरण एव विवेचन प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के धार्मिक तत्त्व भारतीय संस्कृति की समान परम्परा म विकसित हुए हैं तथा अन्य धम शास्त्रा क बहुत कुछ अनुकूल हैं। विचारा की समानता के कारण इन तत्वा का सनातन महत्त्व एतिहासिक तथ्यो के कारण कम नही होता। कथा और इतिहास क रूप मे भी भारतीय परम्परा म महाभारत का सनातन महत्त्व है। महाभारत के पात्र एक सनातन व्यक्तित्व स युक्त हा गय हैं तथा महाभारत की कथा रामायण की कथा का भांति एक सनातन कथा बन गई है। धम सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार क विचार तत्वा का महत्त्व कथा स भी स्वतन्त्र अपने शाश्वत मूल्या के कारण है। पश्चिमी विद्वाना न महाभारत म मिलने वाली धार्मिक कथाओ तथा धमशास्त्र सम्बन्धी उपदेशा को ब्राह्मणा एव पुरोहितो के द्वारा जोडी हुई बताया है। उनक मत म महाभारत का मौलिक रूप भरतवंशी क्षत्रिया का कीर्ति काव्य है। व क्षत्रिया और ब्राह्मणा क दृष्टिकोणा म विरोध देखते हैं। किन्तु सत्य यह है कि ऐसा विरोध भारतवष म किसी

समय नहीं रहा। जातिवाद के विदेशी और भारतीय विरोधियों ने जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों में जो विरोध का अभाव रहा है, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। महाभारत में मिलने वाले धर्म सम्बन्धी तत्व चाहे इतने विस्तृत रूप में महाभारत की मौलिक कथा के अन्तर्गत न रहे हों किन्तु लगभग दो हजार वर्ष से मिलने वाली शतसाहस्री संहिता के वे अभिन्न अंग बन गये हैं। जिन कथाओं प्रसंगों के साथ यह धर्म सम्बन्धी तत्व मिलते हैं उनके साथ उनकी वस्तुतः कुछ संगति है। इस प्रकार एक पुरातन कथा और धर्मशास्त्र दोनों ही रूपों में महाभारत का सनातन महत्त्व है। ऐतिहासिक तथ्यों की संक्षिप्त भूमिका देकर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में महाभारत के धर्म सम्बन्धी तत्वों का इसी दृष्टिकोण से विवरण और विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में महाभारत के अध्ययन के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसकी प्रेरणा महाभारत के महान् और अधिकारी विद्वान् डा० सुक्थनकर के विचारों से मिली है। उन्होंने अपने महाभारत सम्बन्धी ग्रन्थ में पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोज का विवरण देकर यह मत व्यक्त किया है कि पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोज महाभारत के मुख्य लक्ष्य से दूर चली गई है।[६३] महाभारत के मूल और प्रक्षिप्त अंशों को पृथक् करके उसके मूल रूप के निर्धारण के प्रयास सम्भवतः सफल नहीं हो सकते।[६४] इस विश्लेषण से महाभारत के सामान्य रूप और लक्ष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं।[६५] महाभारत के जिन धर्म सम्बन्धी अंशों को अधिकांश पश्चिमी विद्वान् बाद में जोड़ा हुआ मानते हैं वे डा० सुक्थनकर के अनुसार महाभारत के वर्तमान रूप के अभिन्न अंग बन गये हैं।[६६] अनेक प्रमाणों के साथ डा० सुक्थनकर ने महाभारत में धर्म की प्रधानता का निर्देश किया है। अगले अध्याय में डा० सुक्थनकर के निर्देशों का विस्तृत विवरण दिया गया है। महाभारत के धार्मिक लक्ष्य और महत्त्व को ध्यान देने पर उसके विकास काल आदि से सम्बन्ध रखने वाली ऐतिहासिक

६३—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृ० १८
६४—वही „ पृ० ३०-३१
६५—वही „ „ पृ० २३
६६—वही „ „ पृ० ६६

आलोचना का महत्त्व बहुत कम हो जाता है।[६७] उनके मत में यह महाभारत का मुख्य लक्ष्य जीवन की धर्म सम्बन्धी समस्या है।[६८] यही महाभारत का सनातन महत्त्व है जो ऐतिहासिक आलोचनाओं और खोजों से प्रभावित अथवा परिवर्तित नहीं होता।[६९] पश्चिमी आलोचकों ने अपने ऐतिहासिक खोज के दृष्टिकोण को प्रमुखता देकर महाभारत के इस सनातन धार्मिक महत्त्व को अत्यन्त गौण बना दिया है। ऐतिहासिक आलोचना के अरण्य में धर्म तत्त्व का यह तीर्थ लुप्त सा हो गया है। डा० सुक्थनकर महाभारत के उन विद्वानों में प्रमुख हैं जिन्होंने इस साहस और विश्वास के साथ यह स्मरण दिलाया है कि हमारा मुख्य ध्येय महाभारत के धर्मतत्त्व की तीर्थयात्रा है। हम ऐतिहासिक आलोचना के अरण्य में ही भटककर न रह जाना चाहिए। ऐतिहासिक आलोचना का अपना स्थान है किन्तु महाभारत के वर्तमान स्वरूप की रक्षा भारतीयों ने दो हजार वर्ष से की है।[७०] ऐतिहासिक आलोचना के निर्णयों की अपेक्षा उसका वर्तमान रूप अधिक माननीय है। जिस वर्तमान रूप में महाभारत युगों से प्रसिद्ध है उसी रूप में प्रमाण मानकर हमें अध्ययन करना चाहिए।[७१] अपने पूर्वाग्रह के कारण पश्चिमी विद्वान् महाभारत का सही मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे हैं।[७२] आश्चर्य और खेद की बात यह है कि भारतीय विद्वानों का दृष्टिकोण भी पश्चिमी विद्वानों के विचारों से प्रभावित रहा है। डा० सुक्थनकर ने भारतीय विद्वानों को एक महान् सन्देश दिया है, उन्होंने कहा है कि अब समय आ गया है जबकि हम अब अपने प्राचीन और पवित्र धर्मग्रन्थों का अध्ययन अपने भारतीय दृष्टिकोण से करें जो युगों से भारतीय जनता के पथ प्रदर्शक तथा आध्यात्मिक शान्ति के आश्रय रहे हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में डा० सुक्थनकर के इसी महान् सन्देश का यथाशक्ति पालन किया गया है तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनिश्चयात्मक प्रपंच को अधिक प्रमुखता न देकर महाभारत के सनातन धर्मतत्त्व का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

६७—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ १२३
६८—वही „ „ पृ० १२४
६९—वही „ „ पृ० २३
७०—वही „ „ पृ० ६८
७१—वही „ „ पृ० ३१
७२—वही „ „ पृष्ठ ६५ ८७

अध्याय—३

महाभारत मे धर्म

१— महाभारत मे धर्म का स्थान—

पश्चिमी विद्वानो ने महाभारत का अध्ययन और विवेचन मुख्यत ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। विदेशी होने के नाते उनका यह दृष्टिकोण स्वाभाविक है। महाभारत के प्रति उनकी ऐसी श्रद्धा नही है जैसी कि भारतीय जनता की उसके प्रति रही है। अधिक से अधिक वे इतना कर सकते थे कि विद्वान् होने के नाते वे महाभारत के प्रति भारतीय श्रद्धा का आदर करते तथा इस आदर के प्रभाव से महाभारत के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन को आदर की मर्यादा के भीतर रखते। ऐसी स्थिति मे उनको महाभारत की रचना तथा उसके पात्रो के बारे मे ऐसी अनर्गल और अनादर पूर्ण कल्पनायें करने का अवसर न रहता जैसी कल्पनाये उनकी ऐतिहासिक आलोचना मे प्राय मिल जाती हैं। इस सम्बन्ध मे महाभारत के विषय मे हाल्त्समान, हौपकिन्स श्रोयडर आदि विद्वानो की अनर्गल कल्पनाये स्मरणीय है। इनके अद्भुत मतो का उल्लेख डा० सुक्थनकर ने अपने ग्रन्थ मे किया है।[1] पश्चिमी विद्वानो की यह अनर्गल ऊहायें एक ओर महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ का अनादर करती हैं वहाँ दूसरी ओर वे इन विद्वानो के शील का भी अपमान करती हैं। केवल सम्भावनाओ और ऊहाओ के आधार पर ऐसे अनादरपूर्ण मत विद्वानो के द्वारा ससार के किसी भी महान और प्राचीन ग्रन्थ के प्रति प्रकट नही किये गये हैं। भारतीय अध्ययन के सम्बन्ध मे ऐसे अनर्गल मत भारतवर्ष के गौरव और विद्वत्ता की मर्यादा दोनो के लिए अपमान जनक हैं।

महाभारत के सम्बन्ध मे पश्चिमी विद्वानो का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक

१—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ १४ से १८ तक

खोज का मुख्य निष्कर्ष यह है कि महाभारत के धार्मिक तत्व उसमें ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े गये है। अधिकांश पश्चिमी विद्वानो का मत यह है कि महाभारत का मूल प्राचीन सूतों के कीर्ति काव्य में है और आरम्भ में महाभारत की रचना भी ऐसे ही कीर्ति काव्य के रूप में हुई होगी। कई विदेशी विद्वान् महाभारत के इस मूल स्वरूप की खोज में भी रहे और उन्होंने अपनी दृष्टि से प्रक्षिप्त अंशों को निकालकर महाभारत के इस मूल काव्य के निर्धारण का प्रयत्न किया। भारतीय विद्वानो में श्री रमेशचन्द्र दत्त भी इसी पश्चिमी धारणा से प्रभावित रहे तथा वे महाभारत के मूल काव्य के लुप्त होने पर तथा उसमें धार्मिक तत्वो के मिश्रित हो जाने पर खेद करते रहे। उन्होंने भी अपने महाभारत के अनुवाद में महाभारत के मूल काव्य के उद्धार का प्रयत्न किया है। अधिकांश पश्चिमी विद्वान् महाभारत के धर्म सम्बन्धी अंशों का प्रक्षेप मानते है। किन्तु भारतीय परम्परा में महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की इस धारणा के विपरीत धारणा प्रचलित रही है। भारतीय परम्परा मे महाभारत एक पवित्र धर्मशास्त्र के रूप मे मान्य रहा है। चाहे किसी भी रूप मे महाभारत का विकास हुआ हो किन्तु लगभग दो हजार वर्ष से वह अपने वर्तमान तथा धर्मप्रधान रूप में ही प्रतिष्ठित है। पाँचवी शताब्दी के दानपत्रों में एक पवित्र धर्मग्रन्थ के रूप मे ही उसका उल्लेख मिलता है। मन्दिरो में महाभारत के पाठ और गायन के प्रमाण भी मिलते है। धर्मराज युधिष्ठिर तथा धर्मयुद्ध के प्रसंग से जनसाधारण में धर्मशास्त्र के रूप में ही महाभारत का मान रहा है। महाभारत का इतिहास और काव्य उसके इस धार्मिक पक्ष का एक निमित्त अथवा आधार बन गया है। कथा प्रसंगों में ही धर्म के विस्तृत उद्देश्य नही मिलते वरन् महाभारत की कथा के मुख्य पात्र धर्म और अधर्म की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक बन गये है तथा स्वयं महाभारत की मूल कथा भी इतिहास होने के साथ साथ स्वरूपतः धार्मिक बन गई है। श्रीकृष्ण को महाभारत में सर्वत्र भगवान् का अवतार माना गया है तथा उनके नेतृत्व ने महाभारत की धार्मिकता को दिव्य एवं आध्यात्मिक बना दिया है। आकार और परिमाण की दृष्टि से भी महाभारत के धार्मिक अंश उसके मूल कथा भाग से कई गुने अधिक हैं। यह परिमाण की अधिकता भी महाभारत के धार्मिक पक्ष को प्रमुख बना देती है। पात्रों के चरित्रों में प्रतीकों के लक्षण निखरने के कारण तथा कथा के स्वरूपतः शिक्षामय बन जाने के कारण महाभारत के धार्मिक अंश उसके कथा और काव्य से समन्वित होकर

एकरस हो गये हैं। इस समन्वय के द्वारा सम्पूर्ण महाभारत का रूप धार्मिक बन गया है।

विषय की दृष्टि से भी महाभारत में धर्म की प्रधानता है। महाभारत की मूल कथा के प्रसंग में स्थान स्थान पर महत्वपूर्ण धार्मिक शिक्षा दी गई है। शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व में धर्म और नीति की शिक्षा अधिक विस्तार के साथ मिलती है। विस्तार के कारण विदेशी विद्वान् इन अंशों को पीछे से जोड़ा हुआ मानते हैं। किन्तु भीष्मपितामह के छः मास तक शरशय्या पर पड़े रहने के कारण महाभारत की कथा में एक स्वाभाविक अवकाश बन गया है तथा विस्तृत धर्मोपदेश के लिए इस अवकाश का उपयोग उचित ही किया गया है। डा० सुक्थनकर ने इस रूप में महाभारत के प्रबन्ध की एकता का समर्थन किया है। अधिकांश विदेशी विद्वान् ऐसे अवकाशों और इनमें दिये गये धर्म-उपदेशों को प्रक्षिप्त मानते हैं। किन्तु लुडविग और डाल्हमान महाभारत के सम्पूर्ण प्रबन्ध की एकता को मानते हैं। इनमें एक डाल्हमान महाभारत के धार्मिक उद्देश्य को भी स्वीकार करते हैं। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व के अतिरिक्त अन्य अनेक कथा प्रसंगों में धार्मिक उपदेश बिखरे हुए हैं। मूलकथा के प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रासंगिक उपाख्यानों में धर्म की शिक्षा दी गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत का रूप प्रधानतः धार्मिक बन गया है। महाभारत के काव्य को धर्म काव्य कहना अनुचित न होगा। धर्म ही उसकी आत्मा है धर्म ही उसका प्राण है और धर्म ही उसका मुख्य कलेवर है। कथा और उपाख्यान महाभारत के धर्मकाय के अंग से जान पड़ते हैं। कौरव-पाण्डवों की कथा महाभारत के काव्य का मूल अवश्य है किन्तु धर्म ही काव्य के इस कल्पवृक्ष का स्तम्भ है और धर्म के ही विविध क्षेत्रों में इसकी शाखायें फैली हुई हैं। धर्म के ही फल फूल काव्य के इस कल्प वृक्ष पर फले फूले हैं। पाण्डवों ने जिन संकटों कठिनाइयों और अपमानों का सामना किया वे धर्म की परीक्षा के रूप में उपस्थित हुए हैं। युधिष्ठिर का धैर्य धर्म और सत्य की आस्था का आदर्श उदाहरण है। श्रीकृष्ण का नेतृत्व धर्म के मार्ग में ईश्वरीय सहायता का संकेत करता है। पाण्डवों की विजय अन्त में धर्म की ही विजय है। महाभारत की मूल कथा के प्रसंग में धर्म की ये गाथायें और उसके ये फल कथा के वर्तमान और प्रसिद्ध रूप में स्पष्ट निनाद रहे हैं। अन्य उपाख्यानों तथा अन्य अवसरों पर भी धर्म का अनेक

गाथायें और धम के अनत फल फूल काव्य के इस कल्पवृक्ष पर विकसित हुए हैं। वर्णों और आश्रमों के धम तथा अन्य अनत धार्मिक आचार इनमें विशेष रूप से गिनाये जा सकते हैं।

इस प्रकार लक्ष्य और विषय दोनों की दृष्टि से महाभारत म धम की ही प्रधानता है। इसी कारण दो हजार (२०००) वष से महाभारत एक धम ग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठित रहा है। प्राचीन राजवशो के युद्ध का इतिहास होते हुए भी भारतीय जनता की महाभारत के प्रति भावना धार्मिक ही रही है। ऐतिहासिक घटना होते हुए भी राम रावण के युद्ध की भाति कौरव पाण्डवो का युद्ध भी एक धम युद्ध बन गया है। कौरवो की अनीति और उनके अत्याचारो न उनके पक्ष को अधम का पक्ष बना दिया है। युधिष्ठिर को द्यूत के लिए विवश करना लाक्षागृह म पाण्डवो को जीवित जलाने का षड्यन्त्र द्रौपदी का चीरहरण अभिमन्यु का वध द्रौपदी के पाच पुत्रो का वध आदि कौरवो की अनीति के भीषण उदाहरण हैं। धृतराष्ट्र भीष्मपितामह द्रोणा चाय जसे वृद्ध और कण जसे उदात्त चरित्र इस अनीति के साक्षी ही नही वरन् सहभागी हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कौरवपक्ष अनीति और अधम का पक्ष बन गया है। भीष्म द्रोण कण आदि के वध के प्रसग म किय गये पाण्डवो के छल कौरवो की उक्त भीषण अनीतियो के सामने तुच्छ हैं। युधिष्ठिर के धय तथा भीम अर्जुन द्रौपदी आदि के सयम न पाण्डवो के पक्ष को धम का दृढ आधार दिया है। इतिहास होते हुए भी महाभारत के पात्र धम और अधम की वृत्तियो के प्रतीक बन गये हैं। घटनाओ के प्रसग में भी धम के अनेक पक्ष प्रकट हुए हैं। कथा प्रसगो म भी धम के नतिकशील की शिक्षा तथा वर्णों और आश्रमो के आचार का विवरण महाभारत म विपुलता से मिलते हैं। इस प्रकार लक्ष्य के साथ-साथ विषय के रूप म भी महाभारत म धम की प्रधानता है। प्राचीन इतिहास का सुन्दर काव्य होते हुए भी प्रधान रूप म महाभारत धम सम्बन्धी विषयो का विश्वकोष तथा एक धमग्रन्थ बन गया है।

२—महाभारत का अन्त साक्ष्य—

भारतीय परम्परा म महाभारत को एक धमग्रन्थ की दृष्टि से देखा जाता है। इस परम्परा की आस्था का आधार स्वय महाभारत म मिलता है।

यह भी सम्भव हो सकता है कि लोक परम्परा को महाभारत के उन वचनों से प्रेरणा मिली हो जिनमें महाभारत को एक धर्मशास्त्र बताया गया है। महाभारत के आरम्भ में ही सौति ने कहा है कि महाभारत एक महान् धर्मशास्त्र है।[२] महाभारत के माहात्म्य में भी महाभारत को पवित्र धर्मशास्त्र कहा गया है।[३] अपने आकार की विशालता और विषयों की प्रचुरता के कारण महाभारत भारतीय जीवन और संस्कृति का एक विश्वकोष बन गया है। उसमें धर्म के अतिरिक्त अर्थ मोक्ष आदि के विवरण भी विपुलता से मिलते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि महाभारत केवल एक धर्मशास्त्र है उसमें अर्थ काम और मोक्ष का भी समुचित वर्णन मिलता है। स्वयं महाभारत में जहाँ उसे धर्मशास्त्र कहा गया है वहाँ इसके साथ-साथ अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[४] महाभारत के माहात्म्य में इसे मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[५] धर्मशास्त्रों में भी चारों पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है। किन्तु धर्मशास्त्र और महाभारत दोनों में ही अर्थ तथा काम को परम साध्य नहीं माना गया है। यह दोनों धर्म के साधन हैं। धर्म के अनुकूल अर्थ और काम के उपभोग को ही मनुष्य के लिए उचित माना गया है। अर्थ और काम की मर्यादा भी धर्म से निर्धारित होती है। धर्म ही उनके औचित्य का मानदण्ड है। अतः धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग में धर्म ही प्रमुख बन जाता है। मोक्ष को जीवन का परम पुरुषार्थ माना जाता है और इस प्रकार धर्म मोक्ष का साधन बन जाता है। किन्तु मोक्ष तो अन्तिम लक्ष्य है, वह अन्त में ही प्राप्त होता है। उसके लिए जीवन भर धर्म का पालन ही प्रमुख बन जाता है। इस प्रकार मोक्ष का साधन होते हुए भी धर्म की प्रमुखता सिद्ध होती है। मोक्ष ही जीवन का साध्य है इस दृष्टि से महाभारत में अनेक बार उसे भी धर्म कहा गया है। महाभारत के विषयों की गणना के प्रसंग में मोक्ष धर्म का उल्लेख किया गया है।[६] मोक्ष को धर्म कहने पर धर्म का अर्थ व्यापक हो जाता है और महाभारत में धर्म का महत्त्व भी बढ़ जाता है।

२—धर्मशास्त्रमिदं महत्—महाभारत आदिपर्व-अध्याय २, श्लोक ३८३।

३—धर्मशास्त्रमिदं पुण्यं—महाभारत-माहात्म्य

४—धर्मशास्त्रमिदं—आदिपर्व-अध्याय ६२, श्लोक २३।

५—मोक्ष शास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनाऽमितबुद्धिना। महाभारत माहात्म्य।

६—मोक्षधर्माश्चकथिता विचित्रा बहुविस्तरा।
आदि पर्व-अध्याय २, श्लो० ३२८।

महाभारत को जहा सम्पूण नान का भाण्डार कहा गया है, वहा भी महाभारत के विपयो के अ तगत धम की गणना मवसे पहल की गई है। आदि पव म वशम्पायन ने कहा है कि धम, अर्थ, काम और माक्ष के सम्ब ध म जो महाभारत म है, वही अ यत्र मिल सकता है जो महाभारत म नहीं है वह कहीं अ यत्र नही मिल सकता।[७] इससे यही प्रमाणित होता है कि धम महाभारत का मुख्य विषय है। महाभारत के विषयों की गणना के प्रसग म अनक बार उनम धम का स्मरण किया गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि इसम अय के अतिरिक्त सम्पूण धम का उपदेश किया गया है।[८] महाभारत के आदि पव म सौति ने कहा है कि महाभारत म धर्मों का रहस्य देशकाल के सहित बताया गया है।[९] शान्तिपव और अनुशासन पव म धम का वणन विशेष रूप से मिलता है। शा तिपव म शरशय्या पर शयन करन वाले भीष्म के द्वारा उपदेश किये गये धर्मा का वणन है।[१०] इन धर्मा म राज धम और आपद्धम के अतिरिक्त मोक्ष धम भी मम्मिलित हैं।[११] तरहवाँ पव अनुशासन पव है उम भी धम का निश्चय

७—धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतषभ।
यदिहास्ति तद यत्र य नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥
आदिपव–अध्याय ६२, श्लो० ५३

८—अस्मिस्त्वर्थश्च धमश्च निखिलेनोपदिश्यते
आदिपव–अध्याय ६१, श्लो० १६½।

९—रहस्य चव धर्माणा देशकालोपसहितम्।
आदिपव–अध्याय २, श्लो० ३३५।

१०—शा तिपवणि धर्माश्च व्याख्याता शारतल्पिका।
अआदिपव–अध्याय २, श्लो० ३२६।

११—राजभिर्वे ितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभि।
आपद्धर्माश्च तत्रव कालहेतुप्रदर्शित ॥
यान् बुद्ध्वा पुरुष सम्यक सवज्ञत्वमवाप्नुयात्।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तरा ॥
आदिपव–अध्याय १, श्लो० ३२७, ३२८।

करने वाला बताया गया है।[१२] महाभारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकार से वर्णन है। इनके ज्ञान से दीप्त महाभारत रूपी सूर्य मनुष्यों का अन्धकार दूर करता है।[१३] अनुशासन पर्व के सम्बन्ध में आदि पर्व में कहा गया है कि इसमें धर्म से सम्बन्ध रखने वाले आचार-व्यवहार का पूर्णरूप से निरूपण किया गया गया है तथा विविध प्रकार के दानों का फल, दान के विशेष पात्र दान की उत्तम विधि आचार का विधान सत्य की गति आदि धर्म के रहस्य वर्णित किये गये हैं।[१४] ये सब धर्म के ही विषय हैं। इन विषयों को देखने से महाभारत में धर्म की प्रधानता प्रमाणित होती है। धर्मशास्त्रों के अनुसार धर्म का सम्बन्ध वर्णों और आश्रमों से है। धर्मशास्त्रों में वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य अथवा धर्म बताये गये हैं। उसी प्रकार महाभारत में भी चारों वर्णों के कर्त्तव्य का विधान किया गया है। अनेक स्थानों पर वर्णों और आश्रमों के धर्मों का विवरण महाभारत में मिलता है। अनुक्रमणिका पर्व में वर्णाश्रम धर्म को महाभारत का विषय

१२–एतत् त्रयोदश पर्व धर्मनिश्चय कारकम्।
आदिपर्व–अध्याय १, श्लो० ३३६।

१३–धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः॥
आदिपर्व–अध्याय १, श्लोक ८५।

१४–व्यवहारोऽत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीयः प्रकीर्तितः।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः॥
तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः॥
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम्॥
आदिपर्व–अध्याय २, श्लोक ३३३, ३३४, ३३५

बताया गया है।[१५] अनुक्रमणिका पव म विशेष रूप से ब्रह्मचय का उल्लख किया गया है।[१६] किन्तु महाभारत म गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास-आश्रमा क धर्मों का वणन भी किया गया है। अनुक्रमणिका पव म आश्रमा के विविध धर्मों का उल्लख महाभारत के विषया म किया गया है।[१७] महाभारत म धम के अनक रूपो का वणन है।[१८]

युधिष्ठिर के नायकत्व का भी महाभारत मे धम का आधार माना जा सकता है। आदि पव म ही युधिष्ठिर का धममय महाद्रुम कहा गया है।[१९] युधिष्ठिर धमपुत्र थे[२०] और धमराज[२१] कहलात थे। सत्य धम के प्रति उनका निष्ठा एक उदाहरण बन गई है। युधिष्ठिर के समान ही राजा शान्तनु का भी धममय स्थिर और धर्मात्माओ म श्रेष्ठ बताया है[२२] राजा शान्तनु का धम पूण सदाचार प्रजा के लिए आदश था और उनके सदाचार स ही प्रजा के लाग इस निणय पर पहुच थे कि काम और अर्थ की अपक्षा धम श्रेष्ठ है।[२३]

१५–चातुवर्ण्यविधान च पुराणाना च कृस्नन ।
तपसो ब्रह्मचयस्य पृथिव्याश्च प्रसूयमो ॥
आदिपव—अध्याय १ श्लोक ६५।

१६–वही।

१७–विविधस्य च धमस्य ह्याश्रमाणा च लक्षणम् ॥
आदिपव—अध्याय १, श्लो० ६४।

१८–इह मन्त्रपद युक्त धम बानेकदशनम्।
आदिपव—अध्याय ६२, श्लो० ३६ ३७ के मध्य का

१९–युधिष्ठिरो धममयो महाद्रुम,
आदिपव—अध्याय १, श्लो० १११

२० धर्माद् युधिष्ठिरो जज्ञे, आदिपव—अध्याय ६३, श्लो० ११५½

२१–एव धमभृता श्रेष्ठो धमराजो युधिष्ठिर ॥
आश्रमवासिक पव—अध्याय २, श्लोक १३

२२–वतमान हि धर्मेषु सवधमभृता वरम्।
आदिपव—अध्याय १००, श्लो० ६½।

२३–धम एव पर कामादर्थाच्चेति व्यवस्थित ।
आदिपव—अध्याय १००, श्लोक–५।

महाराज शान्तनु के इस आदश मे महाभारत के अभिमत का भी सकेत मिलता है। महाभारत के अनुसार धर्म ही प्रमुख है, वही अर्थ और काम को साथक बनाता है, वही मोक्ष का परम साधन है। धर्म के ही विविध पक्षो का महाभारत म प्रधानता से वर्णन किया गया है। इसीलिए महाभारत के पाठ को भी एक धर्म कृत्य माना गया है। महाभारत सम्पूर्ण श्रुतियो का समूह है। धर्मबुद्धि पुरुषो को इसका श्रवण करना चाहिए।[२४] महाभारत का श्रवण एक श्रेष्ठ धर्म है।[२५] अत धर्मकामी मनुष्यो को महाभारत का श्रवण करना चाहिए।[२६] आदिपर्व म सौति ने ऋषियो को तथा उनके निमित्तसे महाभारत के श्रोताओ को यह आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारी सदा धर्ममय मति हो। सौति के अनुसार धर्म ही परलोक म एकमात्र बन्धु है।[२७] युधिष्ठिर के साथ बात रूप म स्वर्ग जाने वाले धर्म के प्रसग से महाभारत की यह धर्मनिष्ठा प्रमाणित होती है। महाभारत के विपुल धर्म प्रसगो से तथा महाभारत के उक्त अन्त साक्ष्यो से यह सिद्ध होता है कि मुख्य रूप से महाभारत एक धर्म शास्त्र ही है तथा धर्म का निरूपण ही उसका मुख्य लक्ष्य है। महाभारत की इसी मान्यता को आधार मानकर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध म महाभारत म धर्म का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अगले अध्यायो म महाभारत के धर्म प्रसगो का विस्तृत विवरण दिया गया है। महाभारत म इन धर्म सम्बन्धी विषयो की विपुलता इस बात को प्रमाणित करती है कि महाभारत को धर्मशास्त्र मानना उचित ही है।

२४-सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभि ।
आदिपर्व—अध्याय ६२, श्लो० ३५।

२५-एष धर्म पुरा दृष्ट सर्वधर्मेषु भारत ।
आदिपर्व—अध्याय-६२, श्लोक ३६ और ३७ के मध्य का

२६-नरेण धर्मकामेन सर्व श्रोतव्य इत्यपि ।
आदि पर्व—अध्याय ६२, श्लोक ४४½।

२७ धर्मे मतिर्भवतु व सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धु ।
आदिपर्व—अध्याय २ श्लोक ३९१।

३-डा० सुकथनकर का मत—

महाभारत के आधुनिक आलोचकों का ध्यान उसके मूल कथाकाव्य पर केन्द्रित रहा है। उनकी आलोचना का दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। वे यह मानते हैं कि प्राचीन कीर्तिकाव्यों से महाभारत का विकास हुआ है। महाभारत की रचना किसी एक व्यक्ति ने एक काल में नहीं की वरन् कई व्यक्तियों के द्वारा कई युगों में उसका विस्तार हुआ है। महाभारत का वर्तमान रूप इस विकास क्रम का पर्यवसान है। इस विकासक्रम में महाभारत की मूलकथा के अतिरिक्त अन्य अनेक उपाख्यान महाभारत में सम्मिलित हो गये हैं। विदेशी आलोचकों का मत है कि धार्मिक अंश महाभारत में ब्राह्मणों के द्वारा बहुत बाद में जोड़े गये हैं। होल्ट्समान तो इस समय को दशवीं बारहवीं शताब्दी तक मानते हैं।[२८] किन्तु कुमारिल सुबन्धु और बाण तथा पाँचवीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप पाँचवीं शताब्दी से पहले ही स्थिर हो चुका था। डायो क्रिसास्टोम नामक ग्रीक यात्री ने ईसा की पहली शताब्दी में लिखा है कि उनके समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत दक्षिण भारत तक प्रचलित था। इससे प्रमाणित होता है कि ईसा के पूर्व की शताब्दियों में महाभारत का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था।

फिर भी अधिकांश विदेशी विद्वान् महाभारत के प्रासंगिक उपाख्यानों और उसके धार्मिक अंशों को मूल महाभारत का अंग नहीं मानते, वरन् उन्हें बाद में जोड़ा हुआ मानते हैं। उनके अनुसार महाभारत मूलरूप में एक ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य है। अतः वे महाभारत के धार्मिक अंशों को विशेष रूप से प्रक्षिप्त मानते हैं। रमेशचन्द्रदत्त ने भी महाभारत के इस धार्मिक रूप पर खेद प्रकट किया है। विदेशी विद्वानों में एक डाल्हमान ही ऐसे हैं जिन्होंने महाभारत को काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी माना है। वे महाभारत के लक्ष्य को धार्मिक मानते हैं तथा उनके अनुसार महाभारत के धार्मिक अंश मौलिक हैं और उसके आवश्यक अंग हैं। वे

---

२८ विंतरनित्स ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—

भाग—१, पृ० ४६३

महाभारत की एक ही शाखा की रचना भी मानते हैं।[29] सुक्थनकर का कथन है कि यह प्रचलित था कि प्राचीन काल से ही महाभारत एक धार्मिक ग्रन्थ माना जाता था। धर्मपुत्र और धर्मराज युधिष्ठिर के नायक होने तथा कृष्ण के धर्म के महत्त्व के उपदेशों से उसे बल मिलता था।[30]

डा० सुक्थनकर ने व्याख्याकारों की कुछ मान्यताओं का खण्डन किया है किन्तु वे व्याख्याकारों के इस मत का समर्थन करते हैं कि महाभारत काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है और उसका धार्मिक रूप नया नहीं, इस प्रकार गुथा हुआ है कि उसको मिलाकर एक सर्वोपरि रचना बनाते हैं।[31] महाभारत का धार्मिक रूप उत्तर काल में प्राप्त हुआ है वरन् यह कथा गाथाओं के साथ महाभारत के मूल रूप में समाहित हो गया है।[32] उत्तर काल में नैतिक तथा धार्मिक तत्त्व महाभारत को प्राप्त हुए हों।[33] यह सम्भव है कि यह धार्मिक तत्त्व महाभारत के मूल रूप में न रहे हों किन्तु डा० सुक्थनकर का विचार है कि वे प्राचीनकाल में ही महाभारत में इतनी घनिष्ठता के साथ समाहित हो गये थे कि वे महाभारत से अलग नहीं किया जा सकता और उनके बिना महाभारत का अस्तित्व नहीं रह सकता।[34] अतः उन्होंने यह प्रस्ताव किया है कि हम महाभारत के वर्तमान रूप को ही स्वीकार करना चाहिए जिस रूप में कि यह युगों से लोकप्रिय है।[35] महाभारत के इस वर्तमान रूप में उसका धार्मिक रूप ही प्रधान है। परिमाण की दृष्टि से भी यह उसके कथाभाग से कई गुना अधिक है।

डा० सुक्थनकर ने अपने महाभारत सम्बन्धी भाषणों में बड़ी गम्भी

२९–सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—२० २१।

३०–वही पृष्ठ—२३।

३१—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ८७।

३२—वही पृष्ठ ६६।

३३—वही पृष्ठ ८५।

३४—वही पृष्ठ ६६।

३५—वही पृष्ठ ३१।

रता और बडे विस्तार के साथ महाभारत के नतिक तथा धार्मिक महत्त्व का प्रतिपादन किया है। उन्हान दाल्हमान क मन का समथन किया है कि महाभारत महाकाव्य होन के साथ साथ धर्मशास्त्र भी है।[३६] उनक अनुसार महाभारत की कथा का एक महान् नतिक लक्ष्य है[३७] तथा धर्म की धुरी पर ही सम्पूर्ण कथानक घूमता है।[३८] अपने दूसरे भाषण मे डा० सुक्थनकर ने यह सकेत किया है कि कथा की दृष्टि से भी महाभारत का एक निश्चित लक्ष्य दिखाई देता है, उस लक्ष्य की ओर यह कथा मन्थर गति से बढ़ती जाती है।[३९] धम और नीति की शिक्षा के बडे-बडे प्रसग कथा के बीच मे मिलते हैं। आरण्यक शान्ति और अनुशासन पव इसके उदाहरण है। किन्तु धर्म के यह प्रसग प्रबन्ध के सौन्दय और गठन को भग नहीं करते। डा० सुक्थनकर ने पिसानी के इस मत का समथन किया है कि यह प्रसग काल के शिथिल अन्तरालो म मिलत हैं।[४०] आरण्यक पव पाण्डवा के बारह वष के बनवास के प्रसग म धर्म का शिक्षा दता है। शान्ति और अनुशासन पव युद्ध के अन्त और महाप्रस्थान के बीच म आन है।[४१] काल क अन्तरालो क प्रसग म धम शिक्षा क ये तीनो ही पव महाभारत के अभिन्न अग हैं। कथा के प्रबन्ध के साथ भी इनकी सगति ठीक बठती है।[४२]

धम के विक्षेप और विस्तृत प्रसगा के अतिरिक्त महाभारत की मुख्य कथा भी धर्म और नीति की शिक्षा से परिपूर्ण है। महाभारत का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध बन गया है।[४३] पाण्डवो का पक्ष धम का पक्ष है और कौरवो का पक्ष अधम का पक्ष है। धम और अधम का यह सघष देवासुर सग्राम की याद दिलाता है। महाभारत क मुख्य नायक युधिष्ठिर धर्मराज और धम क पुत्र हैं।[४४] आरण्यक पव शान्तिपव और अनुशासन पव क

३६—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ५६।
३७—वही पृष्ठ ८६।
३८—वही पृष्ठ ९०।
३९—वही पृष्ठ ३३।
४०—वही पृष्ठ ३३ ८७।
४१—वही पृष्ठ ८७।
४२—वही पृष्ठ ८६।
४३—वही पृष्ठ ६२ ६३।
४४—वही पृष्ठ १३।

अतिरिक्त महाभारत की कथा में अनेक प्रसंग जीवन को गम्भीर शिक्षा देते हैं। डा० सुकथनकर के मत में महाभारत भारतीय आदर्शों का भाण्डार बन गया है।[४५] महाभारत का अन्त तो निराशाजनक एवं भयंकर दिखाया है जिससे आगे मनुष्य जाति को प्रत्येक महायुद्ध के बाद ध्यान रखना होगा।[४६]

युद्ध होते हुए भी महाभारत का युद्ध धर्म का युद्ध है। कुरुक्षेत्र के जिस मैदान में महाभारत का युद्ध हुआ, उसे गीता के आरम्भ में धर्मक्षेत्र कहा गया है।[४७] धर्म का पालन कर पाण्डवों और द्रौपदी ने अनेक कष्ट उठाये हैं। युधिष्ठिर तो स्वभाव से ही धर्म में आरूढ़ हैं। वे द्रौपदी से कहते हैं कि मेरा मन स्वभाव से ही धर्म में स्थिर है।[४८] यक्ष के रूप में धर्म ने जो प्रश्न किये उसका उत्तर केवल युधिष्ठिर ही दे सके। धर्म रूपी श्वान के बिना युधिष्ठिर स्वर्ग में भी प्रवेश करने के लिए तयार नहीं हुए। महाभारत के युधिष्ठिर धर्म की मूर्ति हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।[४९] वे धर्म को स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं।[५०] धर्म के कारण उन्होंने कष्ट भी स्वीकार किये। धर्म का फल चाहने वाले को वह धर्म वाणिज्यक कहते हैं।[५१] अनेक उत्तेजनाओं के होने पर भी युधिष्ठिर धर्म से विचलित नहीं होते। युधिष्ठिर के चरित्र की दृढ़ता धर्म को महाभारत का मुख्य लक्ष्य बना देती है।[५२] श्रीकृष्ण का योग धर्म के पक्ष को दिव्य बना देता है। महाभारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार माना गया है।[५३] डा० सुकथनकर ने बड़ी

४५—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत— „ ३०।
४६—वही „ ६१।
४७—वही „ ६६।
४८—धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावात् च मे धृतम्।
　　डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत पृ० ६३
४९—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत। पृष्ठ ६४
५०—वही „ ७४
५१—वही „ ७३
५२—वही „ ७७
५३—वही „ ६३।

दृढता के साथ यह विचार प्रकट किया है कि महाभारत म कोई भी ऐसा श्लोक नही है, जो श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व को स्वीकार न करता हो।[५४] धम का तत्व बडा सूक्ष्म है।[५५] तथा धम का रूप बडा जटिल है।[५६] महाभारत म राज धम, कुलधम वणधम आश्रमधम दानधम, आपद्धम, मोक्षधम, स्त्रीधम आदि अनेक रूपो म धम का वणन किया गया है।[५७]

इस प्रकार अनेक रूपा म महाभारत म धम की प्रमुखता है। डा० सुक्थनकर के इन्ही निर्देशों के आधार पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे महाभारत मे धम के विविध पक्षो का विवरण और विवेचन किया गया है।

४–महाभारत में धर्म और त्रिवर्ग—

भारतीय धमशास्त्र मे मनुष्य जीवन के चार पुरषाथ माने गय हैं—धम, अथ, काम और मोक्ष। धमशास्त्रो में मुख्यत धम का ही वणन है। अथ और काम को गौण माना गया है तथा धम के अनुकूल होने पर ही यह मनुष्य के योग्य बनते है। दशनो का मुख्य ध्येय मोक्ष का निरूपण है। महा भारत मे भी धम की प्रधानता देती है। पिछले प्रकरणो मे हमने महाभारत के अन्त साक्ष्य और डा० सुक्थनकर के मत के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि महाभारत का प्रमुख लक्ष्य धम ही है। किन्तु स्वय महाभारत म ही इस बात का प्रमाण मिलता है कि महाभारत म अथ, काम और मोक्ष का भी वणन है। धमशास्त्र होने के साथ साथ महाभारत को अथ शास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[५८] जिस प्रकार महाभारत धार्मिक

५४—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—पष्ठ ६७

५५—वही — " ८३

५६—वही — " ८३

५७—वही — ' २

५८—धमशास्त्रमिद पुण्यमथशास्त्रमिद परम्।
मोक्षशास्त्रमिद प्रोक्त व्यासेनामितबुद्धिना॥

विपयों का विश्वकोप है, उसी प्रकार वह अय काम और मोक्ष सम्बन्धी विपया का भाण्डार भी है।[५९] अत अन्य पुरुपार्थों के साथ धम का क्या सम्बध है, इस विपय म भी महाभारत का मत विचारणीय है। मोक्ष तो जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, एक दृष्टि से महाभारत भी इसे स्वीकार करता है। मोक्ष के सम्बध म अगले प्रकरण मे विचार किया गया है। मोक्ष का सम्बध अध्यात्म से है। धम उसका मुख्य साधन है अय और काम जीवन के साधन है उन्हे धम के साधन भी मान सकत हैं। धम के साथ इनका सम्बध विचारणीय है। मोक्ष के साथ इनका एसा सम्बध नही है। मोक्ष को छोडकर तीन पुरुपार्थों को त्रिवग कहते हैं। इस प्रकरण म अथ और काम के महत्व तथा धम के साथ इनके सम्बध का विवेचन किया गया है।

मनुष्य जीवन म जो चार लक्ष्य अथवा पुरुपाथ माने गये हैं उन्ह चतुवग भी कहते हैं। धम इन पुरुपार्थों का मूल सूत्र है अथ और काम इनके प्राकृतिक आधार है, जो धम क सस्कार से मनुष्य के योग्य बनते है। मोक्ष जावन का अतिम लक्ष्य है

प्रोफेसर काणे के अनुसार धम से सम्यक आचरण अर्थ मे आथक हित, काम से कामना भावना तथा कलात्मक जीवन की सन्तुष्टि और मोक्ष से आत्मा की मुक्ति का ग्रहण करना चाहिए।[६०] वात्स्यायन न धम अथ और काम की परिभाषा देते हुए अप्रवृत्त शुभ कर्मो म प्रवृत्ति और प्रवृत्त अशुभ कर्मों स निवृत्ति करान वाला धम विद्या भूमि, हिरण्य, पशु धान्य, मित्र आदि का अजन तथा अजित का विवधन अर्थ और मन सहित इन्द्रियो का स्व-स्व विपय म अनुकूलत प्रवृत्ति को काम कहा है।[६१] मोक्ष के अतिरिक्त अवशिष्ट तीन को त्रिवग भी कहा जाता है जिसके विपय म महाभारत का

५९—धर्मे चार्ये च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥
आदिपव–अध्याय ६२, श्लोक ५३

६०—पाण्डुरग वामन काणे धमशास्त्र का इतिहास—भाग २,१ १ ८

६१—कामसूत्र १, २, ७ १५

कहना है कि 'बुद्धिमान पुरुष त्रिवग को लक्ष्य मान कर कम करते हैं परन्तु यदि तीनो की प्राप्ति नही होती है तो वे धम तथा अथ के लिए प्रयत्न करते हैं और यदि उनम स एक को ग्रहण करना होना है तो केवल धम का ग्रहण करते हैं। मध्यम प्रकार के लोग काम और धम की अपेक्षा अथ को श्रेष्ठ मानते हैं और मूख केवल काम को ही चरम लक्ष्य मानत हैं।'[६३] परन्तु वास्तविकता यह है कि धम स ही अथ और काम प्राप्त होता है और इसलिए धम को ही त्रिवग का स्रोत कहा गया है।[६४] शान्तिपव म भी बतलाया गया है कि धम उत्तम अथ मध्यम तथा काम निकृष्ट है और मनुष्य को इस तरह से आचरण करना चाहिए कि धम को प्रमुखता प्राप्त हो।[६५] (तस्मात् धम प्रधानेन भवितव्य यतात्मना) इतना कह कर भी महाभारतकार इस बात को भली भाति जानत हुय प्रतीत होते हैं कि धम के प्रति लोगो की रुचि बहुत कम होती है। अतएव व कहत हैं कि–

> ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
> धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥[६६]

'मैं ऊँचा हाथ उठाकर चिल्ला रहा हू परन्तु कोई सुनता हो नही कि धम से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है उस धम का सेवन क्या नहीं किया जाता।"

आदशवादी महाभारतकार का यह उपालम्भ जीवन का उस व्यावहारिक यथार्थता का सामन ला देता है, जिसम अथ तथा काम सवत्र छाय हुए दिखाई देते हैं। इसी यथार्थता को ध्यान म रखकर कौटिल्य न अपन अथशास्त्र म लिखा है कि किसी को सुख हीन जीवन नही बिताना चाहिए। धम एव अथ के अविरोधी काम का सवन करना चाहिए अथ ही

६३—उद्योगपर्व—अध्याय १२४,श्लो० ३४ ३७

६४—उद्योगपर्व—अध्याय १२४,श्लो० ३८

६५—उद्योगपर्व—अध्याय १६७ श्लो० ८ ६

६६—स्वर्गारोहण पर्व अध्याय ५,श्लो० ६२, शल्यपर्व-अध्याय ६०।श्लो०२२, द्रोणपर्व—अध्याय १५१,श्लो० ३८

प्रधान है—अर्थ पर ही धर्म और काम अवलम्बित हैं।"[६७] महाभारत म भी भौतिक जीवन की इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए कहा गया है कि अर्थ से ही धर्म काम और स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि अर्थ के बिना तो लोगों की जीवन यात्रा भी सम्भव नहीं। अर्थ के महत्त्व का सबसे अच्छा प्रतिपादन शान्तिपर्व म अर्जुन ने इस प्रकार किया—"एक कर्मभूमि है यहाँ वार्ता की प्रधानता है और कृषि व्यापार गो-पालन तथा विविध शिल्प की प्रशंसा है। अर्थ ही समस्त कर्मों का आधार है अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते ऐसा श्रुति का कथन है। अर्थवान् व्यक्ति भोग्य विषयों के द्वारा उत्तम धर्माचरण भी कर सकता है और दुष्प्राप्य काम की भी पूर्ति कर सकता है। श्रुति का कथन है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं और अर्थ सिद्धि से उन दोनों की भी पूर्ति हो जाती है। इसलिए अर्थयुक्त पुरुष की सभी उपासना करते हैं।[६८] जटा और मृगचर्म धारण करने वाले, जितेन्द्रिय सयमशील पक्षधारी मुण्डित मस्तक तथा ब्रह्मचर्य रहने वाले विरक्त व्यक्ति भी अर्थ की अभिलाषा करते हुए रहते हैं। सब प्रकार से परिग्रह रहित काषाय वस्त्रधारी, दाढी मूँछ बढाये लज्जाशील शान्त तथा मुक्त विद्वान् से लेकर स्वावलम्बी अथवा वंशपरम्परागत निज निज धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति भी अर्थ की अपेक्षा रखते हैं। आस्तिक, नास्तिक तथा उत्तम सयम से युक्त व्यक्ति भी अर्थ चाहते हैं इस लिए अर्थ की प्रधानता को न मानना तमोमय अज्ञान है और उसको स्वीकार करना ही प्रकाश तथा प्रमाण है। मुझे तो यही ठीक जँचता है कि जो भृत्यो का भोग तथा शत्रुओं को दण्ड दे सकता है वही अर्थवान् है।"[६९]

त्रिवर्ग म काम के महत्त्व की सबसे बडी स्वीकृति इस बात से हो जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीता म धर्माविरुद्ध काम को भगवान् का रूप कहा

६७—१,७ "धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात् अर्थ एव प्रधानः अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति। कौटिल्य का अर्थशास्त्र-अध्याय १,श्लो० ७

६८—शान्तिपर्व—अध्याय १६७, श्लो० ११ से १२ तक

६९—शान्तिपर्व—अध्याय १६७,श्लोक ११ से २० तक

७०—भगवद्गीता—अध्याय—७, श्लो० ११

गया है (धर्माविरुद्धो कामोऽहम्), परन्तु काम की सबसे अच्छी वकालत का श्रेय भीमसेन को है। उनका कहना है कि—'जिसम काम नही वह न तो अर्थ की कामना कर सकता है न धम की और न स्वय काम की ही अत काम ही सवश्रेष्ठ है। काम से युक्त होकर ही पत्ते, फल, मूल तथा वायु मात्र सेवन करने वाले सुमयत ऋषि भी तप म समाहित होत हैं। वेदो और उपवेदा के स्वाध्याय म पारगत यक्ति श्राद्ध, यज्ञ तथा दान या प्रतिग्रह मे, वाणिज्य, कृषि, गो-पालन, कारीगरी शिल्प, देवकम आदि सभी म जो यक्ति लग हुए है वे सभी काम मे युक्त ह। काम विविध रूप है और काम से सब कुछ व्याप्त है। काम ही सबका सार है और काम से रहित न कोई है न कभी था और न कभी होगा। अर्थात् धम और अर्थ काम मे ही स्थित हैं। जिस प्रकार दही स मक्खन निकलता है उसी प्रकार अथ और धम से काम प्रसूत होता है और जिस प्रकार खली से तेल, तक्र स घृत और काष्ठ से फूल और फल श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार काम धम एव अर्थ दानो स श्रेष्ठ है। जसे फूल स उसका रस रूप मधु श्रेष्ठ है उसी प्रकार काम धम और अथ से श्रेष्ठ है। काम धम और अर्थ की योनि है। अत धम और अर्थ दोना ही काम रूप है। काम रहित होकर ब्राह्मण न अच्छे अन्न का भोजन कर सकत हैं और न कामहीन व्यक्ति ब्राह्मणो का दान ही कर सकता है। बिना काम के लोक म पाई जाने वाली विविध चेष्टायें असम्भव हैं। अत त्रिवग मे काम सवप्रथम है। मेरा यह मत बहुत गहराई म पठ कर स्थिर किया गया है। मेरे इस कथन म आप कोई अयथा विचार न करें मरा यह वचन उत्तम, अनृशस तुच्छता रहित तथा श्रेष्ठ है।"७१

अर्थ और काम की इस ओरदार वकालत के पश्चात् धम के महत्व का स्थापना का काय नकुल और सहदेव ने बडी बुद्धिमानी स किया— मनुष्य चाहे बठा हो लेटा हो, खडा हो अथवा इधर उधर विचरण कर रहा हो, उस अवश्य ही विविध उपायो द्वारा अर्थयोग को दृढ करना चाहिए। क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है और इस विषय म कोई सशय नहीं हो सकता कि परमप्रिय दुलभ तथा अनिवायत आवश्यक होन के कारण अर्थ को प्राप्त करके ही सभी कामनाओ की प्राप्ति की जा सकता है परन्तु जो

७१—शान्तिपर्व—अध्याय १६७, श्लो० २८ से ३७ तक

अर्थ धम से युक्त हो और जो धम अथ से युक्त हो, उसी को अमृत सयोग कहा जायेगा। जो अर्थहीन है, उसका काम व्यथ है और जो धमहीन है उसका अथ व्यथ है। अत धम युक्त अथ से वहिष्कृत होकर लोक उद्वेग को प्राप्त होता है। इसलिए नयमशील होकर धम की प्रधानता रखते हुए अथ की सिद्धि करनी चाहिए क्योंकि इसी प्रकार मनुष्य विश्वास पात्र बन सकता है और विश्वासपात्र प्राणियों के ही सब काम सिद्ध होते हैं। इसलिए सबसे पहले धम का आचरण करे फिर धम युक्त अथ की प्राप्ति करे और तब काम की पूर्ति करे। काम की पूर्ति करके अपने परम अर्थ को प्राप्त करके सिद्धाथ हो जावे।[७२]

अतएव धमशास्त्रकारों ने काम और अथ के महत्व को बराबर स्वीकार किया है परन्तु सुविकसित माननीय व्यक्तित्व के लिए इन आवश्यक तत्वों का धार्मिक एव आध्यात्मिक मूल्यों से निम्नकोटि का मान कर उन्हें धर्मानुकूल बनाने पर बल दिया है। मनु ने इस विषय म विविध मतों को उद्धृत करते हुए कहा है कि— कोई धर्म और अर्थ को श्रेष्ठ मानते हैं, कोई काम एव अथ को कोई केवल धम को तथा कोई केवल अथ को ही सवश्रेष्ठ समझते हैं परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि त्रिवग म तीनों ही श्रेष्ठ हैं।'[७३] परन्तु आहार निद्रा, भय मैथुन आदि की कामनायें पशु-जीवन के समान मानव जीवन म भी स्वाभाविक होने स उन पर जोर देने की आवश्यकता नहीं अपितु उनके नियत्रण एव नियमन की आवश्यकता है।[७४] अत आपस्तम्ब धमसूत्र का कथन है कि जो मनुष्य उन सभी भोगों को भोगता है जो धम के विरुद्ध न हों तो उसको दोनों लोकों की विजय श्री मिलती है।[७५] इसी बात को दूसरे ढग

७२—शान्तिपर्व—अध्याय १६७ श्लो० २२ से २७ तक

७३—धर्मार्थावुच्यते श्रेय कामार्थौ धम एव च।
अथ एव तथा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थिति ॥
मनुस्मृति—अध्याय २।श्लो० २२४

७४—मनुस्मृति अध्याय ५ श्लो० ५६

७५—भोगा च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौ लोकावभिजयति।
आपस्तम्ब धमसूत्र—अध्याय २ श्लो० ८,२०,२२,२३

नुत करते हुए गौतम का कहना है कि मनुष्य को धर्म, अथ तथा काम ष्टि से प्रात, मध्याह्न तथा सायकाल को निष्फल नही गँवाना चाहिए इन तीनो म धम को प्रमुखता देनी चाहिए।"७६ कामसूत्र न भी धम था काम मे से प्रत्येक को परवर्ती की अपेक्षा क्रमानुसार अधिक महत्त्व ाना है।"७७ इससे स्पष्ट है कि काम और अर्थ के महत्त्व का पूर्ण रूप कार करते हुए भी, इन दोनो का धम-सम्मत होना अत्यन्त आवश्यक गया। इसीलिए आदिपव म ही महाभारत के माहात्म्य को बतलाते हुए रतकार न धम को ही माना एक विशेष लक्ष्य मानते हुए कहा है कि उत्थानशील होकर आप लोग अपनी मति धर्म म लगाय क्योकि यही मा बधु है जो परलोक म गय हुए जीव का भी साथ देता है और अथ का सवन कितना ही निपुणता क साथ क्यो न किया जाय परन्तु उनकी ा तथा आप्तता पर विश्वास नही किया जा सकता।'७८

ध्यात्म और मोक्ष—

चार पुरुषार्थों म धर्म प्रथम है। धम मनुष्य का नतिक और आचार है। उत्तम कत्तव्यो का पालन धम ह शील उसका आन रक पक्ष है। धम के सस्कार से सस्कृत होकर तथा धम के अनुकूल बनकर अथ और काम मनुष्य के योग्य बनत हैं। प्राकृतिक होत हुए भी ऐसी स्थिति म वे धार्मिक बन जाते हैं। इस प्रकार लौकिक जीवन म धमपूर्ण व्यवहार मनुष्य का आदश माना गया है। इसी धर्म से समन्वित रूप म अथ और काम को भी महाभारत म अपनाया गया है। इसी रूप मे महाभारत धर्मशास्त्र होत

७६—गौतम सूत्र—अध्याय ६ श्लो० ४६ ४७ (तुलना करो)
तुलना करो याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १,श्लो० ११५

७७—कामसूत्र अध्याय १,२श्लो० ७ १८

७८—धर्मे मतिभवतु व सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बधु ।
अर्था स्त्रियश्च निपुणरपि सेव्यमाना
नवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥
आदिपव अध्याय २, श्लो० ३८१ ।

के साथ साथ अर्थशास्त्र और कामशास्त्र भी है। धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग एक प्रकार से जीवन की त्रिवणी हैं। किन्तु मोक्ष जीवन का गंगासागर है। त्रिवर्ग की त्रिवेणी इसी की ओर प्रवाहित होती है। मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष को हम आध्यात्मिक लक्ष्य कह सकते हैं। जीवन के आचार और व्यवहार में त्रिवर्ग का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी महाभारत में इस बात को नहीं भुलाया गया है कि त्रिवर्ग स्वयं में साध्य नहीं है अपितु मनुष्य के उस परम पुरुषार्थ का साधन मात्र है जिसको मोक्ष कहा गया है। मोक्ष धर्म-पर्व के अनेक अध्यायों में विविध प्रकार के मोक्ष और मोक्ष मार्गों का स्पष्ट तथा संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु थोड़े शब्दों में त्रिवर्ग के लक्ष्य रूप मोक्ष के महत्त्व का निरूपण शान्तिपर्व में युधिष्ठिर ने अर्जुन भीम नकुल तथा सहदेव के उक्त वचनों को सुनने के पश्चात् इस प्रकार किया है—'आप सब लोग प्रमाणों को जानने वाले हैं और आपने निःसन्देह धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों पर कुछ निश्चित मत बना लिया है। मैं आप लोगों के विचारों को जानना चाहता था, इसलिए आपने अपने अपने जो निश्चित मत मेरे सामने व्यक्त किये उसको मैंने सुना। अब आप से जो कुछ कह रहा हूँ उसको भी अनन्य भाव से सुनिये। जो मनुष्य न पाप में न पुण्य में और न अर्थ, धर्म या काम में लगा हुआ है अपितु जो सब दोषों से मुक्त है और जिसके लिए लोष्ठ और सोना (कांचन) दोनों ही बराबर है वही सुख दुःख आदि देने वाली अर्थसिद्धियों से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति पूर्वज में की बातों का स्मरण करते हैं तथा विकारों से युक्त हैं वे संसार के विविध दुःखों से प्रतिबाधित होकर पुनः पुनः मोक्ष की प्रशंसा करते हैं। परन्तु हम लोग उसको जानते भी नहीं। स्वयंभू का वचन है कि जो राग से युक्त हैं उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। बुद्धिमान लोग ही निर्वाण परायण हो सकते हैं अतः मनुष्य को प्रिय अथवा अप्रिय किसी से राग या द्वेष नहीं करना चाहिए यही प्रमुख बात है न कि काम-परायणता। जिस प्रकार मुझे नियुक्त किया गया है उसी प्रकार मैं कार्य कर रहा हूँ। सभी प्राणियों को विधि भिन्न भिन्न ढंग से कार्य में नियुक्त करता है इसलिए सब लोग इस बात को समझ लें कि विधि ही सबसे बड़ा बलवान् है। कोई भी व्यक्ति केवल कर्म के द्वारा अप्राप्य अर्थ को नहीं प्राप्त कर सकता। जो होनहार होना है वह होकर रहता है। इस बात को जान लो। इसी के अनुसार त्रिवर्गहीन मनुष्य भी लोक हित के

लिए गुह्य अर्थ को प्राप्त कर लेता है। ७९ इसी प्रकार शान्ति पर्व में त्रिवर्ग सम्मत आश्रम धर्म, वर्ण धर्म राज धर्म आदि का उपदेश करने के पश्चात् युधिष्ठिर द्वारा पूछे जाने पर भीष्म ने त्रिवर्ग के साध्य मोक्ष की ओर इस रूप में संकेत किया है— सर्वत्र स्वर्ग देने वाले धर्म तथा सत्य की प्राप्ति कराने वाले तप का विधान है। धर्म के अनेक द्वार हैं परन्तु धर्म की क्रिया फल हीन नहीं है। जो जो व्यक्ति जिस जिस विषयमें विशेष निश्चय प्राप्त कर लेता है, वह केवल उसी को पहचानता है और किसी दूसरे को नहीं। परन्तु इसमें भी कोई संशय नहीं कि वह जैसे जैसे इस सम्पूर्ण लोक तन्त्र की असारता को समझता जाता है वैसे ही वैसे वह उससे विरक्त होता जाता है। इसलिए अनेक दोषों से पूर्ण होने के कारण इस लोक में बुद्धिमान् मनुष्य को आत्ममोक्ष के निमित्त ही प्रयत्न करना चाहिए। ८०

अतः सौति उग्रश्रवा ने अपनी कृति की कल्पना भारतद्रुम के रूप में करते हुए जब उसके अमृतरस के रूप में 'अश्वमेधपर्व' को ग्रहण किया और उसके पश्चात् आने वाले त्रिवर्ग सम्मत राजधर्म वर्णधर्म आश्रम धर्म आदि को वृक्ष द्वारा प्रदत्त आश्रय-स्थान कह कर उसके स्वादिष्ट, सुमध्य सरस अच्छेद्य तथा शाश्वत पुष्पफलादय का वर्णन,८१ तो सम्भवतः उनका उद्देश्य मोक्षमार्ग पर्व के प्रतिपाद्य विषय 'मोक्ष' से ही है क्योंकि उपर्युक्त रूपक में ग्रन्थगत पूर्वापर संबंध के अतिरिक्त जैसा कि डा० फतहसिंह ने भारतीय समाज शास्त्र८२ में कहा है। आश्रम धर्म का आधार जहां इच्छा ज्ञान क्रिया संवलित त्रिविध श्रम है, वहां मोक्ष का आधार है शम—श्रम की परिणति 'रुक' का लोककर जब शम में हो जाती है, तभी आश्रम धर्म के चरम लक्ष्य मोक्ष या ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी का प्रतिपादन न केवल शान्ति पर्व में आश्रम धर्मों या अन्त मोक्ष धर्म में करके दिखाया गया है अपितु समस्त

७९—शान्तिपर्व—अध्याय १६७, श्लो० ४१ से ४८ तक

८०—शान्तिपर्व—अध्याय १७४, श्लो० १ से ५ तक

८१—तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम्।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥
शान्ति पर्व—अध्याय १, श्लो० ८३

८२—विस्तार के लिए, देखिए 'भारतीय समाज शास्त्र' पृष्ठ ७५-८५

महाभारत के कथानक म भी प्रचण्ड युद्धाग्नि का प्रशमन शान्ति, सन्यास तथा स्वर्गारोहण म करके इस जयनामक इतिहास को मुमुक्षुओ के लिय भी श्रोतव्य माना गया है।

जयो नामतिहासोऽय श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता ॥[८३]

क्योकि इससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या केवल एक भौतिक विजयगाथा मात्र मोक्ष मे किंचित सहायक हो सकती है ? अथवा यह जय नाम का इतिहास एक ऐतिहासिक एव भौतिक युद्ध की आड म कुछ और भी छिपाय हुए है [८४] इस प्रसग म यह याद रखना है कि न तो हम यहाँ पर उन मनीषियो का खण्डन करना अभीष्ट है, जो भारत युद्ध की ऐतिहासिकता को प्रामाणित करने मे प्रयत्नशील है और न भारत युद्ध को शुद्धरूपेण काल्पनिक मानने वाले पक्ष का ही समथन अभीष्ट है। परन्तु भारत युद्ध की एतिहासिकता म तनिक भी सन्देह किय बिना यह तो निश्चित ही है कि इस जय, भारत या महाभारत को न केवल अर्थ धम एव मोक्ष का शास्त्र कहा गया है अपितु इसे मुमुक्षुओ के लिए श्रोतव्य बताकर 'मोक्ष' ही को इस ग्रन्थ का चरम लक्ष्य माना गया प्रतीत होता है। अत यह कहना अनुचित न होगा कि इस इतिहास को एक अध्यात्म विद्या का माध्यम बनाने का भी प्रयत्न किया गया है।[८५]

यो तो मोक्ष-सहित समस्त चतुवग की प्राप्ति लक्षण ग्रन्थो क अनुसार, सभी सस्कृत महाकाव्यो का लक्ष्य होना चाहिए परन्तु इन चारो की मीमासा तथा अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे जितने विस्तृत तथा व्यापक रूप म महाभारत मे प्राप्त है उतनी अन्यत्र कहा भी देखन म नही आती। अत इसम कोई आश्चय नही कि महाभारतकार ने जय नामक इतिहास क कथानक को एक आध्यात्मिक रूपक बनाने और महाभारत कथा के द्वारा एक विशेष तात्पय प्रकट करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के प्रयत्न सवप्रथम आदिपव के प्रथम श्लोक म ही प्राप्त होते ह

८३—स्वर्गारोहण पर्व—अध्याय ५, श्लोक ५१
८४—सी० वी० वैद्य महाभारत मीमासा
८५—प्रिंसीपल वहानी मिस्ट्रीज आव महाभारत

जिसम नारायण और नर को नमस्कार किया गया है[86] क्योंकि जैसा आगे चलकर कहा गया है कि यह नारायण और नर महाभारत कथा के कृष्ण और अर्जुन ही है।[87] इसके अतिरिक्त महाभारत की अनुक्रमणिका के लगभग प्रारम्भ म ही स्पष्ट बतलाया गया है कि महाभारत के कथानक की सृष्टि दो महाद्रुमो के मेल से हुई है जिनम से एक दुर्योधन नामक मन्युमय महावृक्ष है जिसका स्कन्ध कर्ण है शकुनि शाखा है, दुःशासन पुष्प फल है तथा अज्ञानी धृतराष्ट्र मूल है[88] और दूसरा युधिष्ठिर नामक धममय महावृक्ष है जिसका स्कन्ध अर्जुन है, शाखा भीमसेन है, नकुल सहदेव पुष्प फल है तथा उसके मूल ब्रह्मरूप कृष्ण तथा ब्राह्मण हैं।[89]

आगे चलकर अंशावतरणपर्व[90] म कथा के विभिन्न पात्रों का जो दिव्य जन्म बतलाया गया है उसमे भी इसी प्रकार का तात्पर्य दिखाई पड़ता है। सबके सब पात्र किसी न किसी दिव्य शक्ति के अंशावतार माने हैं जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

महाभारत के पात्र	अंशी
भीष्म	वसु
विदुर, युधिष्ठिर	धम
कर्ण	सूर्य
कृष्ण बलराम	विष्णु
धृष्टद्युम्न, द्रौपदी	यज्ञाग्नि
भीम	वायु
अर्जुन	इन्द्र
नकुल, सहदेव	अश्विनौ

८६—नारायणनमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
आदि पर्व—अध्याय १, श्लो० आरम्भ का

८७—आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० १७४

८८—आदिपर्व अध्याय १, श्लो० ११०

८९—आदिपर्व अध्याय १, श्लो० १११

९०—देखिये अध्याय ६३, श्लो० ९१ से ११७

सात्यकी	सत्य
कृतवर्मा	हृदिर
द्रोण	अग्निपुत्र भरद्वाज तथा द्रोणी
शकुनि	मुरन (असुरराज प्रह लाद का शिष्य)

इसी प्रकार अंत म स्वग पहुचकर ये सभी पात्र अपने-अपने पार्थिव शरीर को छोड़कर मूल दिव्यात्म रूप को[९१] ग्रहण कर लेते हैं। स्वर्गारोहण पव मे इसका वणन करते हुए, निम्नलिखित पात्रो को भी अपने-अपने अशो म विलीन होते हुए दिखलाया गया है—

महाभारत के पात्र	अंशी
धृतराष्ट्र, गान्धारी	कुबेर
विराट द्रुपद आदि	विश्वदेवा
शकुनि	द्वापर
अभिमन्यु	सोम
दुर्योधन तथा उसके सहायक	कुबेर, इन्द्र वरुण

इन सकेतो के आधार पर अथवा इनसे ही सकेत या प्रेरणा पाकर ही सम्भवत कई विद्वानो ने महाभारत म रहस्य तात्पय अथवा गुह्य अथ ढूंढने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध म मदानी महोदय का प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उन्होने लगभग दो हजार पृष्ठो म बहुत परिश्रमपूवक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दू विचारधारा की सभी पद्धतियां परस्पर सम्बन्ध रखती रही हैं और इन्ही के पारस्परिक सम्बन्ध सहयोग तथा विरोध के आधार पर ही पुराण रामायण तथा महाभारत की विभिन्न कथाओं और आख्यानो का सृजन हुआ है। मन बुद्धि, चित्त और पच तन्मात्रा जीवन की आठ शक्तियां हैं तथा ये चतुर्विध जीव वग म व्यक्त हो रही है। कथाओं और आख्यानो के सृजन म इन्ही शक्तियो आदि को स्त्री पुरुषों का रूप दे दिया गया है। महाभारत म उन्ही विभिन्न विचारधाराओ के सघष का

९१—स्वर्गारोहण पव अध्याय ३, श्लो० ४२

,, अध्याय ४, श्लो० २ से लेकर २१ तक

,, अध्याय ५, श्लो० १० से लेकर २८ तक

चित्रण हुआ हैं, जा कि सबकी सब मनुष्य के मानस-क्षेत्र मे समवत होनी है। मन का अधिष्ठानी दव चन्द्रमा है, अत महाभारत के कौरव पाण्डव तथा कृष्ण को चन्द्रवशी वतलाया गया है। [२] उनके मतानुसार कौरव न्याय दशन के प्रतिनिधि हैं तथा पाण्डव वशेषिक के। कौरव पक्ष म भीष्म दशन क ईश्वर हैं जा दशन म अकर्त्ता होने के कारण भीष्म रूप म अविवाहित रहत हैं। धृतराष्ट्र वशेषिक म जन्म लेकर भी आखें मूँदकर न्याय दशन का अनुगमन करते हैं अत अन्धे माने गये हैं। विदुर वशेषिक मे जन्म लेकर पाण्डवा क याग और कौरवा के न्याय दोना स ही सम्बन्ध रखते है। अश्वत्थामा वशेषिक दशन के मन हैं और ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोना से सम्बन्ध रखत हैं। कृपाचाय शुद्ध साख्य मत के अनुसार कम के प्रतिनिधि हैं तथा शकुनि न्यायमत के होते हुए भी साख्य मत का ओर झुके हुए है। इसी प्रकार पाण्डव पक्ष म युधिष्ठिर का वशेषिक की बुद्धि भीम का मन अर्जुन का प्राण नकुल सहदव को पाणि-पाद कुन्ती को पथिवी और द्रौपदी का यज्ञ क्रिया बतलाया गया है। यह बहुत ही ब्यौरेवार तथा विस्तार के साथ निरूपण किय जाने पर भी षडानी महोदय का प्रयत्न बहुत स्पष्ट तथा सुबोध नहा प्रतीत होता यद्यपि उपयुक्त महाभारत वर्णित सकेतो के आधार पर इस बात का अस्वीकार करना सम्भव नही कि महाभारत का काव्य कारा इतिहास मात्र ही नहा, अपितु उसस कुछ अधिक भी है।

डा० सुकथनकर ने अपन चतुथ भाषण म महाभारत के आध्यात्मिक पक्ष का विवरण किया है। श्रीकृष्ण को परमात्मा मानकर उन्होंने जावन के आध्यात्मिक लक्ष्य क साथ महाभारत की सगति दिखाने की चेष्टा का है। महाभारत धम और अधम का युद्ध है। परमात्मा इस द्वन्द्व से पर है। उसी की प्राप्ति मोक्ष है।[९३] आत्मा के रूपक का उन्होंन बडी सूक्ष्मता के साथ निवाह किया है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं अर्जुन नरोत्तम हैं अन्य पात्र जावात्मा की अन्य अवस्थायें हैं। उदाहरण के लिए धृतराष्ट्र गीता की अहकार विमूढ आत्मा (३ २७) हैं। धृतराष्ट्र क सौ पुत्र जीव की विभिन्न आकाक्षाओ क रूप हैं। नरोत्तम अर्जुन धम का पक्षपाती है। इस प्रकार महाभारत सामाजिक

९२—षडानीकृत "मिस्ट्रीज आव महाभारत, भाग १ भूमिका पृ० २२ २३
९३—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ ९२

धम युद्ध होने के साथ साथ मनुष्य के आतरिक युद्ध का रूपक बन जाता है।[९४]

आध्यात्मिक अथ मे महाभारत मोक्ष शास्त्र भी बन जाता है। गीता महाभारत के इस आध्यात्मिक पक्ष को और भी प्रबल बना देती है। किन्तु धम ही मोक्ष और अध्यात्म का मुख्य साधन है। इसीलिए महाभारत म धम का ही वणन अधिक विपुल है। आश्रम धम वण धम स्त्री धम राज धम आदि के रूप मे धम का ही विस्तार अधिक दिखाई देता है। धम सम्मत त्रिवग के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। धम के ही सूक्ष्म और विविध पक्षो को महाभारत मे समझने का प्रयत्न किया गया है। इसी आधार पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे महाभारत के अनुसार धम के विविध पक्षो का विवेचन किया गया है।

९४—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ९८ से १०५ तक

अध्याय — ४

धर्म के रूप

१—'धर्म' शब्द का अर्थ—

'धर्म' शब्द का अर्थ बहुत विविध और व्यापक है। एक ही निश्चित और सीमित अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं होता। एक ही 'धर्म' शब्द भाषा और विचार की परम्परा में अनेक अर्थों का वाचक बन गया है। इनमें कुछ अर्थ अधिक व्यापक हैं और कुछ कम, कुछ अर्थ सामान्य हैं और कुछ विशेष। 'धर्म' शब्द का सबसे व्यापक अर्थ उसके व्याकरणगत मूल धातु 'धृ' पर आश्रित है। 'धृ' का अर्थ धारण करना है।[1] 'धृ' धातु से निर्मित होने के कारण 'धर्म' का अर्थ 'धारण करने वाला' है। जो धारण करता है वही 'धर्म' है।[2] धर्म से अभिप्राय उन गुणों अथवा लक्षणों से है जो किसी वस्तु के स्वरूप को धारण करते हैं। धारण करने का अर्थ अपनाना, पालन करना और बनाये रखना है। योग-दर्शन में एक ही विषय में चित्त की स्थिरता को 'धारणा' कहते हैं।[3] साधारण व्यवहार में किसी मनुष्य के एक निश्चित विचार अथवा विश्वास को 'धारणा' कहते हैं यथा 'यह मेरी धारणा है।" 'धारणा' के सभी प्रयोगों में स्थिरता का भाव पाया जाता है। स्थिरता का अभिप्राय एक निश्चित रूप के बने रहने से है। स्वरूप की स्थिरता का निर्वहण अथवा संरक्षण 'धारणा' का मुख्य लक्षण है।

१—राधाकृष्णन् हिन्दुओं का जीवन दर्शन—पृष्ठ–७४

" रिलीजन एण्ड सोसाइटी—पृष्ठ १०७

२—देशबन्ध चित्तस्य धारणा—योगसूत्र–३–१

३—धारणात् धर्ममित्याहु,

महाभारत-शान्तिपर्व—अध्याय १०६ ११

'धृ' एक सकर्मक धातु है। सकर्मक होने के कारण 'धर्म' का प्रयोग कर्ता तथा कर्म दोनों रूपों में सम्भव है।[४] धारण' एक कर्ता का व्यापार है। साथ ही सकर्मक होने के कारण 'धृ' अथवा धारण का कोई 'कर्म' भी आवश्यक है। कोई कर्ता किसी कर्म का धारण करता है। उदाहरण के लिए शिव अपने मस्तक पर चन्द्रमा को धारण करते हैं। शिव इस धारण के कर्ता हैं और चन्द्रमा का धारण करते हैं। शिव इस धारण के कर्ता हैं और चन्द्रमा उसका कर्म है। प्रतिहारी दण्ड धारण करता है। प्रतिहारी धारण का कर्ता है और दण्ड उसका कर्म है। धर्म धृ' धातु का भाव रूप है।[५] अतएव यह कर्ता और कर्म दोनों हो कर सकता है। किसी स्वरूप की स्थिरता रखने वाला कर्ता धर्म' का वाच्य हो सकता है। जिस स्वरूप का निरूपण किया जाता है वह स्वरूप भी धर्म' कहा जा सकता है। व्याकरण की दृष्टि से यह दूसरा स्वरूप कर्म है। धर्मशास्त्र में दोनों ही अर्थों में धर्म पद का प्रयोग होता है। महाभारत में धारणा के आधार पर ही धर्म की परिभाषा की गई है और धर्म को प्रजा का धारण करने वाला कहा गया है। धर्म की परिभाषा बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों वही धर्म है ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का निश्चय है।[६] धर्म शब्द की दूसरी परिभाषा भीष्मजी ने इस प्रकार बताई कि धर्म का नाम धर्म' इसलिए पड़ा है कि यह सबको धारण करता है अर्थात् अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है। जो प्रजा के धारण से संयुक्त है वही धर्म है ऐसा धर्मवक्ताओं का निश्चय

४—धृ+मन्—शब्द कल्पद्रुम—भाग—२—पृष्ठ—७८३

५—धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिरिति वा—शब्दकल्पद्रुम—भाग—२—पृष्ठ—७८३

६—प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०८—१०

है।"[७] महाभारत के उक्त श्लोक में धर्म का प्रयोग कर्ता के रूप में किया गया है। धर्म प्रजा का धारण करने वाला है। अन्य धर्मशास्त्रों में धर्म का प्रयोग कर्म के रूप में किया गया है। अहिंसा सत्य आदि धर्म के ऐसे लक्षण हैं, जिनको मनुष्य धारण करता है अथवा जिनका मनुष्य पालन करता है।

महाभारत में प्रजा अथवा मनुष्य का धारण करने वाले जिस धर्म को मुख्य माना गया है वह मनुष्य का सामान्य धर्म है। इसे हम 'मानव धर्म' कह सकते हैं। वह मनुष्य के स्वरूप का धारण करता है। वह मनुष्य के मनुष्यत्व का रक्षक है। मनुष्य का यह धर्म स्वतन्त्र है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इसे धारण करता है। दूसरी ओर यह धर्म' मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'[८] केप्रसिद्ध धर्म सूत्र का यही अर्थ है। मनुष्य के द्वारा स्वतन्त्र इच्छापूर्वक धारण किये जाने पर धर्म' उसके मनुष्यत्व और प्रजा अर्थात् समाज का धारण अथवा रक्षण करता है। धर्म का यह सामान्य मानवीय रूप ही लोक के कल्याण का मार्ग है यही महाभारत के उक्त वचन का आशय है।

धर्म' के उक्त अर्थ में धारण' की सकर्मक क्रिया के दोनों रूप घटित हो जाते हैं। प्रजा के धारण करने के अर्थ में धर्म' कर्ता है। वह प्रजा का धारण करने वाला है। जब मनुष्य उस धर्म' का धारण अथवा पालन करता है तो वह धर्म कर्म बन जाता है। धर्मो रक्षति रक्षितः' में धर्म के कर्ता और कर्म दोनों रूपों का समाहार है। रक्षक के रूप में धर्म कर्ता' है तथा रक्षित के रूप में वह कर्म' है। धर्म के सामान्य मानवीय रूप के अतिरिक्त उसके अन्य रूपों में भी धर्म के कर्ता और कर्म भाव घटित होते हैं। धर्म के

७—धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण विधृता प्रजा।
॥ स्यात् धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०६—११

८—मनुस्मृति ८—१५

य अय रूप तीन प्रकार मे हैं— (१) प्राकृतिक धम (२) विशेष धम और (३) सम्प्रदाय धम। प्राकृतिक धम भौतिक अवस्थाओ क सहज अथवा नस गिक लक्षणो को कहते हैं। इनको 'स्वभाव कहा जा सकता है। उदाहरण क लिए अग्नि जलती है। यह जलना अग्नि का धम है। यह अग्नि का सहज नसर्गिक स्वभाव अथवा व्यवहार है। भारतीय विचार धारा म इस धम कहा जाता है। इसम धर्म शब्द का मूल अर्थ घटित होता है। 'कर्म क भाव म अग्नि इस ज्वलन धम को धारण करती है। कर्ता क भाव म यह ज्वलन धम अग्नि के स्वरूप की रक्षा करता है। न जलन वाली शीतल अग्नि को अग्नि कहना भी उचित न होगा। इसी प्रकार प्राण रक्षा करना औषधि का धम है जो औषधि प्राण घात करे उस विष कहना ठीक होगा। व्यापक प्रकृति म यह धम एक नसर्गिक नियम अथवा व्यवस्था बन जाता है। सूय का धम उदित होना, लोको को प्रकाशित करना आदि है। यही प्राकृतिक धम वदिक ऋत का आधार है। इसी प्राकृतिक नियम के सूत्र से ऋत मानवीय धम का मूल स्रोत बना है।

'विशेष धम मनुष्य की विशेष और विभिन्न सामाजिक परिस्थितिओ तथा उसके विशेष सामाजिक सम्बन्धो म उत्पन्न होते है। गुरु का धम शिष्य को पढाना है माता का धम सतान का पालन करना है, सनिक का धम लडना है। जीवन की विशेष परिस्थितिया और विशेष सम्बन्धो म मनुष्य का जो उचित कत्तव्य है वही उसका धम है। यह सामान्य मानव धम का ही विशेष रूप है। इसम भी कर्त्ता और कम दोनो के भाव घटित होते हैं। कम के रूप म मनुष्य धर्म-रूप विशेष कत्तव्य का पालन करता है। कर्त्ता के रूप म यह धर्म मनुष्य के विशेष सम्बन्ध की रक्षा करता है। शिक्षा दने वाला गुरु ही सच्चा गुरु है पालन करने वाली माता ही माता है लडने वाला सनिक ही सनिक है। इन धर्मो का पालन न करने पर वे अपनी सज्ञाओ के अधिकारी नही रहते। य धम ही उनक सम्बन्धगत स्वरूप की रक्षा करते हैं।

सम्प्रदायो के उदय होन क बाद ये सम्प्रदाय अथवा मत भी धम' कहलाने लगे। भारतीय धारणा क अनुसार उन्हें सम्प्रदाय कहना ही अधिक उचित है। धम शब्द रिलीजन अथवा मजहब का पर्याय नही है। धम एक सामान्य मानवीय भाव है। रिलीजन अथवा मजहब ईश्वर, उपासना

आदि के सम्बन्ध म एक विशेष मान्यता का नाम है। 'धम' लौकिक, सामाजिक सामान्य और मानवीय है। रिलीजन अथवा मजहब, अलौकिक, ईश्वरीय सीमित तथा सकुचित है। धारण करने का भाव कुछ सीमा तक इनम भी घटित होता है। इसलिए इनके लिए भी 'धम शब्द का प्रयोग होने लगा। जो लोग इन सम्प्रदाय धर्मों का पालन करत हैं, वे उनके अनुयायी बन रहन हैं। इसाई धम का पालन करने वाला ईसाई और इस्लाम धम का पालन करन वाला मुसलमान बना रहता है। इस सीमित अथ म धम का व्याकरणगत भाव चरिताथ होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह प्राकृतिक धम' के अथ म चरिताथ होता है।

२—प्राकृतिक धर्म और मानवीय धर्म

सस्कृत भाषा का 'धम' शब्द बहुत व्यापक है। प्रकृति और मनुष्य दोनों की क्रियाओं के लिये इसका प्रयोग होता है। व्युत्पत्ति के अनुसार पदाथ अथवा मनुष्य के स्वरूप का रक्षण करने वाली क्रियाये 'धम कहलाती हैं। इनमे प्राकृतिक और मानवीय दोनों प्रकार की क्रियायें सम्मिलित है। प्राकृतिक पदार्थों के स्वरूप का रक्षण जो क्रियायें करती है उन्हें प्राकृतिक धम कह सकते है। प्रकृति म जो स्वाभाविक रूप स होता है, वह प्राकृतिक धम' है—जसे पानी का धम नीचे की ओर बहना है अग्नि का धम जलना है आख का धम देखना है। य सब प्राकृतिक नियम और क्रियायें इस धम के अन्तगत है। मनुष्य के मनुष्य स्वरूप का रक्षण करने वाले लक्षण, गुण आचार आदि 'मानवीय धम' कहलायेंगे। भारतीय धम शास्त्रों और महाभारत म धम का अभिप्राय धम के इसी मानवीय रूप स हैं। मनुष्य के आचार अथवा कर्त्तव्य के अथ म यह धम मनुष्य की इच्छा अथवा उसके सकल्प पर निभर है। प्रकृति जड है। उसम चेतना नहीं है। अत प्रकृति के धम के सम्बन्ध म सकल्प का प्रश्न नहीं उठता। सकल्प चेतना का क्रियात्मक रूप है। वह मनुष्य म ही होता है। सकल्प म मनुष्य धम का वरण और आचरण करता है। सकल्प को स्वतन्त्र माना जाता है। सकल्प के द्वारा मनुष्य धम का आचरण करता है अत धम के कर्त्ता को स्वतन्त्र मानना उचित है। पाणिनि ने भी कर्त्ता को स्वतन्त्र माना है। सकल्प की स्वतन्त्रता के आधार

८—स्वतन्त्र कर्त्ता—पाणिनि—१ ४ ५४

पर ही मनुष्य का मानवीय धर्म स्वतन्त्र मानने योग्य है। इस धर्म का मानने के लिए कोई उसे विवश नहीं कर सकता। शास्त्र आदि केवल उसे आदेश दे सकते हैं। धर्म शास्त्रों के विधान ऐसे ही आदेश हैं। किन्तु मनुष्य उन आदेशों का पालन अपनी इच्छा से ही करता है। वह उनका पालन करने अथवा न करने में समर्थ है।[10] करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता इस मानवीय धर्म का लक्षण है।

प्रकृति में चेतना और संकल्प नहीं होते। अतः प्राकृतिक धर्मों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता का प्रश्न नहीं उठता। वे अनिवार्य और निश्चित होते हैं। पानी नीचे को अवश्य बहेगा, अग्नि अवश्य जलेगी। इनके न होने की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राकृतिक धर्मों में अन्यथा की सम्भावना नहीं होती। ब्रह्मचर्य का पालन, अतिथि सत्कार, दान, दया आदि मानवीय धर्म मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर होते हैं। अतः मनुष्य इन्हें न भी करे, यह भी सम्भव हो सकता है। इनके लिये कोई मनुष्य को विवश नहीं कर सकता और न ये जल प्रवाह की भांति अपने आप होते हैं। ये प्राकृतिक धर्मों के समान नैसर्गिक नियम नहीं हैं। यदि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रयत्न पूर्वक इन्हें करता है तो ये होते हैं अन्यथा नहीं होते। संकल्प में मनुष्य के प्रयत्न का भी भाव रहता है। सामान्यतः मनुष्य के धर्म प्रयत्न के द्वारा ही सम्भव होते हैं। प्राकृतिक धर्मों में यह प्रयत्न नहीं रहता। वे अपने आप होते हैं। यह प्राकृतिक और मानवीय धर्मों में अन्तर है। पदार्थ अथवा मनुष्य के स्वरूप की रक्षा अथवा उसके धारण के अर्थ में तो दोनों ही धर्म समान रूपसे 'धारक' हैं किन्तु प्रयत्न की दृष्टि से उनमें अन्तर दिखाई देता है।

इस अन्तर का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है। जो कार्य मनुष्य प्रयत्न के द्वारा करता है उसे कर्म कहते हैं। यह साधना की अवस्था है। प्रयत्न द्वारा भी कर्तव्य के पालन में सफल होना मनुष्य के लिये गौरव की बात है। अधिक अभ्यास और साधना के बाद मनुष्य को कर्म के लिए धीरे धीरे कम प्रयत्न की आवश्यकता होती है और वह कर्म मनुष्य का

१०—कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म
ब्रह्म सूत्र भाष्य—२ १ २

सह्न स्वभाव बनता जाता है। इस प्रक्रिया के पूण होने पर क्तव्य मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाता है। तब उस कम न कह कर 'धम' कहना उचित है। वह प्रयत्न से नही वरन् सहज भाव से होता है। सचेतनता क अतिरिक्त उसम प्राकृतिक धम स सहज भाव म बहुत समानता होती ह। धम के इस रूप म धम क प्राकृतिक रूप का सहज भाव मानवीय धम म भी चरिताथ होता है तथा धम' का व्यापक प्रयाग साथक हो जाता है। धम' क इस रूप का शील' भी कहते हैं। शील भी धम के समान व्यापक है। अग्नि के ज्वलन धम को शील भी कह सकते हैं। अग्नि' ज्वलन शील है। जल वहन शील है। मानवीय प्रसग म शील' धम के समान ही मनुष्य का लक्षण है। किन्तु धम मे जो प्रयत्न का भाव रहता है वह शील म नही रहता। 'शील मनुष्य का निश्चित स्वभाव अथवा लक्षण है। यह साध नावस्था का धम नही है, वरन् सिद्धावस्था का धम है। जिस प्रकार प्रकृति क धम अथवा शील का व्यवहार सहज भाव स, बिना प्रयत्न होता ह तथा उसका अ यथा--भाव नही होता उसी प्रकार मनुष्य के शील रूप धम का व्यवहार भी सहज स्वभाव से बिना प्रयत्न क होता है तथा हरिश्चन्द्र के सत्य युधिष्ठिर क धर्म कण के दान आदि की भाति उसका भी अ यथा—भाव नही होता। 'धारण' क अथ म धम तथा सहजभाव के अथ म शील की व्याप कता प्रकृति और मनुष्य के व्यवहारा म चरिताथ हाती है। दाना म इतना अतर अवश्य है कि प्रकृति क धम अचेतन हान के कारण मनुष्य क लिय हानिकारक भी हा सकत हैं (यद्यपि प्रकृति क अधिकाश धम मनुष्य क लिय लाभकारक हैं) किन्तु मनुष्य क मानवीय धम मनुष्य समाज क लिय सदा कल्याण कारक होते है व हानिकारक नहीं हो सकते। समाज की हानि धम स नही दूसरो के अधम स होती है। अत मानवीय धम मनुष्य समाज का मगल सूचक भी है। कणाद के सूत्र के अनुसार हम उसमे अभ्युदय और नि श्रेयस की भी आशा कर सकते हैं।

३—धर्म और सम्प्रदाय—

मानवीय धम क हम दो विभाग कर सकते हैं। एक को हम साव भौम धम कह सकते हैं दूसरे को उसकी सीमितता और सकुचितता का दृष्टि स सम्प्रदाय का कहना उचित हागा। सावभौम धम मानवीय धम का वह रूप

है जो देश काल जाति वर्ण आदि के वेद से परे सभी परिस्थितियों मे प्रत्येक मनुष्य का धम है। ये मनुष्य के सदाचार के वे गुण हैं जिन्हें भारतीय धम शास्त्रो मे 'धम' के अन्तगत गिना गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता समानता आदि का आदर करना इसी धम का लक्षण है। सत्य अहिंसा आदि गुण इसी धम के अग है। इस धम म कोई वग विभाजन नही होता। यह मनुष्य मात्र का धम है। भारतीय धम शास्त्रो मे तथा महाभारत म मुख्य रूप से इसी धम को महत्व दिया गया है।

किन्तु पश्चिमी परम्परा के सीमित धम सम्प्रदायो के लिए 'रिलीजन' के पर्याय के रूप मे भी 'धम' शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। प्राय धम का अभिप्राय ईसाई धम इस्लाम धम हिन्दू धम आदि म समझा जाता है। मनुष्यो के समाज इनको धारण करते है तथा य धम अपने अनुयायियो को ईसाई मुसलमान आदि रूप को सुरक्षित बनाते हैं इस अथ मे तो ये भी धम की परिभाषा के अन्तगत आ जाते हैं। इन धर्मों के प्रचारक इस अथ म इनको सावभौम मानवीय धम भी मानते हैं कि अपने धम-सम्प्रदायो का छोडकर सभी वग के लोग इन धर्मों मे सम्मिलित हो सकते हैं। धम के प्रचार प्रसार को इन धर्मो मे एक पवित्र कर्तव्य माना जाता है। दूसरो को धम परिवतन के लिए विवश करने के लिए इन धर्मो के अनुयायियो ने छल बल का भी प्रयोग किया है। इनके धम प्रचार म अनेक अनथ हुये है। तलवार के द्वारा भी धम का प्रचार हुआ है। इन धम सम्प्रदायो के अनुयायी अपने धर्मों की श्रेष्ठता पर गव करते हैं तथा भिन्न धम वालो को अपवित्र समझते हैं और उन्हें काफिर आदि नामो से पुकारते हैं। य धर्माभिमानी धम प्रचार और धम-परिवतन के अनथ एव अधम पर गहराई स विचार नहीं करते।

'धम' का एसा रूप जिसका प्रचार करना पडे अथवा जिसके प्रचार म अनथ उत्पन्न हो तथा जो समाज को विरुद्ध वर्गों म विभाजित कर दे अपने को मानवीय मानते हुए भी अमानवीय बन जाता है। मनुष्यो क एक वग के द्वारा यह धारण किया जाता है इस अथ म तो वह भी मानवीय है। उसे मानुषीय कहना अधिक उचित होगा। प्रचार के आग्रह के द्वारा वह मानवीयता का प्रतिघात करता है। धम क य रूप मनुष्य क सकल्प स ही निर्मित हुये हैं किन्तु इस सकल्प म आत्मा की स्वतन्त्रता के साथ-साथ सगठन प्रचार आदि के प्राकृतिक भावो का प्रभाव अधिक है जो सकल्प की स्वतन्त्रता को

सीमित और कलुषित कर देता है। कुछ विशेष सिद्धान्तों और मान्यताओं के अनुरोध के कारण ये धम अपनी सीमा म सकुचित होकर 'सम्प्रदाय' बन जाते हैं। प्रचार के द्वारा ये सार्वभौम बनने की आकांक्षा रखते हैं किन्तु इनके विशेष सिद्धान्त सर्वमान्य नही बन सकते। इनके सामान्य मानवीय सिद्धान्त भी इन विशेष सिद्धान्तों की सीमा मे बँधे हुये हैं। इसके विपरीत धमशास्त्रों के सामान्य मानवीय सिद्धान्त स्वतन्त्र और सर्वमान्य हैं। वे इन सीमित धम सम्प्रदायों म भी स्वीकृत हैं तथा धमशास्त्रों को न जानने और न मानने वाले भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा और धारणा से उन मानवीय सिद्धान्तों को मानते हैं। यही मानवीय धम का वास्तविक रूप है। धमशास्त्रों म किन्हीं विशेष मान्यताओं की सीमा से मुक्त मानवीय धम का यह रूप सुरक्षित है। यही भारतीय धमशास्त्रों और हिन्दू धम का गौरव है।

हिन्दू धम की गणना भी ईसाई धम इस्लाम धम आदि के साथ धम सम्प्रदायों म की जाती है। किन्तु ऐसी गणना करने वाले हिन्दू धम और पश्चिमी धर्मों के मुख्य अन्तर को भूल जाते हैं। हिन्दू धर्म म अनेक सम्प्रदाय हैं। जैन धम, बौद्ध धर्म सिख धर्म वैष्णव धम शैव धर्म आदि इनके उदाहरण हैं। किन्तु इनम कोई भी सम्प्रदाय अपने विशेष सिद्धान्तों का आरोपण अथवा प्रचार करने का प्रयत्न नही करता और न दूसरे सम्प्रदायों को अपवित्र मानता है। इसके विपरीत सभी धम-सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायों का आदर करते हैं। ईसाई और इस्लाम के सम्प्रदायों म यह उदारता और सहिष्णुता नही मिलती। निष्कर्ष यह है कि भारतीय सम्प्रदायों के विशेष रूप और विशेष सिद्धान्त भी सामान्य मानवीय धम के अनुकूल हैं। इसीलिये ये आरोपणवादी तथा प्रचारवादी नही बन सके। सम्प्रदाय होते हुए भी ये सार्वभौम मानवीय धम की आत्मा से अनुप्राणित हैं। इसके विपरीत ईसाई और इस्लाम धर्मों के सामान्य मानवीय सिद्धान्त उनकी विशेष मान्यता के आग्रह तथा आरोपण के कारण कुण्ठित एवं निष्फल हो गये हैं।

हिन्दू धर्म के इसी उदार रूप का संकेत करते हुए डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि हिन्दू धम कोई सम्प्रदाय नही है वरन् उन सबों का भ्रातृमंडल है जो सत् नियमों को मानते हैं और निष्ठापूर्वक सत्य की खोज करते हैं।[11]

११—हिन्दुओं का जीवन-दर्शन पृष्ठ ७३

मम्प्रगय को मानवीय धम से कितना दूर ले जाता है।

४— वैदिक धर्म और वैशेषिक धर्म

भारतीय धमशास्त्रा और महाभारत मे मानवीय आचार एव गुणा को 'धम' माना गया है। वे मनुष्य के लिए पालनीय हैं और उनके मनुष्यत्व को धारण करत है। धम के इस रूप का स्रोत वेदा म माना जाता है। मनु के अनुसार वेद अखिल धम का मूल है।[२२] वर्णाश्रम व्यवस्था तथा वर्णों और आश्रमा के आचारा को भी वेद विहित माना जाता है। इस प्रकार धमशास्त्रो का धम वेदानुकूल है। किन्तु धमशास्त्रा म वर्णाश्रम धम का विधान विशेष रूप से और विस्तार के साथ किया गया है। सामान्य मानवीय धम का निरूपण धमशास्त्रा की एक महती विशेषता है। धमशास्त्रो के 'धम म सार्वभौम मानवीय गुणा तथा सामाजिक आचारा का विशेष महत्व है। ये आचार मनुष्य के सामाजिक कतव्य होत हैं। इस अथ म कम रूप भी कहे जा सकत हैं। किन्तु इनम क्रिया के साथ-साथ सामाजिक भाव की प्रेरणा भी रहती है। दया, दान, आतिथ्य आदि के कम भाव स भी ओत प्रोत रहत हैं। शास्त्र का विधान होत हुय भी भाव ही इनका मुख्य स्रोत है।

वदिक कर्म म वदिक विधि की प्रेरणा प्रधान होती है। वदिक धम म कम की प्रधानता होती है। इसीलिय वदिक परम्परा म धम की परिभाषा कर्म की प्रधानता के अनुसार की जाती है। पूव मीमासा म विधि-रूप कर्म को ही धम कहा गया है।[२३] जो वेदो म विहित है वही धम है। पूव मीमासा के अनुसार वेद का अर्थ विधि प्रधान ही है।[२४] जो वेद-वाक्य विधि-परक नहा है उन्हे मीमासादर्शन अर्थवाद' मानता है। व पदार्थ, फल दवता आदि की प्ररोचना द्वारा कम के उपकारक हैं। वेदा म मुख्यत यज्ञ-कम का विधान है। ये यज्ञ ही धम के मुख्य आधार हैं। गीता[२५] तथा बुद्ध वदिक

२२–वेदोऽखिलो धममूलम्, मनुस्मृति २ ६

२३–चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म–मीमासा सूत्र–१ १ २

२४–आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्, मीमासासूत्र–१ २ १

२५–गीता–अध्याय ४

व्याख्याकारा ने सभी उत्तम कर्मों का यन का रूप देकर 'यन' की धारणा को विस्तृत बना दिया है। उनके अनुसार सभी सामाजिक कर्म यन है।[२६] यन की यह व्यापक यारया वदिक कम क साथ धर्मशास्त्रा के धर्म की सगति सम्भव बना दता है। इस सगति से धम शास्त्रा और महाभारत की वेदानुकूलता भी सिद्ध हा जाती है।

वनेपिक दशन मे 'धम' को अभ्युदय और नि श्रेयस का कारण बताया गया ह।[२७] लौकिक उन्नति का नाम अभ्युदय है। नि श्रेयस का अथ मोक्ष है। मोक्ष आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है। प्राय लौकिक और आत्मिक उन्नति म विरोध माना जाता है। इसीलिये कुछ दशना मे लौकिक एव भौतिक मूल्या से त्याग एव सन्यास का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु वशेपिक दशन मे लौकिक और आत्मिक उन्नति के समन्वय की कल्पना की गई है। वशेपिक दशन मे आत्मा की परिभापा भी इस प्रकार की गई है कि उसम शारीरिक और आत्मिक दोनो प्रकार के गुणो का समाहार है।[२८] आगे चलकर वशेपिक सम्प्रदाय मे आत्मा को निगु ण माना गया है और नि श्रेयस अथवा मोक्ष का अथ आत्मा के अखिल गुणो का ध्वस किया गया है।[२९] इस मोक्ष के लिये त्याग और सन्यास को भी आवश्यक माना गया है। किन्तु मूल वशेपिक सूत्र के अनुसार धम मे लौकिक अभ्युदय और आत्मिक उन्नति दोना की सगति को समव माना गया है। अभ्युदय को सम्मिलित कर धम की धारणा वद विहित धम के भी अधिक अनुकूल बन जाती है। वेद मे विहित बहुत से यन, कम आदि लौकिक अभ्युदय के लिए भी हाते हैं। धमशास्त्रा म लौकिक अभ्युदय को धम का महत्वपूर्ण अग नही माना गया है। धमशास्त्रो के धम म आत्मिक भाव और सामाजिक कर्त्तव्य ही प्रधान है। मोक्ष को भी महाभारत म 'धम

२६—डा० पतहसिह भारतीय समाजशास्त्र—पृष्ठ ६६

२७—यतोऽभ्युदय नि श्रेयस सिद्धि स धम
वनेपिक सूत्र—१ १ २

२८—प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर विकारा
सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।
वनेपिक सूत्र—३ २ ४

२९—नि श्रेयसमेककालीनसकलात्मविशेषगुण ध्वस ।
वनेपिक सूत्र—उपस्कार वृत्ति—१ १ २

माना गया है। धम के अनक रूपो के साथ मोक्ष धम भी महाभारत का लक्ष्य है।[30] धमशास्त्रा मे धम को पुरुषार्थों मे प्रथम और मोक्ष का अन्तिम माना गया है। वशेषिक दशन की धम की परिभाषा सामाजिक धम का स्थान नहीं देती। निःश्रेयस क साधन के रूप म हम उसका अनुमान कर सकत हैं। सदाचार रूप धम मनुष्य के अभ्युदय का भी कारण बन सकता है। न्यायपूवक धन भी उपार्जित किया जा सकता है। यदि सदाचार रूप सामाजिक धम को अभ्युदय और मोक्ष का कारण मान लिया जाय तो वदिक, वशेषिक और स्मात तीनो प्रकार क धर्मों का समन्वय हो जाता है तथा लौकिक सामाजिक और आत्मिक मूल्यो का सामजस्य हो जाता है।

धम क य वदिक और वशेषिक रूप धम की मौलिक धारणा के अनुरूप हैं। वदिक कर्मो का शासन वद की विधि म अवश्य है। उनम नित्य कर्मो म मनुष्य की स्वतन्त्रता नहीं है। उनके न करने से प्रत्यवाय होता है। किन्तु काम्य कर्मो म मनुष्य को अधिक स्वतन्त्रता है। मनुष्य इनको करने अथवा न करन म स्वतन्त्र है। मनुष्य अपने सकल्प द्वारा उन कर्मो को करता है। सकल्प द्वारा व उसके पालनीय धम बन जाते है। नित्य कम भी सकल्प क द्वारा धम बन जाते हैं। वशेषिक क अभीष्ट कम, जो अभ्युदय और निःश्रेयस क साधन बनते हैं व भी सकल्प क द्वारा ही किये जाते हैं। निःश्रेयस क साधक होने के साथ-साथ व अभ्युदय आदि श्रेयो के साधक भी होते हैं। इस प्रकार वदिक और वशेषिक धम भी धमशास्त्रा और महाभारत के धम की भाँति कल्याण कारक बन जाते हैं। व मनुष्य के मनुष्यत्व और प्रजा अथवा समाज का धारण कर धारक के अथ म भी धम बनते हैं। धम क वदिक और वशेषिक रूप धमशास्त्रा के धम के समान सावभौम स्वतन्त्र और मानवीय हैं तथा अनुदार सम्प्रदाय क वाचक धम से विवेचनीय हैं।

६—धर्मशास्त्रों का धर्म—

धमशास्त्रा और महाभारत म जिस धम का विवरण किया गया है

३०—आदिपव अध्याय ६२, श्लोक २३
शान्तिपव अध्याय २७४, श्लोक १६

वह वेद-सम्मत अवश्य है किन्तु वेद विधियो के समान स्वलिमन और लौकिक नहीं है। उसमे मनुष्य क आत्मिक गुणो और श्रेष्ठ सामाजिक कर्त्तव्यो की प्रधानता है। ये गुण और कर्त्तव्य अत्यन्त उदार एव मानवीय हैं। वर्णाश्रम के अनुकूल होते हुए भी धमशास्त्रों के धर्म का सामान्य रूप सार्वभौम और उदार है तथा इस दृष्टि से सम्प्रदाय रूप धम की अनुदारता से रहित है। यह आरोपण और आग्रह से रहित श्रेष्ठ एव उदार मानवीय धम है।

धमशास्त्रो म इस धम का रूप या विवरण तीन प्रकार म मिलता है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियो म धम के कुछ लक्षण गिनाये गये हैं। व मानव क नतिक गुण हैं। इनमे अहिंसा क्षमा सत्य आदि गुण मुख्य हैं। य नतिक गुण धम का रूप हैं। ये गुण अनेक हैं। किन्तु अनक गुणो के अतिरिक्त धमशास्त्राचार्यों ने धम का एक सामान्य रूप भी बतलाया है। याज्ञवल्क्य न इस सामान्य धम को आत्म-दर्शन' कहा है।[३१] व्यास जी ने गीता और महाभारत म 'समता' को धम का सार माना है।[३२] यह धम का दूसरा रूप है। धम का तीसरा रूप विभिन्न आश्रमो और वर्णों के विशिष्ट कर्त्तव्यो के रूप म मिलता है। अपनी स्थिति के अनुसार ब्रह्मचारी गृहस्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का जो कर्त्तव्य है, वही उनका धम है। गीता की भाषा म हम इस कर्त्तव्य को 'स्व धम' कह सकते हैं। य प्रत्येक मनुष्य का अपनी स्थिति के अनुसार उचित कर्त्तव्य है। मनु ने अपने धमशास्त्र म धम के दश लक्षण बताये हैं— 'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शौच निग्रह धी विद्या सत्य अक्रोध।[३३] धृति का अर्थ धय है। धय का अर्थ कष्ट सहना और सकट मे अपने धम स विचलित न होना है। दूसरो के दोष और अपराध के प्रसग म उदारता का व्यवहार क्षमा है। दम का अर्थ इन्द्रियो को सयम म रखना है। स्तेय का अर्थ चोरी

३१—इज्याचार दमोऽहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अय तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
याज्ञवल्क्य स्मृति-१-८

३२—गीता—अध्याय ६ ३२

३३—धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम्॥
मनुस्मृति अध्याय ६—श्लोक—६६

करना है। अत अस्तय चोरी न करने को कहग। शौच का अथ शरीर और मन की पवित्रता रखना है। निग्रह उत्तेजना के पूव ही इन्द्रिया का नियन्त्रण म रखना है। धी का अथ है बुद्धि। विद्या धम के सभी लक्षणा का आधार है। प्रवृत्ति और भावना का वग रोकने म बुद्धि सहायक होती हैं सत्य धम का एक महत्वपूरा रूप है। अक्रोध मनुष्य की बुद्धि का स्वच्छ रखना है। इसी कारण धम के लक्षणा म अन्य दोपा को छोडकर अक्रोध का शामिल किया गया है।

यानवल्क्य न धम के नौ लक्षण बताये हैं। जिनको उन्होंने धम क साधन कहा है, उनम कुछ लक्षण ता मनु क समान हैं। सत्य, अस्तय शौच इन्द्रिय निग्रह, दम आदि मनु और यानवल्क्य दानो म समान रूप से पाय जात हैं। यानवल्क्य न अहिंसा, दान आदि कुछ नवीन लक्षणा को स्थान दिया है।[३४] इनम अहिंसा सबसे अधिक महत्वपूरा है इसीलिए यानवल्क्य न इसको अपन लक्षणा म प्रथम स्थान दिया है। अहिंसा का अथ मन वचन कम से किसी का कष्ट न पहुचाना है। वस्तुत अहिंसा का भाव इतना व्यापक है कि सत्य, अस्तय क्षमा आदि इसी के अन्तगत आ जात हैं। इनम भी हम अपन का दूसरो को कष्ट पहुचान से रोकत हैं। यह अहिंसा का निपेधात्मक रूप है। भावात्मक रूप म अहिंसा का अभिप्राय प्रेम और उदारता स है। दान और सेवा उसके उदाहरण हैं।

मनु और यानवल्क्य न धम क जो लक्षण गिनाये हैं उनम कुछ महत्व पूरा नतिक गुणा का ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्व पूरा गुणा की कल्पना की जा सकती है। इस सम्बन्ध म मतभेद भी हो सकता है, जसा कि मनु और यानवल्क्य म है। नतिक गुणा का स्वरूप बडा व्यापक हाता है। अत अहिंसा क्षमा शौच इन्द्रियनिग्रह आदि म अनक गुणा का समाहार सम्भव है। धम की धारणा के सम्बन्ध म गुणा की गणना को महत्व न देकर हम धम की भावना को महत्व देना चाहिए। उस धम की भावना का मूल प्रत्यक गुण म खाजा जा सकता है। यानवल्क्य ने आत्म-दशन के रूप मे धम के उस सामान्य भाव का सकेत किया है। 'आत्मदशन

३४—अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह।
दान, दमो, दया, क्षान्ति सर्वेषा धमसाधनम्॥
यानवल्क्य स्मृति-अध्याय १ १२१

का अभिप्राय आत्मदृष्टि से है। मनुष्यों म अन्य प्रकार से अनेक भेद होते हैं। किन्तु आत्मा अथवा चेतना की दृष्टि से सब समान होते हैं। बल, बुद्धि, विद्या, धन आदि म अन्तर होते हुए भी सुख-दुख, रूप भोगादि का अनुभव सबको समान रूप से होता है। इस प्रकार आत्मा मनुष्य की समता का आधार है। देवल ने इसी समता को धर्म का सर्वस्व माना है। उनके अनुसार धर्माचरण का रूप यह है कि 'जिस व्यवहार को हम अपने प्रतिकूल मानते हैं वह व्यवहार हम दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। ऐसा व्यवहार करने से दूसरों को भी कष्ट होगा। धर्म का यह आचरण तभी सम्भव हो सकता है जबकि दूसरों को हम समान मानें। भगवद्गीता म इसी आत्ममूलक समभाव को योगी का लक्षण बताया है कि "जो अपनी उपमा से अथवा अपनी समानता से सुख और दुःख में दूसरों को समभाव से देखता है वह परमयोगी है। ३६ धर्म की दृष्टि से ही नहीं योग और आध्यात्म की दृष्टि से भी समता का भाव ही सर्वश्रेष्ठ है। यह समता ही धर्म का मूल तत्त्व है। यह समता का भाव ही उन समस्त सद्गुणों का स्रोत है जो मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा धर्म के लक्षणों मे गिनाये गये हैं। यह समता ही मानवीयता का मर्म भी है। यह समता ही धर्म का आधार है। व्यवहार म इसका पालन ही धर्म का सामान्य रूप है।

प्रेम, संयम और सदाचार इस समता की अभिव्यक्ति के तीन मुख्य रूप हैं। प्रेम समता का सामान्य भाव है। वह हमारे अतिचार की मर्यादा बनता है। मर्यादा को मानने पर संयम हमारा कर्त्तव्य बन जाता है। संयम का अर्थ आत्मानुशासन है। समता और प्रेम के अनुकूल दूसरों के प्रति व्यवहार सदाचार है। संयम को हम शील कह सकते हैं। धृति शौच, इन्द्रियनिग्रह अक्रोध आदि संयम के अन्तर्गत हैं। क्षमा अहिंसा दान दया आदि सदाचार

३५—श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
देवल

३६—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
भगवद्गीता—अध्याय ६ ३२

के अन्तर्गत हैं। समता और प्रेम के भाव इनकी प्रेरणा है। हिंसा चोरी आदि सबको अपने प्रतिकूल लगते हैं। अतः दूसरों के प्रति भी उनका व्यवहार करना उचित नहीं है। अहिंसा, अस्तेय आदि सबको अपने अनुकूल लगते हैं अतः वे धर्म के अनुकूल हैं। दान दया, क्षमा, सत्य आदि अनुकूल और प्रिय आचरण के ऐसे रूप हैं जिनमें किसी एक का अनुपालन करने पर भी धर्म का सामान्य रूप सिद्ध हो जाता है। इनमें एक का पालन करने वाला भी स्वभावतः धर्म के अन्य लक्षणों का पालन करेगा। धर्म के इन लक्षणों की गणना में कुछ मतभेद मिलता है, इसका कारण यही है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न सद्भावों और सत्कर्मों को महत्व दिया है। फिर भी उनके मतों में समानता अधिक है। इसका कारण सामान्य धर्म का आधार है। इनके अतिरिक्त और भी लक्षण गिनाये जा सकते हैं किन्तु ये सभी लक्षण साम्य के सामान्य धर्म से घटित होते हैं। ये लक्षण साम्य के सामान्य धर्म के विशेष रूप हैं, जो व्यवहार में साकार होते हैं।

सामान्य धर्म और धर्म के लक्षणों के रूप में मानव धर्म के जिस व्यापक रूप का विवरण धर्म शास्त्रों में किया गया है वह सार्वभौम मानवीय धर्म है। धर्म की इस धारणा में मानवीय भावों और गुणों के उस रूप को ग्रहण किया गया है जो मनुष्य होने के नाते प्रत्येक मनुष्य के लिए मानवीय हैं। धर्म का यह रूप मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करता है। जब तक मनुष्य इसका पालन करता है तभी तक वह मनुष्य रहता है। अपने व्यवहार से धर्म के इस सार्वभौम रूप का खण्डन करने पर मनुष्य-मनुष्य नहीं रहता। दया से हीन हिंसा करने वाले मनुष्य को प्रायः हम मनुष्य नहीं मानते और उसे राक्षस की संज्ञा देते हैं। क्रोध में भी मनुष्य प्रायः राक्षस बन जाता है। ब्रह्मचर्य अस्तेय आदि के उल्लंघन में भी वह राक्षस तुल्य नृशंस व्यवहार करता है जो उसे मनुष्य पदवी से च्युत कर देता है। इसीलिए दया, अक्रोध ब्रह्मचर्य अस्तेय आदि नैतिक गुण धर्म के लक्षण माने गये हैं। इनका पालन मनुष्य को मनुष्य बनाये रहता है। मनुष्यता की रक्षा के लिए केवल नैतिक गुण ही नहीं वरन् बौद्धिक गुण भी अपेक्षित हैं। बुद्धि और विद्या से हीन मनुष्य को प्रायः हम मनुष्य नहीं मानते और उसे पशु की संज्ञा देते हैं। इसलिए मनु ने अपने धर्म के लक्षणों में बुद्धि (धी) और विद्या की गणना की है। नैतिक और बौद्धिक गुणों के साथ साथ पवित्र आचार भी मनुष्य का लक्षण है।

इसीलिए धम के लक्षणा म शौच को स्थान दिया गया है। धम के ये लक्षण
और साधन सावभौम और सावकालिक हैं। याग क महायता की भांति व
देश, काल और नियम से अनवच्छिन्न हैं। य सभी देश, सभी काला और
सभी परिस्थितिया म पालनीय है। जाति कुल, सम्प्रदाय आदि क भेदा क
आधार पर भी इनम भेद नही किया जा सकता।

धम के इन सामान्य और सावभौम रूपा के अतिरिक्त धमशास्त्रा म
धम का एक और रूप भी मिलता है जिसे हम 'विशेष धम' का नाम दे सकते
हैं। य विशेष धम देश, काल, जाति परिस्थिति आदि की सीमाआ के अनुसार
विहित होता है। अत यह सबके लिए एक नही हो सकता। धम शास्त्रो म
वण धर्म और आश्रम धम के रूप म जिन धर्मों का वणन किया गया है और
गीता मे जाति धम कुलधम आदि के रूप म जिन धर्मों का सकेत किया गया
है, व इस विशेष धम के ही विविध रूप ह। गीता की भाषा म इसे स्वधम
कह सकते ह। यह विशेष काल परिस्थिति सम्बन्ध आदि के प्रसग म एक
वग अथवा व्यक्ति का अपना धम है। इस अथ मे यह विशेष धर्म, सामान्य
धम और उसके लक्षणा के अनुकूल है। स्वधम के पालन के साथ साथ
सामान्य धम का पालन भी प्रत्येक वग और व्यक्ति के लिए आवश्यक है। अत
दोना का समन्वय अपेक्षित है। धम शास्त्रो म जहा स्वधम के पालन के प्रसग
म राजधर्म आदि की भांति उनके धर्मानुकूल पालन का आदेश दिया गया है
वहाँ इस पिछले धम का अभिप्राय सामान्य धम से ही है और दोना का
समन्वय वाछित है। मनुष्य समाज के देश काल सम्बन्ध आदि के अनुसार
उनके विभाजन हो सकते ह। व्यक्ति भी अनन्त ह। अत इन विशेष धर्मों
अथवा स्वधर्मों के अनेक रूप हो सकते ह। धम शास्त्रा मे इस प्रसग म चार
वर्णों, चार आश्रमो कुल जाति तथा स्त्री, पुत्र शिष्य बन्धु आदि कुछ प्रमुख
भेदो का ही विवरण किया गया है और उन्ही के स्वधर्मों का उल्लेख है। जसे
ब्रह्मचारी का धम इन्द्रिय सयम, सुख का त्याग और विद्योपाजन है। इसी
प्रकार गृहस्थ और वानप्रस्थो के कर्तव्य उनके धर्म ह। अध्ययन, अध्यापन
यजन याजन, दान प्रतिग्रह आदि ब्राह्मणो के धम ह। प्रजा की रक्षा युद्ध
आदि क्षत्रियो के धम ह। कृषि, गो पालन और व्यापार आदि वश्यो के धर्म
ह। शूद्र का धम सेवा करना है। यह धम का विशेष रूप है जो प्रत्येक
व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार पालनीय ह। धम के य विशेष रूप भी

धर्म के उन नैतिक लक्षणों से सम्बन्ध रखते हैं जिनको मनु और याज्ञवल्क्य ने गिनाया है। यह धर्मशास्त्रों की व्यावहारिक सीमा है। इनके अतिरिक्त सामान्य मानव धर्म के आधार पर कोई भी वर्ग अथवा व्यक्ति किसी भी प्रसंग और परिस्थिति में अपने स्वधर्म का निर्णय कर सकता है

धर्मशास्त्रों के सम्मत धर्म के ये रूप विविक्त होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं हैं वरन् इसके विपरीत इन सबमें समन्वय अपेक्षित है। इस प्रकार धर्म की यह समृद्ध कल्पना मनुष्य-समाज की विशालता तथा जीवन और उसकी परिस्थितियों की विविधरूपता की दृष्टि में अत्यन्त समृद्ध और व्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त धर्म की यह धारणा पूर्ण रूप से मानवीय और प्रमुखतः जनतान्त्रिक है। मनुष्य का आदर, स्वतन्त्रता और अविरोध धर्म की इस धारणा के प्रमुख लक्षण है। ये लक्षण इस धर्म को सार्वभौम बनाते हैं सकुचित धर्म सम्प्रदाय भी अपने को सार्वभौम कहते हैं। इन सम्प्रदायों को अंगीकार करके सम्पूर्ण मानवजाति क्रम से किसी एक धर्म की अनुगामी बन सकती है। किन्तु इन धर्म सम्प्रदायों की अनेकता ही उनकी सार्वभौमता का खण्डन करती है। सम्पूर्ण मानव-जाति के द्वारा अंगीकृत होने पर अथवा सम्पूर्ण मानवजाति पर आरोपित होने पर कोई भी सिद्धान्त अथवा विश्वास सार्वभौम बन सकता है। यदि अपनी आकांक्षा के अनुसार इस्लाम धर्म विश्व विजयी बन जाता तो वही सार्वभौम बन जाता। सम्पूर्ण विश्व पर आरोपित होने पर साम्यवाद सार्वभौम बन सकता है किन्तु यह धर्म की सार्वभौमता का वास्तविक रूप नहीं है। धर्म की सार्वभौमता मानव-समाज में उसकी व्यापक स्वीकृति पर निर्भर नहीं करती वरन् उसके सिद्धान्तों की सार्वभौम स्वीकार्यता पर निर्भर करती है। यदि किसी धर्म के सिद्धान्त मानव मात्र के लिए माननीय हैं तो वह वस्तुतः सार्वभौम है चाहे उसके अनुयायी कितने ही अल्पसंख्यक क्यों न हो। इस अर्थ में ईसाई और इस्लाम धर्म तथा अन्य सभी सम्प्रदाय अंशतः सार्वभौम हैं। इन सबमें कुछ ऐसे मानवीय सिद्धान्त हैं जो मानव-मात्र के लिए माननीय हैं। इन धर्म सम्प्रदायों की सार्वभौमता वहीं खण्डित होता है, जहाँ वे प्रचार और आरोपण का अवलम्ब लेते हैं। सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, अतः उनकी सार्वभौमता का आग्रह उचित नहीं है। स्वतन्त्रता समानता अप्रचार, अनारोपण दूसरों के मत का आदर आदि ही धर्म की सार्वभौमता के वास्तविक तत्त्व हो सकते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता का आदर ही अंतिम धर्म है। इसे मानने पर सभी

सम्प्रदाय सार्वभौम बन जाते हैं। भारतीय धर्म परम्परा में इसी रूप में अनेक सम्प्रदाय पनपते रहे हैं। सम्प्रदायों का यह रूप मानवीय धर्म के उन मूल रूपों के साथ सम्बद्ध है।

अतः भारतीय संस्कृति का धर्म मनुष्यता का धर्म है। वह प्रेम और सद्भाव का सामान्य और सार्वभौम भाव है। वह किसी जाति, रंग, देश, ईश्वर या धर्म आदि में सीमित धर्म नहीं है। ईश्वर के किसी विशेष रूप अथवा उपासना की किसी विशेष विधि से भी उसका सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्म के उपर्युक्त सब रूपों का समन्वय मनुष्य-जीवन के उस परम लक्ष्य में होता है जिसे भारतीय दर्शन में अभ्युदय और निःश्रेयस कहा गया है। अभ्युदय लौकिक उन्नति है। निःश्रेयस आध्यात्मिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। धर्म नैतिक और सामाजिक आचार का वह रूप है जिसके आधार पर इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। धर्म का सामान्य रूप और उसके विशेष लक्षण दोनों ही मनुष्य मात्र के लिए समान रूप से मान्य हैं। महाभारत तथा अन्य धर्म-शास्त्रों में धर्म के इन्हीं मानवीय तथा सार्वभौम एवं उदार रूप के सामान्य और विशेष पक्षों का विस्तृत विवरण मिलता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में धर्म के इन दोनों रूपों का महाभारत के अनुसार विवेचन किया गया है। धर्म के साम्प्रदायिक रूप का धर्मशास्त्रों तथा महाभारत में कोई स्थान नहीं है। ईश्वर तथा देवता सम्बन्धी धर्म के रूप का कुछ विवरण महाभारत में मिलता है किन्तु वह संकुचित तथा दुराग्रहपूर्ण नहीं है वरन् सामान्य धर्म के प्रभाव से उदार एवं विशिष्ट रूप है।

अध्याय— ५

महाभारत में धर्म का स्वरूप

धर्म का स्वरूप—

महाभारत में धर्म का स्वरूप बहुत कुछ धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। पिछले अध्यायों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्मशास्त्रों और महाभारत में जिसे धर्म कहा गया है वह रिलीजन से भिन्न है। धर्मशास्त्रों का धर्म उदार, मानवीय और सार्वभौम धर्म है। इनकी तुलना में रिलीजन को धर्म सम्प्रदाय कहना अधिक उचित है। धर्मशास्त्रों का धर्म मानवीय है। वह मानवीय व्यवहार का शील है। ईश्वर सम्बन्धी कोई मान्यता उसमें आवश्यक नहीं। रिलीजन के नाम से जो धर्म-सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं उनमें ईश्वर सम्बन्धी मान्यतायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन मान्यताओं के आग्रह प्रायः मानवीय शील का खंडन भी करते रहे हैं। धर्म प्रचार के सम्बन्ध में इन सम्प्रदायों के पैगम्बरों के वचन भी मानवीय शील के विपरीत हैं। वे मनुष्य की समता और स्वतन्त्रता का खण्डन करते हैं। धर्मशास्त्रों का धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें ऐसा कोई आत्मविरोध नहीं है और जो अपनी उदारता एवं मानवीयता के कारण सार्वभौम धर्म बन सकता है। मनु याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों ने अपने धर्मशास्त्रों में धर्म के लक्षणों का विवरण किया है। मनु ने धर्म के दस लक्षण गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं—धृति क्षमा दम, अस्तेय, शौच इन्द्रिय निग्रह धी विद्या, सत्य, अक्रोध।[1] याज्ञवल्क्य ने धर्म के लक्षणों को धर्म के साधन कहा है। उनके अनुसार धर्म के यह साधन ८ हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय, शौच,

---

१—धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लोक ६६

इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया, क्षान्ति।[२] इसी प्रकार अन्य धर्मशास्त्रों में भी धर्म के लक्षण गिनाये गये हैं। ये लक्षण मनुष्य के शील और सदाचार के रूप में है। शील और सदाचार के ये लक्षण अनेक हो सकते हैं। इसीलिए धर्मशास्त्रों में जो लक्षण गिनाये गये हैं, उनमें कुछ समानता होते हुए भी कुछ अन्तर भी हैं। गुणों की गणना की अपेक्षा धर्म की सामान्य भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही भावना धर्म का मूल है। धर्म का सामान्य सिद्धान्त ही धर्म का स्तम्भ है। धर्म के विविध लक्षण जो धर्मशास्त्रों में गिनाये गये हैं वे धर्म वृक्ष की शाखाओं के समान हैं। मनुस्मृति में धर्म का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बताया गया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि धर्म की सामान्य भावना मनु के धर्म लक्षणों में भी ओतप्रोत है। याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन को परमधर्म कहा है।[३] याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मदर्शन को धर्म का सामान्य सिद्धान्त कह सकते हैं। याज्ञवल्क्य के इस आत्मदर्शन के अनुकूल ही अन्य धर्मशास्त्रों में भी आत्मभाव को ही धर्म के सामान्य सिद्धान्तों का आधार माना गया है। देवल ने इस आत्मभाव का निरूपण व्यवहार की प्रतिकूलता और अनुकूलता के द्वारा किया है। उनके अनुसार जो व्यवहार हमारे प्रतिकूल है वह व्यवहार हम दूसरे के प्रति नहीं करना चाहिए। देवल के अनुसार व्यवहार का यही रूप धर्म का सर्वस्व है।[४] सिद्धान्त की दृष्टि से हम इसे

२—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
याज्ञवल्क्यस्मृति—अध्याय १, श्लोक १२१

३—इज्याचार दमोऽहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
याज्ञवल्क्यस्मृति—अध्याय १ श्लोक ८

४—श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
देवल

समानता का भाव कह सकते है । आत्मदर्शन अथवा आत्मभाव इस समता का तात्विक आधार है । महाभारत म भी देवल के समान शब्दो मे धम के इस सिद्धान्त का निवचन किया गया है । अपने साथ समानता के भाव को इस सामान्य धम का प्रमाण बताया गया है।[५] भगवद्गीता में भी इस आत्मौपम्य का सकेत मिलता है।[६] यह आत्मौपम्य धम का मूल आधार है। धम शास्त्रा में गिनाये हुए धम के लक्षण इसमे अनुगत होते है। यह उन लक्षणा म व्याप्त रहता है।

इस रूप में धम एक ओर मनुष्य के आत्मिक कल्याण का साधन है तथा दूसरी ओर समाज में सामजस्य का सूत्र बन जाता है। जो व्यवहार हमे अपने प्रतिकूल जान पडते है, वसे व्यवहार जब हम दूसरो के प्रति करते हैं तो हमारे व्यवहार से दूसरो को दु ख होता है तथा उनका अनिष्ट होता है।

५—न तत्परस्य सदध्यात् प्रतिकूल यदात्मन ।
एष सक्षेपतो धम कामादन्य प्रवतते ॥

काणे धमशास्त्र-खण्ड २, भाग—१, पृष्ठ—७

६—आत्मौपम्येन सवत्र सम पश्यति योऽजु न ।
सुख वा यदि वा दु ख स योगी परमो मत ॥

भगवद् गीता—अध्याय ६, श्लोक ३२

यदन्यविहित नेच्छेदात्मन कम पुरुष ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मन ॥

शान्तिपव—अध्याय २५६, श्लोक २०

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदु खे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुष प्रमाणमधिगच्छति ॥

अनुशासनपव—अध्याय-११३, श्लोक ८

इन्हें हम अधम भी यह मनत ■ । दूसरा क प्रतिकूल व्यवहार न करने ग समाज म सामजस्य और सद्भाव बढ़ता है । यह समाज की स्थिति को दृढ़ बनाते ह । धम का यह रूप धम की उस परिभाषा को सार्थक बनाता है जो धम शब्द की व्युत्पत्ति स घटित होती है । धम की परिभाषा महाभारत में भी मिलती है । महाभारत के ही प्रमाण से यह परिभाषा प्राय दी जाती है । यह परिभाषा महाभारत में दो स्थाना पर लगभग समान शब्दों पर मिलती हैं । कर्णपव म कहा गया है कि धारण करने के कारण धम को धम कहा जाता है । धम ही समाज का धारण करता है । जो धारण युक्त है वही निश्चित रूप से धम है ।[७] लगभग इन्ही शब्दों म शान्तिपव म धर्म की व्याख्या की गई है ।[८] धर्म शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार धम की जो परिभाषा महाभारत म दी गई है तथा देवल के वचन के समान दूसरा क प्रतिकूल व्यवहार के निषेध के रूप म धर्म का जो विधान महाभारत म किया गया है वह स्पष्ट स सामाजिक और आध्यात्मिक है । 'आत्मौपम्येन का आधार धम को आध्यात्मिक बनाता है । आत्मभाव से प्राप्त समता और एकता ही धर्म का मूल सूत्र है । आत्मभाव के अनुकूल व्यवहार किसी के प्रतिकूल नहीं होता । भावरूप म वह दूसरो के अनुकूल होता है । इस अनुकूलता से समाज म सामजस्य पैदा होता है । यह सामजस्य ही समाज का धारण अथवा उसकी रक्षा करता है । विरोध और संघष से समाज नष्ट होता है । महाभारत का युद्ध स्वय इसका एक भीषण उदाहरण है । धम का आन्तरिक शील मनुष्य को आदर्श व्यक्ति बनाता है । उक्त रूप मे धर्म का व्यवहार समाज का धारण और उसकी रक्षा करता है । महाभारत के अनुसार यही धर्म का सामान्य स्वरूप अथवा सिद्धान्त है । दार्शनिक भाषा म इस सिद्धान्त को आत्मौपम्य' अथवा आत्मभाव कह सकते हैं । सामाजिक दृष्टि से इसे समता कहा जा

७—धारणाद् धममित्याहुधर्मो धारयते प्रजा ।
यत् स्याद् धारणसयुक्त स धम इति निश्चय ।
कर्णपव—अध्याय ६९, श्लोक ५८

८—धारणाद् धममित्याहुधर्मेण विधृता प्रजा ।
य स्याद् धारणसयुक्त स धम इति निश्चय ॥
शांतिपव—अध्याय १०९, श्लोक ११

सकना है। सामाजिक समता का भाव आत्मभाव से घटित होता है। सुख दुःख आदि की दृष्टि से हम दूसरो को अपने समान समझें यही धर्म का दृष्टिकोण है। यह धम की दृष्टि दो चक्षुओ के द्वारा सम्भव होती है। भौतिक विषयो की ओर से आत्मा की ओर अभिमुख होना धम दृष्टि का एक चक्षु है। सबमे एक ही आत्मा है और सबके सुख-दुःख हमारे समान है, यह जानकर समानता का व्यवहार करना तथा दूसरो के प्रतिकूल व्यवहार न करना यह धम दृष्टि का दूसरा चक्षु है। इन दोनो चक्षुओ के सतुलन से धम दृष्टि शुद्ध और स्वच्छ रहती है। इन दोनो दृष्टियो से धम के व्यक्तिगत और सामाजिक तथा आतरिक और व्यावहारिक दोनो पक्ष समन्वित होते हैं।

महाभारत म निर्धारित धम के स्वरूप का यह आत्मिक तथा समता और सामजस्य से पूर्ण दृष्टिकोण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धम का यही रूप माननीय होने के कारण सार्वभौम बन सकता है। धम के इस स्वरूप म मनुष्य समाज के कल्याण का सनातन सूत्र निहित है। यही धम का वास्तविक रूप है। रिलीजन के नाम से जो सम्प्रदाय ससार मे प्रसिद्ध और प्रचलित हैं व धम की उक्त कसौटी पर खरे उतरने पर ही अपने नाम को सार्थक कर सकते है। इन सम्प्रदायो म कुछ नैतिक गुणो को महत्व अवश्य दिया गया है किन्तु इनके सगठन और प्रचार म इन नैतिक गुणो तथा समता के उस सिद्धात का खण्डन किया गया है, जो महाभारत के अनुसार धम का मूल तत्व है। धम के मूल मानवीय सिद्धात का खण्डन करने के कारण अनेक धम सम्प्रदाय एक प्रकार से आत्मविरोधी बन गये ह। व धम के उस मूल सिद्धात के अनुकूल नही है जिसका निर्देश महाभारत म किया गया है तथा जो स्वतन्त्र विचार और विश्लेषण की कसौटी पर भी खरा उतरता है। प्रसिद्ध धम-सम्प्रदायो के प्रचार और विस्तार मे धम के सिद्धान्त का जो खण्डन मिलता है उसकी ओर ध्यान न देने के कारण ही इन सम्प्रदायो के अनुयायी अपने धम पर गव करते ह। ससार के अन्य विचारको न भी इन धम-सम्प्रदायो के इस आत्म विरोध की ओर ध्यान नही दिया और उनम किसी ने भी इन धम सम्प्रदायो की अधार्मिकता को अनावृत करने का साहस नही किया। महाभारत म जिस प्रकार धम के निरूपण के आत्मभाव और समता को धम का मूल तत्व माना गया है तथा प्रतिकूल व्यवहार का निषेध किया गया है, उसी प्रकार अविरोध को भी धम का महत्त्वपूर्ण पक्ष माना गया है। अविरोध से युक्त होने पर ही धम

वास्तव में धर्म कहा जा सकता है। जो दूसरी ओर धर्म में ही बाधक होता है, वह वास्तव में धर्म नहीं है वरन् वह कुधर्म है।[९] इस अविरोध का अभिप्राय व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की संगतियों से है। वास्तविक धर्म का व्यवहार वही है, जो व्यक्ति के अन्य धर्माचरणों का खण्डन न करे। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से सच्चा धर्माचरण वही है जो दूसरों के विरुद्ध अथवा प्रतिकूल न हो तथा उनके अपने धर्माचरण का विरोधी न बने। मनुष्य का नैतिक और सामाजिक आचार तथा धर्म-सम्प्रदाय आदि सभी अर्थों में धर्म की परीक्षा में अविरोध की इस कसौटी का उपयोग आवश्यक है। इस कसौटी का उपयोग करने पर धार्मिक प्रतीत होने वाले अनेक सामाजिक आचार तथा अनेक प्रसिद्ध धर्म सम्प्रदाय अधर्म की संज्ञा से लांछित होंगे।

२—धर्म के प्रमाण—

धर्म शास्त्रों में धर्म का विधान प्रायः आदेश के रूप में किया गया है। आदेश के लिए प्रमाण की अपेक्षा होती है। प्रमाण का आधार होने पर ही आदेश मान्य होता है। उत्कृष्ट होने पर मनुष्य का अपना अनुभव और तर्क ही प्रमाण हो सकता है। किन्तु चेतना का इतना उत्कर्ष अनुभव की इतनी समृद्धि और बुद्धि की इतनी स्वच्छता साधारण जनों के लिए सम्भव नहीं है। उनका अनुभव सीमित रहता है और उनकी बुद्धि भी विकसित नहीं होती। अतः साधारणजनों के लिए धर्म सम्बन्धी आदेश अन्य प्रमाणों के आधार पर मान्य होते हैं। प्राचीन समाजों में प्रायः श्रुति का प्रमाण सबसे अधिक महत्व पूर्ण माना जाता है। मनु ने वेद को धर्म का मूल माना है।[१०] उनके अनुसार धर्म का परम प्रमाण श्रुति है।[११] ईश्वरोक्त अथवा आप्त होने के कारण

९—धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
वनपर्व—अध्याय—१३१, श्लोक ११

१०—वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।
मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक ६

११—धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।
मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक १३

वेद को नित्य प्रमाण माना गया है। अत्यत प्राचीनकाल से भारतीय जनता और भारतीय विद्वान् वेद का प्रमाण मानत रहे हैं। वे वेदविहित कर्मों का धम मानकर पालते रहे हैं। महाभारत म वेदोक्त कम को परमधम माना गया है।[१२] स्मृति और धर्मशास्त्र भी वेद के अनुकूल ही धम का विधान करते हैं। मनु ने वेद के ज्ञाताओ की स्मृति का प्रमाण माना है।[१३] स्मृतिया और धमशास्त्रा मे धमकृत्या का विस्तारपूवक विधान किया गया है। उनम धम का सामाजिक पक्ष अधिक प्रमुख है। धम शास्त्रो के इसी सामाजिक प्रभाव स वेद और स्मृति के साथ सदाचार भी धम का प्रमाण बना। धमशास्त्रा म जिस रूप म धम का विधान किया गया है वह अत्यन्त मानवीय और सामाजिक है। 'आत्मन प्रतिकूलानि' म तथा गीता और महाभारत क 'आत्मौपम्येन' मे इस मानवीय भावना का मूल मिलता है। धम के जो विभिन्न लक्षण धमशास्त्रा म बताये गये हैं, उनम यह मानवीय भावना ओतप्रोत है। व्यवहार और सम्बन्ध मे व धम सामाजिक हैं। धमशास्त्र की इसी मानवीयता और सामाजिकता के कारण स्मृति अथवा धम शास्त्रो का प्रमाण माननीय है। यदि ऋषिया और मुनिया का वेदा और धमशास्त्रा का प्रणेता मानें ता भी दोना का प्रमाण अत्यत आदरणीय है। अन्य धम प्रवर्त्तको की भाति वेदा और स्मृतिया के प्रणेता ऋषियो का उद्देश्य किसी धम-सम्प्रदाय की स्थापना किसी धम सगठन का निर्माण अथवा किसी धम सम्प्रदाय का प्रचार नही था। य ऋषि मुनि सात्विक जीवन के अनुरागी तथा तप क द्वारा आत्मा के साधक थे। आत्मसाधक होने के कारण ही व आत्मदर्शन' और आत्मौपम्य' म धम का मूल खोज सके। आत्मा की ज्योति से प्रकाशित होने के कारण ही उनका धमविधान इतना मानवीय है।

वेद और स्मृति के बाद सदाचार अथवा शिष्टाचार को धम का प्रमाण

१२—वेदोक्त परमो धम ।

अनुशासनपव अध्याय १४१, श्लो० ६५

१३—स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

मनुस्मृति—अध्याय २, श्लो० ६

माना गया है ।[१४] सदाचार का अर्थ सज्जना अथवा सात्विक पुरुषों का आचार है। सज्जनो को शिष्ट भी कहते हैं। शिष्ट का अर्थ शिक्षित है। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति रजोगुण और तमोगुण स प्रेरित होती है। सत्वगुण की ओर गति तो शिक्षा के द्वारा ही सम्भव होती है। शिष्ट जन ही सज्जन बन सकते हैं। सत् को शुभ भी कहते हैं। सात्विक आचार ही शुभ होता है। राजसिक और तामसिक आचार ही अशुभ क कारण होते हैं। सज्जना का सदाचार समाज क लिए धर्म का आदर्श बन जाता है। वेद का विधान और स्मृतिया का धम निर्देश शास्त्रिक होता है। सदाचार धम की साक्षात् प्रेरणा है। सदाचार का प्रत्यक्ष और साक्षात् आदर्श लोगो को एक सजीव प्रेरणा प्रदान करता है। सदाचार का प्रत्यक्ष आदर्श धम सम्बन्धी विवाद म निर्णायक का काम भी देता है। धम के विधानो म विरोध हो सकता है और इस विरोध के कारण धम का निर्णय कठिन हो सकता है। किन्तु सदाचार क प्रत्यक्ष आदर्शों म इतना अधिक विरोध कदाचित् सम्भव नही है। सात्विक पुरुषो का आचार प्राय धर्म के सिद्धान्ता के अनुकूल होता है। सदाचार का आदर्श धर्म-पथ का प्रकाशस्तम्भ कहा जा सकता है। धर्म के सम्बन्ध म मतभेद होने पर भी धर्म का तत्व एक कठिन रहस्य दिखाई देता है।[१५] ऐसा स्थिति म सज्जना अथवा महाजनो के माग को ही उचित माना जाता है।[१६]

१४—वेदोक्त परमो धम स्मृतिशास्त्रगतोऽपर ।
शिष्टाचीर्ण पर प्रोक्तस्त्रयोधर्मा सनातना ॥
अनुशासनपर्व, अध्याय १४१, श्लो० ६५

वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन ।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धमस्य लक्षणम् ॥
मनुस्मृति—अध्याय २, श्लो० १२

१५—वेदा विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना ।
नासौ मुनियस्य मत न भिन्नम् ॥

१६—धमस्य तत्व निहित गुहायाम् ।
महाजन येन गत स पन्थ ॥

कौरवा की सभा म जब दु शासन ने द्रौपदी का चीरहरण किया, तो द्रौपदी ने धृतराष्ट्र, द्राण, भीष्म आदि वृद्धो से धर्म के निणय की पुकार की। उस कठिन समय म वे वृद्ध धर्म की सूक्ष्मता और धम के निणय की कठिनता का प्रस्ताव रखकर निष्क्रिय बने रहत हैं। ऐसे समय म वह सदाचार जिसे मनुस्मृति और महाभारत दोनो म धर्म का प्रमाण माना गया है धम का निणायक और निर्देशक बन सकता था। सदाचार का यह आदश कौरव वृद्धो का माग दशन कर सकता था। सज्जनो के आचार म स्त्री के चीरहरण जसे निदनीय कर्म का काई उदाहरण नही मिल सकता है। द्रौपदी के चीरहरण के प्रसग म वेद और स्मृति का प्रमाण भी निर्णायक बन सकता था। स्त्री के चीरहरण का औचित्य किसी भी वेद अथवा शास्त्र के द्वारा सम्मत नही है। द्यूत म जीत लेने पर भी कौरव किसी भी धर्म प्रमाण के अनुकूल द्रौपदी का चीरहरण नही कर सकते थे। वे उस अपनी दासी तो बना सकते थे।

अस्तु वेद, स्मृति और सदाचार धर्म के तीन मुख्य प्रमाण ह। इनम प्रमाणित आचार ही धम है। वेदा म यज्ञादि का प्रमाण अधिक मिलता है। स्मृतियाम वर्णों और आश्रमाके व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म का वणन मिलता है। सदाचार धम का सजीव आदश है। महाभारत म धम के यही तीन प्रमाण मान गय ह। अहिंसा सत्य, दया आदि इन्ही के अनुसार धर्म ठहरते ह। स्मृतियो म इनका विधान है। सज्जना ने अपन सदाचार के द्वारा इनका आदश उपस्थित किया है। मनु न आत्मप्रियता अथवा आत्मतुष्टि को धम का एक चतुर्थ प्रमाण माना है।[१७] इसे स्वाथ अथवा स्वरता समझने का भ्रम हो सकता है। देवल और महाभारत के 'आत्मन प्रतिकूलानि' की मयादा मे यह आत्मप्रियता अधम नही हो सकती। इस मर्यादा के अतगत अपने प्रिय और अनुकूल कम भी धम हो सकत ह। एक दृष्टि से यह आत्मप्रियता

१७—स्वस्य च प्रियमात्मन ।

मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक १२

आत्मनस्तुष्टिरेव च ।

मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक ६

धर्म का महत्वपूर्ण तत्व है। धर्म केवल परोपकार ही नहीं है, वह आत्मोपकार भी है। दोनों के सन्तुलन में युक्त होने पर धर्म समाज का धारक बन सकता है तथा अपनी व्युत्पत्ति और परिभाषा को चरितार्थ करता है। 'आत्मौपम्य', 'आत्मनः प्रतिकूलानि' तथा अविरोध के अनुसार आत्मप्रियता ही नहीं अन्य आचार भी धर्म बनते हैं। धर्मशास्त्रों और महाभारत में वेद, स्मृति आदि धर्म के प्रमाण अवश्य माने गये हैं किन्तु उनके अनुसार धर्म का मूल सिद्धान्त आत्मभाव और अविरोध ही है। ये धर्म के लक्षणों में समता और मानवीयता का संचार करके उन्हें उदार और सार्वभौम बनाते हैं। इन्हें हम धर्म का परम प्रमाण कह सकते हैं।

३—धर्म के लक्षण—

दुःशासन के द्वारा द्रौपदी के चीरहरण के समय द्रौपदी ने धर्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न कौरव सभा के वृद्धों से किये। द्रौपदी के उस संकटकाल में पितामह भीष्म ने धर्म की सूक्ष्मता के कारण द्रौपदी के प्रश्न का विवेचन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।[१८] इसमें सन्देह नहीं कि धर्म का विषय बड़ा सूक्ष्म और कठिन है। किन्हीं परिस्थितियों में धर्म के विशेष और व्यावहारिक रूप का निर्णय करना कठिन हो जाता है। इस निर्णय के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं। नीतिकार इन मतभेदों की चर्चा करते रहे हैं और धर्म के तत्व की गहनता की घोषणा करते रहे हैं।[१९] किन्तु ऐसी स्थिति में भी वे महाजनों के मार्ग को धर्म का मार्ग मानते रहे हैं।[२०] धर्म का विचार निःसन्देह सूक्ष्म है और व्यवहार में उसका निर्णय प्रायः कठिन हो जाता है। फिर भी धर्मशास्त्रों में धर्म के स्वरूप और लक्षणों का बहुत कुछ विवरण मिलता है। व्यवहार के सम्बन्ध में भी धर्म के आदर्श समाज में मिलते हैं। धर्मशास्त्रों के मतों और समाज में प्राप्त आदर्शों के आधार पर धर्म के अधिकांश प्रश्नों का निर्णय किया जा सकता है। द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग

१८—न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
सभापर्व—अध्याय ६७, श्लोक ४६।

१९—धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्।

२०—महाजनो येन गतः स पन्था।

धम का निणय इतना कठिन नही था, जितना कि भीष्म पितामह न बताया । द्यूत मे जीत लने पर द्रौपदी को दासी बनाया जा सकता था किन्तु स्त्री न के नाते उसका केशकषण चीरहरण, अपमान आदि किसी प्रकार भी चित न था । स्त्री का आदर सभी धम शास्त्रा को अभीष्ट है । इस विषय म स्त्र और व्यवहार दोनो एकमत ह । स्त्री के अपमान का कोई भी आदश माज मे अभिनन्दित नही है । धम शास्त्रा का आदेश और महापुरुषा का ादश बहुत दूर तक धम के माग को प्रकाशित कर सकता है ।

धम क निणय की इन्ही सम्भावनाओ के आधार पर धम शास्त्रो म म के स्वरूप और सिद्धान्त का निर्धारण हुआ है तथा धम के लक्षणा एव माणो का निरूपण किया गया है । आत्मौपम्यन, 'आत्मन प्रतिकूलानि', अविरोधेन आदि के अनुसार धम शास्त्रो और महाभारत मे जो धम के स्व प एव सिद्धान्त का निणय किया गया है वह बहुत कुछ समीचीन है । उसस म की गुहा बहुत दूर तक प्रकाशित हो सकती है । इस कसौटी पर बहुत धम सम्प्रदायो और भ्रान्त आचारा की अधार्मिकता अनावृत की जा सकती । धम के इस स्वरूप और सिद्धान्त का विवरण पिछले प्रकरण म किया जा चुका है । धम के इसी स्वरूप और सिद्धान्त के आधार पर धम शास्त्रो म धम क अनक लक्षणो का वणन किया गया है । महाभारत म भी धम के लक्षणा का विवरण मिलता है । धम के इन लक्षणा की परीक्षा करने पर विदित होगा कि य सभी लक्षण धम के सामान्य स्वरूप और सिद्धान्त स अनुगत होते ह तथा उनके साथ सगत ह । उदाहरण के लिए हम अहिंसा, सत्य दया आदि किसी भी लक्षण को ल सकते ह । य सभी लक्षण आत्मौपम्येन' तथा आत्मन प्रतिकूलानि के अनुरूप है । हम नही चाहत कि कोई हमारी हिंसा कर । हमारी हिंसा हमारे प्रतिकूल है । अपन दुःख क समान ही दूसरे क दुःख को मानकर आत्मौपम्येन के अनुसार हमे हिंसा नही करनी चाहिए, जो हमारे ही समान दूसरा क भी प्रतिकूल है । इसी प्रकार धम के अन्य लक्षण भी धम के सामान्य सिद्धान्त क अनुकूल हैं । धम क इन लक्षणा को धम क सामान्य सिद्धान्त का विशेष और व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है ।

विभिन्न धम शास्त्रो म धम क जो लक्षण बताये गये है उनम कुछ

गमाराता भी मिलती है तथा कुछ अन्तर भी मिलता है। उनम केवल यही अन्तर है कि धमशास्त्रा म धम क कुछ लक्षणा का उल्लेख मिलता है, जा दूसरे धम शास्त्रा म नहीं मिलता। उदाहरण के लिये अहिंसा का उल्लेख मनुस्मृति क धम-लक्षणा म नहीं है किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति म है। यही 'दान' क विषय म भी है। वस्तुत धम क य विशेष लक्षण परिगणित नहीं किये जा सकते। जीवन क प्रसगा के समान इनकी सख्या भी अनन्त अथवा अत्यधिक हो सकती है। इसीलिए कुछ धम शास्त्रा म कुछ लक्षण छूट गय ह जो दूसर धम शास्त्रा म गिनाय गय ह। किन्तु य सभी लक्षण धम के सामान्य सिद्धान्त से अनुगत होते हैं। इसी सामान्य सिद्धान्त के द्वारा किसी भी परिस्थिति म धम क विशेष लक्षण का निर्धारण किया जा सकता है।

धम के य लक्षण दो प्रकार के हैं—एक सामान्य और दूसरे विशेष। अहिंसा क्षमा धृति आदि को धम के सामान्य लक्षण कहा जा सकता है। ये सभी क लिए मान्य हैं। धम के विशेष लक्षण वे हैं जो वर्ण आश्रम सम्बन्ध आदि के अनुसार विशेष मनुष्यो क लिए ही मान्य होते हैं सबके लिए नहीं। उदाहरण के लिए अध्यापन याजन और प्रतिग्रह ब्राह्मण के ही विशेष धम हैं। प्रस्तुत प्रकरण म हम धम के सामान्य लक्षणो का ही विवरण करेंगे। धम के विशेष लक्षणा का विवरण अन्य प्रकरण म किया जायगा।

धम के सामान्य लक्षणा म सबसे अधिक प्रसिद्ध मनु और याज्ञवल्क्य क द्वारा दिये गए लक्षण हैं। मनु ने धम के दश लक्षण बताये हैं—धृति क्षमा, दम, अस्तेय शौच इन्द्रियनिग्रह धी विद्या सत्य और अस्तेय।[२१] याज्ञवल्क्य क अनुसार धम के लक्षण नौ हैं—अहिंसा सत्य, अस्तेय शौच इन्द्रिय निग्रह दान दम दया, और क्षान्ति।[२२] मनु और याज्ञवल्क्य के समान

२१—धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम्॥
मनुस्मृति—अध्याय—६, श्लोक ९२

२२—अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
दान दमो दया क्षान्ति सर्वेषा धर्मसाधनम्।
याज्ञवल्क्य स्मृति—अध्याय १, श्लोक १२२

हो महाभारत में भी धम के अनेक सामान्य लक्षण बताये गये हैं जो सबके लिए मान्य हैं।

युधिष्ठिर न जब कृष्ण से कहा कि जनार्दन! मनीषी पुरुष धम को अनेक प्रकार का और बहुत से द्वारवाला बतलाते हैं। वास्तव म उसका लक्षण क्या है? तब श्री कृष्ण न धम का निश्चित लक्षण इस प्रकार बताया कि राजन्! अहिंसा, शौच, क्रोध का अभाव, क्रूरता का अभाव, दम, शम और सरलता—ये धम के निश्चित लक्षण हैं। [२३] मनुष्य क सनातन धम के लक्षण बताते हुए भीष्म जी न युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि 'अहिंसा, सत्य अक्रोध, तपस्या, दान, मन और इन्द्रियों का सयम विशुद्धि बुद्धि, किसी के दोष न देखना, किसी से द्रोह और जलन न रखना तथा उत्तम शील-स्वभाव का परिचय देना—ये धम हैं देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजी ने इन्हीं को सनातन धम बतलाया है। जो मनुष्य इस सनातन धम मे स्थित है, उसे ही कल्याण का दर्शन होता है। [२४] वेद म जिसका प्रतिपादन किया गया है, वही धम है। जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करे उसके साथ भी उसे वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, यह धम (न्याय) है। चोरी करना, झूठ बोलना एव हिंसा करना आदि अधम भी देश और काल के भेद से धम हो जाते हैं। झूठ बोलना अवस्थाविशेष म धम माना जाता है। हिंसा करना जैसे सर्पिणी के अण्डों का नाश कर देना श्रेष्ठ धम समझा जाता है। सर्पिणी के अण्डों के नाश से बहुत से मनुष्यों के जीवन का भला हो जाता है तथा इससे वह मनुष्य अधम के बजाय पुण्य का भागी होता है। इसलिए अवस्था विशेष म जो अधम

२३—अहिंसा शौचमक्रोधमानृशस्यं दम शम।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ९२

२४—(अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दान दमो मति।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च॥
एष धर्म कुरुश्रेष्ठ कथित परमेष्ठिना।
ब्रह्मणा देवदेवेन अय चैव सनातन॥
अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि पश्यति।)
शान्तिपर्व—अध्याय १०९, श्लोक १२ और १३ के मध्य मे

मह जाते हैं, व ही काम धम माने जाते हैं। धम क लक्षण बताते हुए व्यासजी न युधिष्ठिर स कहा कि 'बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान, अध्ययन और तप म तत्पर रहना, किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना क्रोध त्याग दना और यज्ञ करना—ये सब धम क लक्षण हैं।"[२५] किसी भी प्राणी स द्रोह न करक जिस धर्म का पालन किया जाता है, वही साधु पुरुषो की राय म उत्तम धम हैं। इस विषय को बताते हुए देवस्थान ने स्वायम्भुवमनु का वचन युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि 'किसी स द्रोह न करना, सत्य बोलना (बलिवैश्वदेव कम द्वारा) समस्त प्राणियों को यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियों का सयम करना अपनी ही पत्नी से सन्तान उत्पन्न करना तथा मृदुलता लज्जा एव अचचलता आदि गुणो को अपनाना—य श्रेष्ठ एव अभीष्ट धम है।'[२६] अष्टक के पूछने पर ययाति ने उनकी श्रेष्ठता का कारण इस प्रकार बताया कि दान, तपस्या, सत्य धम, ह्री, श्री, क्षमा सौम्यभाव और व्रत पालन की अभिलाषा—राजा शिवि म य सभी गुण अनुपम है तथा बुद्धि य भी उनकी समता करने वाला कोई नहीं है। राजशिवि ऐसे धर्मात्मा और सदाचार सम्पन्न तथा लज्जाशील थे कि उनकी तुलना करना किसी से भी कठिन हैं। वे हम सबसे आगे बढ गये थे।[२७]

२५—अदत्तस्यानुपादान दानमध्ययन तप
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धमस्य लक्षणम् ॥१०
शान्तिपर्व—अध्याय ३६—श्लो० १०

२६—अद्रोह सत्यवचन सविभागो दया दम ॥११
प्रजन स्वेषु दारेषु मार्दव ह्रीरचापलम् ।
एव धमप्रधानेष्ट मनु स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥१२
शान्तिपर्व—अध्याय—२१—श्लो० ११ १२

२७—दान तप सत्यमथापि धर्मो, ह्री श्री क्षमा सौम्यमथो विधित्सा राजन्ने
नान्यप्रमेयाणि राज, शिवे स्थिताप्रतिमस्य बुद्धया ॥
आदिपर्व—अध्याय ९३—श्लो० १६,२०

धम प्राप्ति किन किन साधनो से प्राप्ति होती है। इस विषय म नकुल ने इस प्रकार कहा कि "नम दम, तप, सत्य शौच सरलता, यज्ञ धृति तथा धम–इन सबका पालन ऋषियो के लिए श्रेष्ठ है।'[२८] इन सबके पालन स ऋषि-लोग मोक्ष पाते है। श्रेष्ठ धम की प्राप्ति के लिए श्री शौनक जी ने जनमेजय से इस प्रकार कहा कि "यज्ञ, दान दया, वेद और सत्य तथा तप ये छ कम श्रेष्ठ धम को प्राप्त कराने वाले हैं।"[२९] ये छहा वस्तुएँ परम पवित्र हैं राजाओ को इनका भली भाँति से आचरण करना चाहिए। इन छहा का श्रेष्ठ आचरण करने वाला राजा परम श्रेष्ठ धम प्राप्ति का अधिकारी होता है। सुख और दुख दोना ही प्रकृतिस्थ प्राणियो के धम हैं। यदि मनुष्य को दुख नही अनुभव होगा तब उसे सुख का भी कुछ ध्यान नही होगा। मनुष्य को दुख के अनुभव के बाद ही सुख का अनुभव होता है। यदि किसी मनुष्य को कोई दुख ही नही होगा तो उसे सुख का भी ज्ञान नही होगा। धम के माग बताते हुए विदुर जी ने इस प्रकार कहा कि यज्ञ अध्ययन दान तप, सत्य, क्षमा दया और निर्लोभता–ये धम के आठ प्रकार के माग बताये गये हैं।"[३] मनुष्य को स्वग मे ले जाने वाले दस कम हैं–सत्य, विनय की मुद्रा, शास्त्र ज्ञान विद्या, कुलीनता, शील, बल धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात करना स्वग के हेतु हैं। मनुष्य का सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्य का ही

२८—शमो दमस्तपा धम सत्य शौचमथाजवम्।
यज्ञो धृतिश्च धमश्च नित्यमार्षो विधि स्मृत ॥१७
शान्तिपर्व—अध्याय १२—श्लो० १७

२९—यज्ञो दान दया वेदा सत्य च पृथिवीपते।
पञ्चतानि पवित्राणि षष्ठ सुचरित तप ॥७
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयास धममाप्स्यसि ॥८
शान्तिपर्व—अध्याय १५२—श्लो० ७,८

३०—इज्याध्ययनदानानि तप सत्य क्षमा घृणा।
अलोभ इति मार्गोऽय धमस्याष्टविध स्मृत ॥५६
उद्योगपर्व—अध्याय ३५-श्लो०५६

ग्रहण करना चाहिए। यक्ष ने युधिष्ठिर से कहा कि मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। यश, सत्य, शौच, दम, सरलता, लज्जा, अचपलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य ये सब मेरे शरीर हैं। अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर, इन्हें तुम मेरे द्वार— ये सब धर्म तक पहुँचाने के द्वार हैं।[31] इसी प्रकार के सात स्वभाव बतलाते हुए ययाति ने अष्टक से कहा कि 'तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियों के प्रति दया।[32] सभी प्राणियों के प्रति दया और मैत्री का बर्ताव, दान और सबके प्रति मधुरवाणी का प्रयोग—तीनों लोकों में वशीकरण का सार है।'[33]

४—धर्म के अंग—

पिछले प्रकरणों में धर्म के स्वरूप और लक्षणों का विवरण दिया गया है। किन्तु इतने में ही धर्म का विवेचन पूर्ण नहीं हो जाता। धर्म का स्वरूप सामान्य है। यह धर्म के निर्णय का एक सामान्य सिद्धान्त उपस्थित करता है। धर्म के लक्षण भी सामान्य हैं। वे धर्म के उन रूपों का बताते हैं जो

३१—अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥८
वनपर्व-अध्याय-३१४-श्लो० ८

३२—तपश्च दानं च शमो दमश्च
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ॥२२
आदिपर्व—अध्याय ९०—श्लो० २२

३३—न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥१२
आदिपर्व—अध्याय ८७—श्लो० १२

सबके लिए मान्य ह। अहिंसा, दया, धृति, शौच आदि सबके लिय माननीय है। किन्तु जीवन के व्यवहार म धम का प्रश्न विशेष परिस्थितियो और सम्बन्धो म खडा होता है। जीवन बहुत विशाल और जटिल है। उसके अनक पक्ष अनेक परिस्थितियाँ और अनेक सम्बन्ध होते हैं। जीवन की इस जटिलता और विविधता क अनुरूप धम क विशेष लक्षण अनक रूप बन जाते है। इस प्रकार धमशास्त्रो और महाभारत म धम के सामान्य सिद्धान्त एव स्वरूप तथा सामान्य लक्षणो के साथ साथ धम के विविध विशष रूपो का भी विवरण किया गया है। डा० सुक्थनकर ने अपन ग्रन्थ म धम की इस जटिलता और विविधरूपता का उल्लेख किया है।[३४] महाभारत के विशाल कलवर म धम क इन विविध पक्षो और अगो का विस्तार के साथ विवरण मिलता है। इस अध्याय के पिछले प्रकरणो म महाभारत के अनुसार धर्म के सामान्य सिद्धान्त तथा धम के प्रमाण और धम क सामान्य लक्षणो का विवचन किया गया है। अगले अध्यायो म धम के विशेष पक्षो और अगो का विस्तृत विवरण किया जायेगा। यहाँ धम के स्वरूप का विवेचन पूर्ण करने की दृष्टि से धम के इन विविध पक्षो और अगो का दिग्दशन मात्र करना अभीष्ट है।

धम के य अग अथवा पक्ष जीवन की परिस्थितियो क अनुसार अनक हो सकते हैं। तक की दृष्टि से हम इन्हे अनन्त भी कह सकते हैं। जीवन के इन सभी पक्षो और अगो का विवरण सम्भव नही है। किसी भी परिस्थिति म 'आत्मन प्रतिकूलानि' और अविरोध क सामान्य सिद्धान्त के अनुसार विशेष धम के रूप का निर्णय किया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था और सबधो क अनुसार धम के मुख्य पक्षो एव अगो का ही विवरण धमशास्त्रो तथा महाभारत मे किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे अगले अध्यायो म धम शास्त्र और महाभारत क अनुसार धम क इन्ही पक्षो एव अगो का विवरण किया गया है।

धम के इन पक्षो और अगो म वर्ण और आश्रम मुख्य हैं। वर्णों और आश्रमो की व्यवस्था ही प्राचीन भारतीय समाज का विधान थी। इसी व्यवस्था के अनुसार धमशास्त्रो म धम के कतव्यो का निरूपण किया गया

३४—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ ८२

है। वर्ण-व्यवस्था समाज का विभाजन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण माने गये हैं। धर्मशास्त्रों में इनके पृथक् पृथक् धर्म बताये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। इनके भी अलग अलग धर्म हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अगले अध्यायों में इसी व्यवस्था के अनुरूप तत् तत् अध्याय में प्रत्येक वर्ण और आश्रम के धर्मों अथवा कर्त्तव्यों का विस्तृत विवरण किया गया है। यहाँ संक्षेप में इनका संकेत इस प्रकार है।

मनु ने ब्राह्मणों के ६ मुख्य धर्म बताये हैं—अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह।[35] महाभारत में ब्राह्मणों के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये गये हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन तथा दान और प्रतिग्रह।[36] मनु ने क्षत्रियों के ४ मुख्य धर्म बताये हैं—प्रजा की रक्षा, दान, यजन और अध्ययन।[37] महाभारत में क्षत्रियों के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये हैं—शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में से न भागना, दान देना और स्वामिभाव।[38] महाभारत में राजधर्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि

३५—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥
मनुस्मृति—अध्याय १०, श्लो० ७५

३६—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा ।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथञ्चन ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २३४, श्लो० ११

३७—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लो० ८९

३८—शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लो० ४३

राजा को न्याय की रक्षा करने वाला, सत्यभाषी, उचितदण्ड देने वाला होना चाहिए।[39] मनु ने वश्य के ७ मुख्य धर्म बताये है—पशु रक्षण, दान यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, लेनदेन और खेती।[40] महाभारत म वश्य के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये गये है—व्यापार पशुपालन और खेती।[41] मनु ने शूद्र का १ मुख्य धर्म बताया है—उच्च वर्णों की सेवा।[42] महाभारत में भी शूद्र का मुख्य धर्म—तीनो वर्णों की सेवा ही बताया है।[43] मनु ने ब्रह्मचारी के २ मुख्य कर्त्तव्य बताये हैं—अध्ययन, और गुरु की सेवा।[44] महाभारत में ब्रह्मचारी के धर्म इस प्रकार बताये हैं—धर्म का रहस्य सुनना वेदोक्त व्रत

३९—सम्यग्दण्डे स्थितिधर्मों धर्मो वेदक्रतुक्रिया।
व्यवहारस्थितिधर्म सत्यवाक्यरतिस्तथा॥
अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लो० १५

४०—पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययन मेव च।
वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिरेव च॥
मनुस्मृति—अध्याय १ श्लो० ९०

४१—वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरति शुचि।
वेदाध्ययन सम्पन्न स वैश्य इति सज्ञित॥
शान्तिपर्व—अध्याय-१८९, श्लो० ६

४२—एकमेवतु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लो० ९१

४३—प्रजापतिर्हि वर्णाना दास शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णाना परिचर्या विधीयते॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लो० २८

४४—कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।
मनुस्मृति—अध्याय-२, श्लो० १९१

का पालन करना, होम और गुरुसेवा करना।[४५] मनु ने गृहस्थ क ५ मुख्य धम इस प्रकार बताये हैं—अध्ययन और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है श्राद्धतपण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, जीवो को बलि देना भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार मनुष्य यज्ञ हैं।[४६] याज्ञवल्क्य ने गृहस्थ के लिए मनु की भाँति ही पाच यज्ञो को मुख्यकम बताया है।[४७] महाभारत म गृहस्थ के मुख्य धम इस प्रकार बताये है—न्याय से प्राप्त किये धन से यज्ञ करे, दान दे तथा सदा अतिथियो को भोजन कराये। दूसरो की वस्तु बिना दिये ग्रहण न करे।[४८] महाभारत मे स्त्री को काय म कुशल, सन्तानवती, पतिव्रता तथा पति की प्रिय बताया है।[४९] मनु ने वानप्रस्थ के मुख्यधम इस प्रकार बताये हैं—नागरिक आहार और उपकरणो का त्याग।[५०] महाभारत म वानप्रस्थ के मुख्य धम इस

४५—रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम् ।
अग्निकाय तथा धर्मो गुरुकायप्रसाधनम् ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लो० ३५

४६—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तपणम् ।
होमो द वो बलि भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥
मनुस्मति—अध्याय ३ श्लो० ७०

४७—बलिकमस्वधा होम स्वाध्यायातिथि सत्क्रिया ।
भूतपित्रमर ब्रह्ममनुष्याणा महाभरवा ।
याज्ञवल्क्यस्मति—अध्याय ३, श्लो० १०२

४८—धर्मागत प्राप्य धन यजेत्,दद्यात्सदवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्त तथा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥
आदिपर्व—अध्या० ९१—श्लो० ३

४९—सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥
आदिपर्व—अध्या० ७४, श्लो० ४०

५०—सत्यज्य ग्राम्यमाहार सर्वं चव परिच्छदम् ।
पुत्रेषुभार्यां निक्षिप्य वनमच्छेत्सहैव वा ॥
मनुस्मति—अध्याय ६, श्लो० ३

प्रकार बताये हैं—सस्कारो से शुद्ध होकर घर की ममता त्याग कर गाव से बाहर घने वन मे निवास करना चाहिए।[५१]

मनु के अनुसार तीसरे आश्रम म वन म निवास करके अन्त म सब आसक्तियो को छोडकर सन्यास ग्रहण करके परिव्रजन करना चाहिए।[५२] परिव्रजन का अर्थ स्वच्छन्द विचरण है। सन्यासी सब आसक्तियो और बधनो से मुक्त हो जाता है। महाभारत म सन्यासी के विषय म कहा है कि वह अकेला वन मे रहे और कोई वस्तु साथ न रखे।[५३] अपरिग्रह और स्वातन्त्र्य का यह जीवन भारतीय जीवन कल्पना की चरम कोटि है।

५—धर्म और शील—

महाभारत म धम के साथ साथ 'शील' की भी अनेक स्थानो पर प्रशसा की गई है। धम के समान 'शील' भी सस्कृत भाषा का एक ऐसा शब्द है जिसका अँगरेजी म अनुवाद सम्भव नही है। 'शील' शब्द म धम की पवित्रता तथा आचार की सात्विकता का समाहार है। साथ ही उसम 'धम' का पर्यायभाव भी निहित है। 'जलने' की अग्नि का धर्म अथवा शील दोनो ही कह सकते हैं। धम' म भी मूलत सहजता समन्वित है किन्तु विधि' के प्रभाव से धम' म कर्तव्य' का भाव प्रधान बन गया है। 'शील' की सहजता सुरक्षित रही है साथ ही उसम धर्माचार का भाव भी समाहित हो गया है। 'धम' की कर्तव्यता जब मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाती है तब उसे 'शील' कहना उचित है। युधिष्ठिर का धम अथवा सत्य इसका उदाहरण है।

५१—सस्कृत सर्वसंस्कारस्तथैव ब्रह्मचर्यवान् ।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनि प्रव्रजितो वसेत् ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लो० ६

५२—त्यक्त्वा सगा परिव्रजेत् ।
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लो० ३३

५३—उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ।
शान्तिपर्व —अध्याय २४५, श्लो० ७

महाभारत म 'शील' की महिमा अनेक स्थानो पर बताई गई है। एक प्रकार से 'शील' को धम के सभी लक्षणो का मूल तत्त्व कहा गया है। 'शील' म ही धम के समस्त लक्षणो का उद्भव तथा पयवसान होता है। शान्ति पर्व म प्रह्लाद की कथा के प्रसग म शील को 'धर्म' का आश्रय बताया है। प्रह्लाद के शरीर से तेज के रूप म 'शील' निकला। उसके पीछे धर्म भी चल दिया। 'धम' ने उत्तर दिया कि जहाँ यह 'शील' रहता है वहीं मैं (धम) भी रहता हूँ।[५४] उसी प्रसग म महाभारत म कहा गया है कि धम सत्य सदाचार बल और लक्ष्मी सब शील के आधार पर ही रहते हैं। शील ही इन सबका मूल है।[५५] शील की शक्ति अपार है। शील से मनुष्य तीनो लोको को जीत सकता है। ससार म शीलवान् मनुष्य के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है।[५६] इस सम्बन्ध म प्रह्लाद का उदाहरण दिया गया है। दैत्यराज प्रह्लाद ने इन्द्र का राज्य हर लिया तथा तीनो लोको को अपने वश म कर लिया।[५७] महाभारत के युधिष्ठिर शील के अवतार हैं। युधिष्ठिर के शील के तेज की प्रशंसा करते हुये धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र दुर्योधन से कहा कि प्रिय पुत्र! यदि तुम युधिष्ठिर के समान अथवा उससे भी अधिक श्री को प्राप्त करना चाहते हो तो शीलवान् बनो।[५८] युधिष्ठिर के अतिरिक्त धृतराष्ट्र ने मान्धाता जनमेजय नाभाग प्रह्लाद आदि के उदाहरण दिये है जिन्होंने शील के द्वारा पृथिवी का राज्य प्राप्त किया।[५९]

५४—ध म प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तम ॥५०
तत्र यास्यामि दत्येन्द्र यत शील ततो ह्यहम् ॥५०½

५५—धर्म सत्य तथा वृत्त बल चव तथाप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र सशय ॥६२

५६—शीलेन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न सशय ।
न हि किंचिदसाध्य वै लोके शीलवता भवेत् ॥१५

५७—प्रह्लादेन हृत राज्य महेन्द्रस्य महात्मन ।
शीलमाश्रित्य दत्येन त्रलोक्य च वशे कृतम् ॥२०

५८—यदीच्छसि श्रिय तात यादृशी सा युधिष्ठिरे ।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक ॥१४

शान्तिपर्व—अध्याय १२४, श्लोक ५०, ५०½ ६२, १५, २०, १४

५९—एते हि पार्थिवा सर्वे शीलवन्तो दयान्विता ।
अतस्तेषा गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १२४, श्लो० १७

भारतीय संस्कृति में राज्य और वैभव का आधार भी धर्म तथा शील को माना गया है। भारतीय संस्कृति के इस दृष्टिकोण की तुलना उन संस्कृतियों से करने योग्य है जिनमें आक्रमण, अनीति, छल आदि का अवलम्ब लेकर राज्य विस्तार को गर्व के योग्य समझा जाता है। भारतीय संस्कृति की इसी परम्परा के अनुसार 'सत्यमेव जयते' स्वाधीन भारत का राजमंत्र बना है। महाभारत में भी धर्म और शील की इस महिमा का समर्थन किया गया है। पाण्डवों की विजय कथा के रूप में भी शील की महिमा को चरितार्थ करती है। शील को मनुष्य का सिद्ध आधार कह सकते हैं। जिसे धारण किया जाता है वह धर्म है। धारण करने पर जब धर्म मनुष्य का सहज और निश्चित स्वभाव बन जाता है तब उसे शील कह सकते हैं। शील में धर्म की पवित्रता और चरित्र की सुन्दरता का संयोग है।

धर्म के समान शील के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। धर्म के अनेक लक्षण धर्मशास्त्रों और महाभारत में गिनाये गये हैं। शान्ति पर्व में मन, वचन और कर्म से सभी प्राणियों के प्रति अद्रोह तथा अनुग्रह और दान को प्रशंसनीय शील बताया गया है।[६०] धर्म के लक्षणों की भांति शील के भी अन्य अनेक रूप हो सकते हैं। किन्तु धर्म के सामान्य स्वरूप की भांति शील का सामान्य स्वरूप भी शील के सभी रूपों में व्याप्त रहता है। शील का यह सामान्य स्वरूप धर्म के स्वरूप के ही समान है। धृतराष्ट्र ने शील का स्वरूप इस प्रकार बताया है— अपना जो कर्म और पुरुषार्थ दूसरों के लिये हितकर न हो उसे नहीं करना चाहिये[६१] तथा जिस कार्य की भरी सभा में प्रशंसा हो उसे करना चाहिये। यही संक्षेप में शील का स्वरूप है।[६२] शील का यह स्वरूप धर्म का आन्तरिक तत्व और आधार है।

६०—अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥६६

६१—यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥६७

६२—तत् कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥६८

शान्तिपर्व—अध्या० १२४, श्लो० ६६, ६७, ६८

६—परम धर्म—

'धम के लक्षण के प्रसग म धम के अनेक रूपा का उल्लेख किया गया है। आत्मौपम्य की समानता तथा आत्मन प्रतिकूलानि के अविरोध क द्वारा महाभारत म धम के जिस सामान्य स्वरूप एव सिद्धान्त का निदशन किया गया है वह जीवन की परिस्थितिया और सम्बन्धा के अनुसार अनेक रूप ग्रहण करता है। दया, क्षमा, दान आदि उसी धम क विविध लक्षण है। धम के इन अनेक लक्षणा की तुलना अथवा कभी इनका सघष होने पर यह प्रश्न उठता है कि धम के इन अनेक लक्षणो म सबसे श्रेष्ठ कौन है। सबसे उत्तम अथवा श्रेष्ठ को परम कहत हैं। सत्य अहिंसा, दया आदि मे परम धम' किसे कहना चाहिये। तुलना करना और सब श्रेष्ठ को जानने की इच्छा करना मनुष्य का स्वभाव है। अन्य क्षेत्रा म भी वह सवश्रेष्ठ को जानना चाहता है। धम क क्षेत्र म इसका निणय करना अत्यन्त कठिन है। धम के सभी रूप अपन अपने अवसर पर महत्वपूण और श्रेष्ठ दिखाई देते हैं। उनम से किसी की भी उपेक्षा नही का जा सकती। फिर भी धम शास्त्रो तथा महा भारत म कही कही धम के किसी लक्षण को परम धम कहा गया है। इससे धम के उस लक्षण की विशेष महिमा प्रकट होती है। जिन धर्मों को 'परमधम बताया गया है व निस्सन्देह अधिक व्यापक हैं तथा व धम के सामान्य सिद्धान्त के अधिक निकट हैं। इस दृष्टि से उन्हे परम धम कहना उचित है। परम का अथ यही है कि वे धम श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं तथा अन्य धम उनकी तुलना म गौण है। तुलना करने पर विदित होगा कि ये गौण धम इस परम धम के अन्तगत आ जाते है तथा उनसे अनुगत होत है। उदाहरण के लिये सत्य अहिंसा दया आदि को विभिन्न स्थानो पर परम धम कहा गया है। अस्तेय अक्रोध आदि इनसे अनुगत हाते है। सत्य अहिंसा, दया आदि के होन पर अस्तय अक्रोध आदि स्वय ही प्राप्त हो जाते हैं। धम व्यवस्था के क्रम म परम धम को धम क सामान्य स्वरूप तथा गौण धर्मों के बीच रखा जा सकता है। समानता अविरोध आदि की तुलना म सत्य, अहिंसा, दया आदि अपर सामान्य कहे जा सकते हैं। य धम के ऐसे सामान्य हैं जो समानता आदि की तुलना म अधिक मूत और ग्राह्य हैं। इनक द्वारा साधारण जन धम क सिद्धान्त का अनुगमन कर सकत हैं।

महाभारत म सत्व, सत्य, अहिंसा दया आदि को विभिन्न स्थानो पर परम धम कहा गया है। अनुगीता म गीता के अनुरूप सत्व की महिमा वर्णित है। प्रकृति के गुणो म 'सत्व को 'परम धम कहा गया है।[६३] सत्व ही धम का आधार है। सात्विक भाव से ही धम के समस्त लक्षण घटित होते हैं। अत सत्व को परम धम कहना उचित है। रजस और तमस अधम के प्रेरक एव धम के बाधक होते हैं। शान्ति पव के अन्तगत मोक्षधम पव म सत्य को परम धम बताया गया है।[६४] युधिष्ठिर धम के पुत्र थे। वे सत्य वादी थे। उनके चरित्र म 'सत्य ही 'धम' का पर्याय बन गया है। भारतीय आचार म सत्य की महिमा अपार है इसी महिमा के कारण उसे 'परम धम' माना गया है। शान्ति पव म युधिष्ठिर से भीष्म ने कहा है कि सत्पुरुषो म सदा सत्यरूप धम का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धम है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए, क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धम तप और याग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परमयज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है। सत्य से बढकर कोई धम नही है और झूठ से बढकर कोइ पातक नही है। सत्य ही धम की आधार शिला है। अत सत्य का लोप न करना चाहिए।'[६५]

६३—न हि सत्त्वात् परो धम कश्चिदन्यो विधीयते ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय–३६, श्लोक ६

६४—नास्ति सत्यात् परो धर्मो ।
शान्तिपर्व—अध्याय ३४२, श्लोक १८

६५—सत्य सत्सु सदाधम सत्य धम सनातन ।
सत्यमेव नमस्येत सत्य हि परमा गति ॥४॥
सत्य धम स्तपो योग सत्य ब्रह्म सनातनम् ।
सत्य यज्ञ पर प्रोक्त सर्वं सत्ये प्रतिष्ठतम् ॥५॥
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातक परम् ।
स्थितिर्हि सत्य धम स्य तस्मात् सत्य न लोपयेत् ॥२४॥
शान्तिपर्व – अध्याय १६४, श्लोक ४, ५, २४

अहिंसा को प्राय 'परम धम' कहा जाता है। अहिंसा परमो धम' का महावाक्य महाभारत तथा अय धम शास्त्रो म अनेक स्थानो पर मिलता है। यानवल्क्य के अनुसार 'अहिंसा धम के लक्षणा मे प्रथम है। महाभारत म अहिंसा को परम धम[६६] और सत्य मे प्रतिष्ठित कहा गया है।[६७] अहिंसा को ही सबसे बडा दान सबसे बडा यज्ञ तथा सबस बडा मित्र बताया गया है।[६८] अहिंसा प्राण दान है। वह निस्सदेह सबसे बडा दान है। यज्ञ से पुण्य होता है। अहिंसा सबसे अधिक पुण्यदायक यज्ञ है। वह परम मित्र के समान हित कारी भी है। अहिंसक का अहित करने की कल्पना दूसरे सहसा नही करते। वन पव मे युधिष्ठिर ने यक्ष के प्रश्नो के उत्तर म दया को परम धम बताया है[६९] दया का क्षेत्र अहिंसा की अपेक्षा अधिक व्यापक है। एक प्रकार स अहिंसा को भी दया का एक रूप मान सकते है। अहिंसा और दया म मनुष्य का आदर तथा मानवीय भावना सबसे अधिक गहन रूप म प्रकट होती है। इह 'परम धम' मानना उचित है।

परम धम के ये अनेक रूप धम के सामाय सिद्धात के अनुरूप हैं तथा एक दूसर से सगत है। इनम एक के अनुशीलन स ही अय धर्मों के पालन की क्षमता प्राप्त होती है। अत ये निस्सदेह परम धम के गौरव क योग्य है।

६६—अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ॥
आश्वमेधिक पर्व-अध्याय ४३ श्लोक २०½

६७—अहिंसा परमो धम स च सत्ये प्रतिष्ठित ॥
वनपर्व—अध्याय–२०७ श्लोक ७४

६८—अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ।
अहिंसा परमो यज्ञस्तयाहिंसा परफलम्

अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥
अनुशासन पर्व-अध्याय–११६, श्लोक २८, २९

६९—आनृशस्य परो धम परमायच्च मे मतम् ।
वनपर्व-अध्या–३१३ श्लोक १२९

७-सनातन धर्म—

'परम धम' के समान ही महाभारत म धम के कुछ रूपा को 'सनातन धम' कहा गया है। सनातन का अथ शाश्वत अथवा सवकालीन है। कुछ धम सामयिक भी हो सकते हैं। देश काल के अनुसार धम के व्यावहारिक रूप बदल सकते हैं।[७०] अत धम के उन रूपा का निर्धारण अपेक्षित है जो सव कालीन अथात् सनातन है। य धम के ऐस रूप हैं जो देश काल स निरपक्ष ह तथा सदा सत्य रहते है धम का सामान्य स्वरूप जिसका निर्धारण आत्मौप म्यत की समता तथा अविरोधेन के सामंजस्य के द्वारा किया गया है वह सनातन अर्थात् सवकालीन धम का सर्वोत्तम रूप है। सत्य अहिंसा आदि भी एमे ही सवकालीन धम हैं। इन्हें भी सनातन धर्म' कहा जा सकता है।

महाभारत म विविध स्थानो पर सत्य अहिंसा आदि को सनातन धम कहा गया है। इनको ही परम धम बताया गया है। य परम अथात् सर्वश्रेष्ठ धम हैं। य सनातन धम भी हैं। ये धम के व रूप हैं जो सवकाल म मान्य हैं।

सनातन धम बताते हुए भीष्म जी न युधिष्ठिर से कहा कि सत्पुरुषा म सदा सत्य रूप धम का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धम है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए, क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धम तप और योग है सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है। श्रेष्ठ पुरुषा का सनातन धम भीष्म जी न इस प्रकार बताया कि मन वाणी और क्रिया द्वारा सभी प्राणियो के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषा का सनातन धम है। सत्य से बढ़कर कोई धम नही और झूठ स बढ कर कोई पातक नही है। सत्य ही धम की आधारशिला है। अत सत्य का

७०—स एव धम सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठित ।
शान्तिपव–अध्याय–३६, श्लोक ११
द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधमौ विजानताम् ॥
शान्ति पव—अध्या० ३६, श्लोक, १२

लोप न करें।[७१] धर्म का रूप बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान इन चारों का सदा सेवन करो। यह सनातन धर्म है। मनीषी पुरुष धर्म को समस्त प्राणियों का हृदय कहते हैं। अतः समस्त प्राणियों को धर्म का आश्रय लेना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अकेला ही धर्म का आचरण करे, धर्म का दिखावा न करे।[७२] उन्नति चाहने वाले पुरुष के पाँच गुरु—पिता माता अग्नि, परमात्मा तथा गुरु हैं। इनकी सेवा सद्व्यवहार तथा सब अग्नियों की स्थापना ही सनातन धर्म है। क्षमा भाव की प्रशंसा करते हुए युधिष्ठिर ने द्रौपदी से इस प्रकार कहा कि 'क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषों का सदाचार है और यही सनातन धर्म है। विद्वान् पुरुष को सदा क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। क्षमावानों के लिए ही यह लोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत् में सम्मान प्राप्त करते हैं।'' [७३]धौम्य जी ने पाण्डवों को सनातन धर्म इस प्रकार बताया है कि हितैषी सुहृदों का कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हित की बात बतावें। यही सनातन धर्म

७१—सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।४
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।५
शान्तिपर्व-अध्याय १६२, श्लोक ४, ५

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥२१
शान्ति पर्व-अध्याय १६२, श्लोक २१ २४

७२—अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः ॥२३
अनुशासन पर्व-अध्याय १६२, श्लोक २३, ६०, ६१

७३—एनदारमवता वृत्तमेष धर्मः सनातनः।
वनपर्व-अध्याय २९, श्लोक ४२, ४२, ४३

है।"७४ हित की बात बताने से अपने मित्रा तथा हित चाहने वाले वडे लोगो का प्रेम प्रकट होता है। इसलिए माता पिता तथा गुरु आदि सदा छोटा को हित की और कल्याण की बात बताते रहते हैं। मनुष्य के लिए हितकारी बाते बडी उपयोगी होती है। बडे लोग अपने अनुभव मे जो भी बातें बताते हैं वे छोटे क ध्यान में भी नही आती है। क्योकि बहुत-सी बातें अनुभव स प्राप्त होती ह जो बिना अधिक उम्र के ज्ञात नहीं हो पाती। माता पिता उम्र के ही कारण अधिक अनुभवी तथा ज्ञानी हो जाते ह और उसी अनुभव के द्वारा वे छोटो को हित की तथा ज्ञान की बातें बताते ह। इसलिए छात्रो को सदा बडो की बातें माननी चाहिए इसी में उनका कल्याण है। चोरी न करने के विषय मे बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'दूसरो के धन का अपहरण नही करना चाहिए—यही सनातन धम है।'७५ चोरी न करने से मनुष्य का मन प्रसन्न और निभय रहता है तथा वह मनुष्य अपने कर्तव्यो और धर्मों के पालन म शात चित्त से लगा रहता है। श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सब दुगुणा से दूर रहना चाहिए। एक बार मृत्यु न ब्रह्माजी से कहा कि मैं रोते बिलखते प्राणियो के प्यारे प्राणो का अपहरण नही कर सकूँगी, क्योकि यह अधम प्रतीत होता है। तब ब्रह्माजी न कहा कि प्रजाओ के सहार से तुझे अधम नही प्राप्त होगा क्योकि यह तो मेरे द्वारा कही हुई बात है अर्थात् ससार मे जो जन्म लेगा, उसका नाश भी अवश्य होगा।

७४—विदिते चापि वक्तव्य सुहृद्भिरनुरागत
एष धर्मश्च कामश्च अयश्च व सनातन ॥
विराटपव–अध्याय ४, श्लोक ६

७५—न हतव्य परधनमिति धम सनातन ॥
शान्ति पव–अध्याय २५६, श्लोक १२

७६—तस्मात् सहर कल्याणि प्रजा सर्वाश्चतुर्विधा ।
धर्म सनातनश्च त्वा सर्वथा पावयिष्यति ॥
द्रोणपव—अध्याय ५४ श्लोक ३३, ३४

ब्रह्माजी ने मृत्यु से इस प्रकार कहा कि कल्याणि ! तू चार श्रेणिया मे विभाजित समस्त प्राणिया का सहार कर। सनातन धम तुझे सब प्रकार से पवित्र बनाये रखेगा।"[७६] सनातन धम की स्थिति बताते हुए कपिलजी ने कहा कि बुद्धिमान पुरुष के लिए दश पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदि क अनुष्ठान का विधान है क्याकि उनम सनातन धम की स्थिति है।"[७७] य वदिक कम हैं। वदिक विधान के अनुसार ये सवदा पालनीय ह। किन्तु मुख्य रूप से सनातन धम का अभिप्राय शील और सदाचार के उन रूपा स ह जो सावभौम होने के कारण सवकाल म सभी मनुष्या क लिय पालनीय हैं तथा सत्य, अहिंसा दया आदि जिनके उदाहरण ह।

७७—दश च पौर्णमास च अग्निहोत्र च धीमत ।
चातुर्मास्यानि चवासस्तेपु धर्म सनातन ॥२०
शान्ति पर्व–अध्याय २६६, श्लोक २०

अध्याय—६

महाभारत में धर्म के तत्व

१—धर्म और धर्म के तत्व-

महाभारत म भी धम का वही रूप माना गया है जो सामान्य रूप से भारतीय परम्परा मे स्वीकृत है तथा विशेष रूप से जिसका प्रतिपादन धम शास्त्र म किया गया है। महाभारत का धम भी वही सामान्य मानवीय धम है, जो एकता और शाति का कारण बनता है। जो व्यवहार हमे अपने लिए अनुचित लगता है वसा व्यवहार हम भी दूसरो के प्रति नही करना चाहिए यही धम है। इस विषय म भीष्म जी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "जो बर्ताव अपने लिए अप्रिय है, वह दूसरो के लिए भी प्रिय नही हो सकता।"[1] परोपकार इस धम का भावात्मक रूप है। परपीडन अर्थात् दूसरों को दुख पहुँचाना सबसे बडा अधम है। अनथ और अतिचार के सभी रूपो म अधम का यह रूप व्याप्त रहता है। धम का उक्त सामान्य रूप भी मानवीय कल्याण के कल्पवृक्ष का बीज है। वह मानवीय सद्भावो की अनेक शाखाओ म विकसित होता है और सुख शाति के फल फूलो म फलता-फूलता है।

समानता और परोपकार के सामान्य धम से मनुष्य मे अनेक सद्गुण पदा होते हैं अथवा यो कह सकते हैं कि यह सामान्य मानवीय धम अनेक सद्भावो और सद्गुणो से सम्पन्न होता है। इन अनेक सद्भावो और सद्गुणो को हम धम के तत्व कह सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय मे धम के इन तत्वो का सक्षिप्त विवरण किया जायगा। धम के इन तत्वो से विदित होता है कि इस

१—यदन्यैर्विहित नेच्छेदात्मनः कम पूरुष ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मन ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २५६, श्लोक २०

मानवीय धर्म का जीवन में कितना विस्तार है तथा विस्तार के साथ साथ भाव में भी यह धर्म कितना उदार है। भाव, वचन और व्यवहार के द्वारा सद्गुण धर्म के इन तत्वों में समाहित है कि इनका पालन करने पर मनुष्य का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन अत्यन्त सुन्दर और सुखी बन सकता है। अहिंसा ही धर्म का लक्षण है यह धर्मज्ञ पुरुष बताते हैं। अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि अहिंसा परम धर्म है अहिंसा परम संयम है अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है। अहिंसा परम यज्ञ है अहिंसा परम फल है अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है।'[२] ब्रह्माजी ने ब्राह्मणों से कहा कि अहिंसा सबसे श्रेष्ठ धर्म है और हिंसा अधर्म का लक्षण (स्वरूप) है। प्रकाश देवताओं का और यज्ञ आदि कर्म मनुष्यों का लक्षण है। धर्म के विषय में बताते हुए श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि 'जिस कार्य में हिंसा न हो वही धर्म है। महर्षियों ने प्राणियों की हिंसा न होने देने के लिए ही उत्तम धर्म का प्रवचन किया है। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि मेरे विचार से प्राणियों की हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। किसी की प्राण रक्षा के लिए झूठ बोलना पड़े तो बोले किन्तु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे।'[३] संजय ने कहा कि जब भीम का रथ द्रोणाचार्य के पास आ गया तब भीम ने द्रोणाचार्य से कहा कि शिक्षित ब्राह्मण यदि अपने धर्मकार्यों में ही रत रहते तो क्षत्रियों का इतना संहार न होता। भीम ने कहा कि 'प्राणियों की हिंसा न करने को ही सबसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है। उसकी जड़ हैं ब्राह्मण और आप तो उन ब्राह्मणों में भी सबसे उत्तम

२—अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥२८
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥ २९
अनुशासन पर्व–अध्याय ११६, श्लोक २८, २९

३– यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥
कर्णपर्व अध्याय ६९, श्लोक ५७ २३

ब्रह्मवेत्ता हैं।"[४] भीम के वचनो को सुनकर द्रोणाचाय को सत्य का ज्ञान हुआ और उन्होंने अस्त्र छोडकर समाधि लगा ली। प्राचीन काल म युद्ध लडना क्षत्रियो का ही काम था। ब्राह्मण तो क्षत्रियो के निमन्त्रक होते थे। धमव्याध न कौशिक जी से इस प्रकार कहा कि "अहिंसा सबसे महान् धम है परन्तु वह सत्य म ही प्रतिष्ठित है। सत्य के ही आधार पर श्रेष्ठ पुरुषो के सभी काय आरम्भ होते हैं[५]।" अहिंसा और सत्य भाषण—य समस्त प्राणियो क लिए अत्यन्त हितकर हैं। ब्राह्मण का समस्त प्राणियो म से किसी की भी कभी और कही भी हिंसा नही करनी चाहिए। महायशस्वी विप्रवर सहस्रपाद न कुण्डुभ का रूप त्याग कर अपने प्रकाशमान स्वरूप को प्राप्त करके अनुपम आत्मवान रूप स यह बात कही कि 'समस्त प्राणियो म श्रेष्ठ ब्राह्मण है अहिंसा सबस उत्तम धम है।[६] अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी न युधिष्ठिर स कहा कि प्राणियो की हिंसा न हो इसके लिए धम का उपदेश किया गया है अत जो अहिंसा से युक्त हो वही धम है ऐसा धर्मात्माओ का निश्चय है।[७] जो सूक्ष्म धम को देखता और उत्तम वचन बोलना चाहता हो उसको ऐसी बात कहनी चाहिए, जो सत्य होने के साथ ही हिंसा और परनिन्दा से रहित हो। अहिंसा से मनुष्य सुखी रहता है इस विषय म भीष्म जी ने युधिष्ठिर स कहा कि जो मनुष्य अहिंसा आदि परम धम को समस्त प्राणियो के लिए सुखद

४—अहिंसा सवभूतेषु धम ज्यायस्तर विदु।
सत्य च ब्राह्मणो मूल भवाश्च ब्रह्मवित्तम ॥३८
द्रोणपव–अध्याय १६२, श्लोक ३८

५—अहिंसा परमो धम स च सत्ये प्रतिष्ठित।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठा तु प्रवतन्ते प्रवृत्तय ॥
वनपव–अध्याय २०७, श्लोक ७४

६—अहिंसा परमो धम सर्वप्राणभृता वर।
आदि पर्व अध्याय ११ श्लोक १३

७—अहिंसार्थाय भूताना धमप्रवचन कृतम्।
य स्यादहिंसासम्पृक्त स धम इति निश्चय ॥१२
शान्तिपर्व–अ० १०८, श्लोक १२

और दु खनिवारन जानता है वही सवज्ञ है और वही सुखी होता है।"[८] जो कम हिंसा से रहित हैं, वे सदा मनुष्य की रक्षा करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उसके प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कम उसके लिए करते हो तो वह उन सब कर्मों को रोक दे। दूसरे की आयु से अपनी आयु बढाने की अर्थात् दूसरा के प्राण लेकर अपने प्राण बचाने की इच्छा न करे। जो मनुष्य जीवन भर नहीं खाता है और विधिपूवक उत्तम व्रत का पालन करके अपने अन्त करण को शुद्ध बना लेता है वह योगी भी योगशक्ति प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मण जाजलि के द्वारा धम के विषय म पूछने पर तुलाधार ने इस प्रकार कहा कि प्राणियो की हिंसा न करने से जिस धम की सिद्धि होती है उससे बढकर महान् धम कोई नही है।"[९] तुलाधार ने कहा कि जो वृद्ध हैं पुत्र और पौत्रो से सम्पन्न हैं शास्त्र के अनुसार यथोचित आचरण करते हैं और किसी भी जीव की हिंसा नही करते हैं उ ही महात्माओ के बर्ताव का मैं भी अनुसरण करता हू। अहिंसा और दया आदि भावो से प्रेरित होकर किया हुआ कम इहलोक और परलोक म भी उत्तम फल देने वाला है। यदि मन म हिंसा की भावना हो तो वह श्रद्धा का नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कम करने वाले इस हिंसक मनुष्य का ही सवनाश कर डालती है। नारदजी ने प्राचीन काल मे भीष्म जी को एक ब्राह्मण की कथा सुनाई थी उसी को भीष्म जी न युधिष्ठिर से कहा कि वे ब्राह्मण यज्ञ म पशु की बलि देना नही चाहते थे कि तु स्वग के विमान आदि देखकर वे हिंसा से स्वग की आशा से यज्ञ म हिंसा कर बठे और उनका किया हुआ सारा धम नष्ट हो गया। तब उसे यह दृढ निश्चय हो गया कि हिंसा से बडी हानि होती है और अहिंसा ही परम कल्याण का साधन है। अहिंसा को श्रेष्ठ धम बताते हुए नारद जी ने कहा कि

८—यश्चन परम धम सर्वभूतसुखावहम।
दु खान्नि सरण वेद सर्वज्ञ स सुखी भवेत्॥ ७
शान्तिपर्व—अध्याय २१५, श्लोक ७

९—न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
शान्ति पर्व–अध्याय २६२ श्लोक २६½

अहिंमा ही सम्पूर्ण धम है। हिंसा अधम है और अधम अहितकारक होता है।'[10] श्रेष्ठ पुरुषो के लिए अहिंमा ही श्रेष्ठ धम है।

भारतीय धमशास्त्रो मे दया का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्मात्मा मनुष्य सदा जीवो पर दया करते हैं। यहा तक कि सयामी लोग तो रास्ते म भी देख-देखकर बड़े ध्यान से चलते हैं कि कही कोई चीटी भी न दब जाय। दया के विषय मे बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि भारतनन्दन! जो समस्त प्राणियो पर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मों मे ही प्रवृत्त होता है उसे सभी आश्रमो के सेवन का फल प्राप्त होता है।[11] जो बालको और वृद्धो के प्रति भी दयापूर्ण बर्ताव करते हैं उन्हें भी उत्तम फल प्राप्त होता है। राजा के लिये समस्त प्राणियो की रक्षा तथा उनके प्रति परम दया ही श्रेष्ठधम है। दया की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि जो राजा प्रजापालन म तत्पर रह कर प्राणियो पर दया करता है, उसके इस बर्ताव को धमज्ञ पुरुष परम धम मानते हैं।[12] दमयन्ती ने अपने पिता के घर आकर चार ब्राह्मणो को चारों दिशाओ म राजा नल का पता लगाने के लिए भेजा तब उसने उन ब्राह्मणो से कहा कि तुम इन बातो को जोर-जोर से सबको सुनाना यदि नल कही होगे, तो उन्हें यह बातें असह्य होगी और वे उसका उत्तर देंगे। उन बातो म से एक बात यह भी थी कि मुझ पर दया करो।

१०—अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधमस्तथाहित।
शान्ति पर्व—अ० २७२, श्लोक १९३

११—सवभूतेष्वनुक्रोश कुवतस्तस्य भारत।
आनृशस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थ पद भवेत्॥
शान्तिपव—अध्याय ६६, श्लोक १६

१२—तस्मादेवं पर धम मन्यन्ते धमकोविदा।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम्॥
शान्तिपव—अ० ७१, श्लोक २७

मैंने तुम्हारे ही मुख से सुन रक्खा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है।"[१३] नल ने कभी दमयन्ती को दयालुता को बड़ा धर्म बताया था। उसी का स्मरण कराकर वह उनसे दया करने के लिए कह रही थी।

२–दम ही सबसे बड़ा धर्म है–

संसार में संयम ही सब मनुष्यों के लिए सुखकारी है। संयमी मनुष्य से सब को अभय रहता है और उसका सब सम्मान करते हैं। असंयमी पुरुषों से सभी प्राणियों को सदा भय बना रहता है। इसलिए दम की श्रेष्ठता बताते हुए विदुर जी ने दुर्योधन से कहा कि "सिद्धान्त के जानने वाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसार में दम ही कल्याण का परम साधन है। ब्राह्मण के लिए तो विशेष रूप से यही सनातन धर्म है।"[१४] दम तेज की वृद्धि करता है। दम पवित्र एवं उत्तम साधन है। दम से निष्पाप एवं बढ़े हुए तेज से सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। विदुर जी ने कहा कि 'जो दमरूपी गुण से युक्त है, उसी को दान, क्षमा और सिद्धि का यथार्थ लाभ प्राप्त होता है क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्याय का सम्पादन करता है।[१५] विदुरजी ने दुर्योधन से कहा कि जिस पुरुष में क्षमा धैर्य अहिंसा समदर्शिता सत्य सरलता इन्द्रिय संयम धीरता, मृदुता लज्जा, स्थिरता उदारता अक्रोध सन्तोष और श्रद्धा ये गुण विद्यमान हैं वह पुरुष इन्द्रियविजयी माना गया है। दमनशील पुरुष काम, लोभ अभिमान क्रोध निद्रा आत्मप्रशंसा मान ईर्ष्या तथा शोक—इन दुर्गुणों को अपने पास नहीं फटकने देता। कुटिलता और शठता का अभाव तथा आत्मशुद्धि यह

१३—तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुत ॥
वन पर्व—अ० ६९ श्लोक ४३

१४—इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ९

१५—तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ॥१०
उद्योग पर्व—अध्याय ६३, श्लोक ९, १०

दमयुक्त पुरुष का लक्षण है।[१६] विदुरजी ने दम की श्रेष्ठता बताते हुए कहा कि "चारो आश्रमो म दम को ही उत्तम व्रत बताया गया है। यह दम जिन पुरुषो के अभ्यास म आकर उनके अभ्युदय का कारण बन जाता है।'[१७] जो सदाचारी शीलवान् प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है, वह इस जगत म सम्मान प्राप्त करता है और मृत्यु के पश्चात् उत्तम गति का भागी होता है। इन्द्रियसयमी की विशेषता बताते हुए विदुर जी ने कहा कि जो निर्लोभ, कम से कम चाहने वाला, भोगो के चिन्तन से दूर रहने वाला तथा समुद्र के समान गम्भीर है उस पुरुष को दान्त (इन्द्रियसयमी) कहा गया है।[१८] जो सम्पूर्ण भूतों का हित चाहने वाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखने वाला है उससे किसी भी पुरुष को उद्वेग नहीं प्राप्त होता है। जो समुद्र के समान गम्भीर एव उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त है वहा परम शान्ति का भागी होता है। विदुरजी ने कहा कि 'जो कर्त्तव्य कर्मों द्वारा आचरित है तथा पहले के साधु पुरुषो के द्वारा जिसका आचरण किया गया है उसे अपना कर शम दम स सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं।[१९]

महर्षियो ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धम की एक नही अनेक विधियाँ बताई हैं परन्तु इन सबका आधार इन (मन और इन्द्रिया का सयम) ही है। जिसने अपने मन और इन्द्रिया का दमन कर लिया है, वह सुख म सोता सुख से ही जागता और सुखपूर्वक ही लोको मे विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है। दम की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'हमने ससार मे दम के समान दूसरा कोई धम नही

१६—महाभारत उद्योगपर्व-अ० ६३, श्लोक १४,१५,१६

१७—आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम्।१२३

१८—अलोलुपस्तथाल्पेप्सु कामानामविचिन्तिता।
समुद्रकल्प पुरुष स दान्त परिकीर्तित॥

१९—कर्मणाऽऽचरित पूर्वं सद्भिराचरित च यत्।
तदेवास्थाय मोदन्ते दान्ता शमपरायणा॥२१
उद्योगपर्व—अध्याय ६३, श्लोक १२३, १७,२१

सुना । जगत् म सभी धमवाला व यहाँ दम का ही उत्कृष्ट बताया गया है । मया उसका भूरि भूरि प्रनमा की है।"[२०] जिसकी इन्द्रियाँ और मन वन म नही हैं वह पुरुष निरन्तर क्लश उठाता है। साथ ही वह अपने ही दोषा स बहुत स दूसर दूसरे अनर्थों की भी सृष्टि कर लता है। दम की विशेषता बनाते हुए भीष्म जी न कहा कि दम तेज की वृद्धि करता है, दम पवित्र साधन है, दम से पापरहित हुआ तजस्वी पुरुष परमपद को प्राप्त कर लता है। दम स ही उस अपने शुद्ध कर्मों की यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है। दम उसक लिए दान, यज्ञ और स्वाध्याय स भी बढकर है। [२१] दम से अर्थात् मन के सयम से युक्त पुरुष को महान् धम की प्राप्ति होती है। वह दोनो लोका म परम सुख पाता है। धम क सिद्धान्त को जानने वाले वृद्ध पुरुष दम को कल्याण का साधन बताते हैं। विशेषत ब्राह्मणो के लिए तो दम ही सनातन धम है। व ही धम के स्थापक होते हैं। यदि व ही दमनशील मन और इन्द्रिया वाले न होंगे, तब धम के काय तथा धम क उपदेश वा कस द सकेंगे, इसलिए ब्राह्मणो का सयमी होना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल म ब्राह्मण ही सबके गुरु तथा आदश होते थे। उनको पृथिवी का देवता समझा जाता था। व ही सबको उन्नति के माग पर ल जाते थे। इन्द्रिया का सयमी मनुष्य ही ससार मे कुछ उन्नति कर सकता है। चारो आश्रमो म दम को ही उत्तम व्रत बताया गया है। सब आश्रम के नियम भिन्न भिन्न हैं किन्तु उन चारो आश्रमो म इन्द्रिय सयम का नियम सबके लिए आवश्यक है। बिना इन्द्रिय सयम क कोई भी मनुष्य अपने आश्रम के कर्तव्यो को पूरा नहीं कर सकता है। जिसने मन और इन्द्रियो का दमन कर लिया है उसम गुरुजनो के प्रति आदर का भाव समस्त प्राणियो क प्रति दया उत्पन्न हो

२०—दमेन सदृश धम नान्य लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्त सर्वधर्मिणाम् ।।१०

२१—दमस्तेजो वधयति पवित्र च दम परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्त पुरुषो विन्दते महत् ।। ६
दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दान तथा यज्ञानधीता चातिवर्तते ।। ८
शान्ति पव अ० १६०, श्लोक १० ६ ८

जाती है। संयमी मनुष्य की कहीं भी निन्दा नहीं होती है। उसके मन में कोई कामना नहीं होती है। वह छोटी वस्तुओं के लिए किसी के सामने हाथ नहीं पसारता है। वह तुच्छ विषय भोगों की अभिलाषा नहीं रखता है। वह दूसरों के दोष नहीं देखता है। उसका मन सदा धर्म के संचय में लगा रहता है। दम का दोष बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "दम अर्थात् संयम में एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होने के कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं। क्षमा से ही मनुष्य में सहिष्णुता आ जाती है। संयमी पुरुष को वन में जाने की आवश्यकता नहीं है। असंयमी पुरुष को ही वन में जाने की आवश्यकता रहती है किन्तु जिसका मन चंचल है उसको वन में जाने से भी क्या लाभ है। संयमी पुरुष जहाँ रहे वही उसके लिए वन और आश्रम है।[22] संयमी पुरुष घर में रह कर ही मोक्ष प्राप्त करता है। ज्ञान से इन्द्रिय संयम के लक्षण बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि किसी दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भय को त्याग देना मन के रोगों को शान्त कर देना यह दम (मन और इन्द्रियों के संयम) का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है।[23] जिस मनुष्य का सच्चा ज्ञान हो जाता है वही संयमी बनता है और फिर इससे अनेक सुख भोगता है। धृति के विषय में भीष्म जी ने इस प्रकार कहा कि 'सुख या दुःख प्राप्त होने पर मन में विकार न होना 'धृति' है। जो अपनी उन्नति चाहता हो उस बुद्धिमान् पुरुष को सदा ही धृति का सेवन करना चाहिए।[24] धैर्य मनुष्य

२२—एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेन क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥
शान्तिपर्व—अ० १६० श्लोक ३४, ३५, ३६

२३—दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२
शान्तिपर्व—अ० १६२, श्लोक १२

२४—धृतिर्नाम सुखे दुःखे यया नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥
शान्तिपर्व—अ० १६२, श्लोक १६

का बहुत बडा गुण है। धयवान् मनुष्य ही इस समार म अनेक कष्टो ट्रा को हँस हँस कर झेलता है और अन्त म सुख प्राप्त करता है। क्रोध मनुष्य का बहुत बडा शत्रु है। जो मनुष्य क्रोध को जीत लते हैं वे अनका सकटो स पार हो जाते हैं। इस ससार म क्रोध एक एसा अवगुण है कि इसक होन स उस मनुष्य क सब सहायक उसे छोड जात है और वह बिल्कुल अकला शून्य की भाँति दुःख भोगता रहता है। इसीलिए ज्ञानी मनुष्य क्रोध पर विजय प्राप्त करके अपने जीवन को सफल बनाते है। जो मनुष्य उभडन वाल क्रोध को क्षमा द्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। जो मनुष्य किसी पर क्रोध नही करता है वह सौ वर्षों तक प्रत्येक मास म बिना थकावट के निरन्तर यज्ञ करने वाले से भी श्रेष्ठ समझा जाता है। क्रोध न करने स जो फल मिलता है उसके विषय म दवयानी स शुक्राचाय ने इस प्रकार कहा कि 'जो उत्पन्न हुए क्रोध को अक्रोध (क्षमाभाव) के द्वारा मन से निकाल देता है समझ लो, उसन सम्पूर्ण जगत् का जीत लिया। जो क्रोध को रोक लेता है निन्दा सह लता है और दूसरे के सताने पर भी दुःखी नही होता वही सब पुरुषार्थों का सुदृढ पात्र है।'[२५] शमीक ने अपने पुत्र को क्रोध न करने का उपदेश दिया उन्होने पुत्र से कहा कि क्रोध प्रयत्नशील साधका के अत्यन्त दुःख से उपार्जित धम का नाश कर देता है।[२६] यह क्रोध धम का नाशक होता है, इसलिए श्रेष्ठ मनुष्या को क्रोध मिटाकर उत्तम आचरण करना चाहिए। क्रोध को जीतकर ही मनुष्य स्वय सुखी रहता है तथा अन्य सबको सुख देता है।

२५—य समुत्पतित क्रोधमक्रोधेन निरस्यति।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥३॥
य सधारयते मन्यु योऽतिवादांस्तितिक्षते।
यश्च तप्तो न तपति दृढ सोऽर्थस्य भाजनम ॥
आदि पर्व — अध्याय ७६, श्लोक ३ ५

२६—क्रोधो हि धम हरति यतीना दु खसचितम ॥
आदि पव — अ० ४२, श्लोक ७½

३—क्षमा की महिमा —

ससार मे सब धर्मों म क्षमा सबसे श्रेष्ठ गुण है। जो मनुष्य अपमान स तिरस्कार अथवा गाली दन या डाँट बताने से कभी क्रोध नही करता वरन् क्षमाशील बना रहता है, वही मनुष्य सब मनुष्यो मे श्रेष्ठ कहा जाता है। क्षमाशील मनुष्य को ही साधु पुरुष कहते हैं। क्षमाशील मनुष्य को ही स्वग यश और मोक्ष की प्राप्ति होती है। भगवान् श्री कृष्ण ने क्षमा के विषय मे युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि— क्षमा ही यश दान, यन और मनोनिग्रह है। अहिंसा धम और इन्द्रियो का सयम क्षमा के ही स्वरूप हैं। क्षमा ही दया और क्षमा ही यन है। क्षमा से ही हमारा जगत् टिका हुआ है अत जो ब्राह्मण क्षमावान् है, वह देवता कहलाता है वही सबसे श्रेष्ठ है।"[२७] विदुर जी ने क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि—' तात! समथ पुरुष के लिए सब जगह और सब समय म क्षमा के समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनाने वाला उपाय दूसरा नही माना गया है। जो शक्तिहीन है वह तो सब पर क्षमा करे ही, जो शक्तिमान है, वह भी धम के लिए क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टि म अथ और अनथ दोनो समान हैं उसके लिए तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है।"[२८] शम (मनोनिग्रह) ही क्षमाशील साधको को सिद्धि की प्राप्ति कराने वाला है। जिनम क्षमा है, उन्ही के लिए यह लोक और परलोक दोनो कल्याणकारक हैं। 'क्षमाशील मनुष्य को कभी किसी को अपमान नही करना चाहिए। शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है किन्तु

२७—क्षमा यश क्षमा दान क्षमा यज्ञ क्षमा दम ।
क्षमाहिंसा क्षमा धम क्षमा चेन्द्रियनिग्रह ॥
क्षमा दया क्षमा यज्ञ क्षमयव धृत जगत् ।
क्षमावान् ब्राह्मणो देव क्षमावान् ब्राह्मणो वर ॥
आश्वमेधिक पव—अध्याय ९२ में से

२८—तात श्रेयस्कर किंचिदन्यत् पश्यतम मतम् ।
प्रभविष्णोयथा तात क्षमा सवत्र सवदा ॥५८
क्षमेदशक्त सवस्य शक्तिमान् धमकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्य क्षमा हिता ॥५९
उद्योगपव—अध्याय ३९, श्लो० ५८-५९

शक्तिहीन मनुष्य क्रोध करता है।[29] शान्तिप्रिय का मन शान्ति से पूर्ण होता है, इस कारण उसे किसी को शक्ति दिखाने की इच्छा नहीं होती है। उसका शान्ति का प्रभुत्व चारों ओर स्वयं ही फैला रहता है इस कारण वह क्षमाशील होता है। क्षमा के लिए उपदेश देते हुए शमीक ने अपने पुत्र से कहा कि— तुम सब इन्द्रियों को वश में रखते हुए क्षमाशील बनो क्षमा से ही ब्रह्माजी के निरन्तर्वर्ती लोकों में जा सकोगे।[30] क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा कि "सुशोभने! पुरुष को सभी आपत्तियों में क्षमा भाव रखना चाहिए। क्षमाशील पुरुष से ही समस्त प्राणियों का जीवन बताया गया है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमा ने ही सम्पूर्ण जगत् को धारण कर रक्खा है। जो मनुष्य यह जानता है कि क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है, वह सब कुछ क्षमा करने के योग्य हो जाता है। क्षमाशील मनुष्य धर्मवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषों से भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं। क्रोधी मनुष्य अपयश होता है। क्षमावान् मनुष्य विद्वान् होते हैं। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। जिन मनुष्यों का क्रोध क्षमाभाव से दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गई है।[31] यदि मनुष्यों में पृथ्वी के समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मानवों में कभी सन्धि हो ही नहीं सकती क्योंकि

२९—क्षमावन्तं च देवेन्द्र नावमन्येत बुद्धिमान् ।
शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः ॥
आदिपर्व—अध्या० ८७—श्लो० ८६ के मध्य का

३०—तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान् ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥१०
आदिपर्व—अध्याय ४२, श्लो० १०

३१—क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने ।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥३२
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥३७
वनपर्व—अध्याय २८ श्लो० ३२,३७ ३६,३८,३४,४२,४४,२५,३०

झगड़े की जड़ तो क्रोध ही है। क्रोध प्रजाओं के नाश और अवनति का कारण है, यदि राजा क्रोधी हो जाय तो सारी प्रजाओं का शीघ्र ही नाश हो जाय। क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए युधिष्ठिर ने कहा कि "क्षमा तेजस्वी पुरुषों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषों का सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा ही शम (मनोनिग्रह) है। क्षमावानों के लिए ही यह लोक है। क्षमावानों के लिए ही परलोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत में सम्मान और परलोक में उत्तम गति पाते हैं।"[३२] क्षमा सांसारिक मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र है।

किन्तु सर्वत्र अति की क्षमा भी दोष हो जाती है। क्षमा में जो दोष आ जाते हैं उनके विषय में प्रह्लाद ने अपने पौत्र बलि से इस प्रकार कहा कि 'तात! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं।[३३] अधिक क्षमाशील के भृत्यगण भी उसका अपमान करने लगते हैं। इस संसार में सबका द्वारा अपमान तो मृत्यु से भी अधिक निन्दित है। क्षमाशील को उसके सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीनवृत्ति के लोग, यहां तक कि उसकी स्त्री भी कटुवचन सुनाया करती है। क्षमाशील पुरुषों को सदा ये तथा और भी बहुत-से दोष प्राप्त होते है। इसलिए क्षमा श्रेष्ठ गुण होते हुए भी कहीं कहीं दोष का कारण भी हो जाता है। अधिकारी के लिए क्षमा दोष बन जाती है तथा विद्वानों के लिए क्षमा श्रेष्ठ गुण हो जाती है।

३२—क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥४०
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥४३
वनपर्व—अध्याय २६, श्लो० ४०, ४३

३३—न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ॥५½
यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ॥६½
वनपर्व—अध्याय २८, श्लो० ५½, ६½

४—सत्य से बढ़कर तप नहीं है—

संसार में सत्य से बढ़ कर कोई वस्तु नहीं है। सत्य बोलने वाला मनुष्य ही सबका विश्वासपात्र बनता है। जो असत्य बोलता है लोग उसका आदर नहीं करते हैं तथा उसकी किसी बात पर विश्वास भी नहीं करते हैं। सत्य बोलने वाले मनुष्य के हृदय में भगवान का वास होता है।

सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि भारत! सत्य बोलना अच्छा है। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[३४] क्रोध में भरे हुए अर्जुन ने जब युधिष्ठिर को मारने के लिए खड्ग हाथ में ले ली थी तब श्रीकृष्ण ने पूछा था कि तुम क्या करने जा रहे हो। जब अर्जुन ने अपना रहस्य बताया तो श्रीकृष्ण ने उन्हें धिक्कारा। तब अर्जुन ने उनसे उचित करने योग्य कार्य के लिए आज्ञा मांगी। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया कि सत्य बोलना उत्तम है। सत्य से बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है परन्तु यह समझ लो कि सत्पुरुषों द्वारा आचरण में लाये हुए सत्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।[३५] श्रीकृष्ण ने कहा कि 'जहां मिथ्या बोलने का परिणाम सत्य बोलने के समान मंगलकारक हो अथवा जहाँ सत्य बोलने का परिणाम असत्य भाषण के समान अनिष्टकारी हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए। वहां असत्य बोलना ही उचित होगा। विवाह काल में, स्त्रीप्रसंग के समय, किसी के प्राणों पर संकट आने पर, सर्वस्व का अपहरण होते समय तथा ब्राह्मण की भलाई के लिए आवश्यकता हो तो

३४—सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।

शान्तिपर्व—अध्याय १०९, श्लो० ३¼

३५—सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥३१

कर्णपर्व—अध्याय ६९, श्लो० ३१

असत्य बोल दें। इन पांच अवसरों पर झूठ बोलने से पाप नहीं होता।[३६] सत्य के विषय में बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को सदा सिर झुकाना चाहिए क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।"[३७] सत्य से अनेक धर्म प्राप्त होते हैं। दान का दक्षिणाओं सहित यज्ञ का त्रिविध अग्नियों में हवन का वेदों के स्वाध्याय का तथा अन्य जो धर्म का निर्णय करने वाले शास्त्र हैं उनके भी अध्ययन का फल मनुष्य सत्य से ही प्राप्त कर लेता है। इसका अभिप्राय यही है कि यदि मनुष्य पर और कुछ पुण्य कार्य न हो सके और वह केवल सत्य ही बोलता हो तो उसे सब पुण्यों का फल मिल जाता है। सत्य के लक्षण बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि नित्य एकरस अविनाशी और अविकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्तव्यपालनरूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।[३८]

३६— भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत्।।
विवाहकाले रतिसम्प्रयोगे,प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत,पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।।
कर्णपर्व—अध्याय ६९, श्लो० ३२, ३३

३७—सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः।।४
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।५
शान्तिपर्व—अध्याय १६२ श्लो० ४, ५

३८—सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धं च योगेनैतदवाप्यते।।१०
शान्तिपर्व—अध्याय१६२ श्लो० १०

सत्य के तेरह स्वरूप भीष्म जी ने इस प्रकार बताये कि 'राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता) अनुसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहने वाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा— ये तेरह सत्य के ही स्वरूप हैं। ये पृथक पृथक तेरह रूपों में बताये हुए धर्म एकमात्र सत्य को ही लक्षित कराने वाले हैं। ये सत्य का ही आश्रय लेते और उसी की वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं। सत्य के गुणों की सीमा नहीं बताई जा सकती। पितर, देवता तथा ब्राह्मण भी सत्य की प्रशंसा करते हैं। सत्य का पालन करने से ही मनुष्य मत्सरता से रहित हो सकता है। सत्यवादी पुरुष को ही उत्तम रीति से क्षमाभाव की प्राप्ति होती है।[39] सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधारशिला है अतः सत्य का लोप न करे।"[40] सत्य के बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्यु की सेना का कभी सामना नहीं कर सकता, इसलिए असत्य को त्याग देना चाहिए। क्योंकि अमृतत्व सत्य में ही स्थित है।[41] सत्य की महिमा बताते हुए भृगु जी ने भरद्वाज मुनि से कहा कि असत्य अन्धकार का रूप है। वह मनुष्य को नीचे गिराता है। अज्ञानान्धकार से घिरे हुए मनुष्य तमोगुण से

३९—सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥८
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥९
शान्तिपर्व—अध्याय १६२, श्लो० ८,९ २२ २३ १३,१४

४०—नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥२४
शान्तिपर्व—अध्याय १६२ श्लो० २४

४१—न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥
शान्तिपर्व—अध्या० १८५, श्लो० २८

सुख-दुःख है, वे मानो सत्य और असत्य ही हैं। जहा सत्य है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है वही सुख है तथा जहा असत्य है वही अधर्म है और अंधकारमय है तथा वही दुःख है—ऐसा भृगुजी ने भरद्वाज मुनि से कहा। सत्य परलोक में जिस प्रकार जीवो का उद्धार करता है उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी नही तार सकते। जो झूठ बोलने वाला है, उस मनुष्य को इस लोक या परलोक में सुख तो मिलता ही नही है वह अपने पूर्वजो को भी नही तार सकता और न भविष्य में होने वाली सन्तति का ही उद्धार कर सकता है। सत्य का महत्व सब तपस्याओं से बढकर है इस प्रकार सत्य की महिमा बताते हुए ब्राह्मण ने राजा से कहा कि सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है। सत्य ही एकमात्र अक्षय तप है सत्य ही एकमात्र अविनाशी यज्ञ है सत्य एकमात्र नाश रहित सनातन वेद है। वेदो में सत्य ही जागता है। सबमें श्रेष्ठफल सत्य का ही माना गया है। धर्म और इन्द्रिय सयम की सिद्धि भी सत्य से ही होती है। सत्य ही वेद और वेदाग है। सत्य ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही व्रतचर्या तथा सत्य ही ओंकार है।[४४] अतः मनुष्य को सत्यव्रत का आचरण करना चाहिए। सत्यरूपी व्रत के पालन मे तत्पर रहना चाहिए। वह सदा सत्य की कामना करनी चाहिए। सबके प्रति समान भाव रखना चाहिए। सत्य बोलना शुभ कर्म है। सत्य से बढकर दूसरा कोई कार्य नही है। सत्य ने ही सबको धारण कर रक्खा है और सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। सत्य की महिमा बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि क्रूरस्वभाव वाले पापी भी सत्य का आश्रय लेकर सत्य की दुहाई देकर अपने अपने कर्मों में प्रवृत्त होते है।'[४५]

४४—सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः ।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥६४
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम् ।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥६५
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः ।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥६६
शान्तिपर्व—अध्याय १९९, श्लो० ६४, ६५, ६६, ६७ ६१

४५—अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥११
शान्तिपर्व—अध्याय २५९ श्लो० ११

जहा सत्य है, वही धम है। सत्य से ही सबकी वृद्धि हानी है। इसलिए असत्यपूर्ण बर्ताव नही करना चाहिए। सब धर्मों म सत्य ही श्रेष्ठ है, इस विषय में ब्राह्मण ने राजा से कहा कि सत्य प्राणियों को जन्म देने वाला (पिता) है सत्य ही सन्तति है, सत्य से ही वायु चलती है और सत्य से ही सूय तपता है। सत्य से ही आग जलनी है तथा सत्य पर ही स्वगलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती— सब सत्य के ही स्वरूप है।"[४६] जिस प्रकार माता के समान कोई गुरु नही है और ब्राह्मणों के समान लोक म कल्याण करने वाला दूसरा नही है उसी प्रकार सत्य से बढकर कोई धम नही है। द्रौपदी ने कहा कि वह सभा नही है जहाँ वृद्धपुरुष न हो, वे वृद्ध नही हैं जो धम की बात न बतावें, वह धम नहीं है जिसम सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो।[४७] जिस प्रकार आग से विद्या सुरक्षित रहती है स्वच्छता से रूप की रक्षा होती है तथा सदाचार से कुल की रक्षा होती है उसी प्रकार सत्य से धम की रक्षा होती है।[४८] सनत् सुजातजी ने धृतराष्ट्र से सत्य के विषय म इस प्रकार कहा कि राजेन्द्र! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्य म ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम त्याग

४६—प्राणिनां जनन सत्य सत्य संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रवि ॥६७
सत्येन चाग्निर्दहति स्वग सत्ये प्रतिष्ठित ।
सत्य यज्ञस्तपो वेदा स्तोभा मन्त्रा सरस्वती ॥६८
शान्तिपर्व—अध्याय १६६, श्लो० ६७,६८

४७—न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धमम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्य यच्छलेनानुविद्धम ॥
सभापर्व—अध्या० ६७, श्लो० ५२ से आगे

४८—सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूप कुल वृत्तेन रक्ष्यते ॥
उद्योगपर्व—अध्या० ३४, श्लो० ३६

और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले हैं, सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है।"[४९] सत्य श्रेष्ठपुरुषों का व्रत है। वेद का सार भी तो सत्य ही है। सत्य के विषय में धर्मव्याध ने मार्कण्डेय जी से इस प्रकार कहा कि जो शिष्ट पुरुष हैं, वे सदा धर्म के मार्ग पर ही चलते हैं और सत्य धर्म को ही अपना परम आश्रय मानते।'[५०] सत्य बोलने से आयु का बढ़ना आवश्यक है। सत्य बोलने वाले अर्जुन ने जब शपथ खाकर शस्त्र छूकर प्रतिज्ञा की कि मैं धर्मराज युधिष्ठिर को मारूँगा तब श्रीकृष्ण ने कहा कि किसी के जीवन की रक्षा के समय असत्य भी श्रेष्ठ होता है। इसलिए युधिष्ठिर की जीवन रक्षा के समय तुम्हारी शपथ आदि सब बातें असत्य न होकर पुण्यदायक होंगी। श्रीकृष्ण के समझाने पर अर्जुन मान गये और उन्होंने युधिष्ठिर से अपने वचनों के लिए क्षमा माँग ली। सत्य की महिमा बताते हुए शकुन्तला ने दुष्यन्त से कहा कि 'राजन्! सत्य परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है। आप अपनी सत्य प्रतिज्ञा को न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसङ्गी हो। सौ कुँए खोदवाने की अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम है। सौ बावड़ियों की अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रों की अपेक्षा भी सत्य का पालन श्रेष्ठ है।'[५१] सत्य के समान कोई धर्म नहीं है। सत्य से

४९—सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥३७
उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक ३७

५०—ये तु शिष्टाः सुनियता श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥६६
वनपर्व–अ० २०७ श्लोक ६६

५१—राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं सङ्गतमस्तु ते ॥१०६
वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥१०२
आदि पर्व–अ० ७४, श्लोक १०६, १०२

उत्तम कुछ भी नहीं है और मूठ से बढकर तीव्रतर पाप इस जगत् म दूसरा कोई नही ह । वशम्पायन न जनमजय से कहा कि गगानन्दन भीष्म न श्रीकृष्ण के कहन पर पाण्डवा तथा धृतराष्ट्र आदि सभी सुहृदा से कहा कि 'तुम्ह सदा सत्य धम के पालन का प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि सत्य ही सबसे बडा बल है।' ५२ सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए शकुन्तला न दुष्यन्त स कहा कि एक हजार अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्य भाषण का पुण्य दूसरी ओर यदि तराजू पर दानो को रक्खा जाय तो हजार अश्वमेध यज्ञो की अपेक्षा सत्य का पलडा ही भारी होता है।' ५३ सत्य अन्य सब पुण्यवान् कार्यों से तथा धार्मिक क्रिया स भी श्रेष्ठ बताया गया है। सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी न युधिष्ठिर स कहा कि सम्पूर्ण वेदों को धारण करना और समस्त तीर्थों म स्नान करना—इन सत्कर्मों का पुण्य भी सत्यवादी पुरुष क पुण्य क बराबर ही हो सकता है अर्थात् इनसे सत्य श्रेष्ठ है। ५४ सचमुच ही सत्य म बडा गुण तथा बडा बल है। जिस मनुष्य म सत्य है उसका प्रताप बहुत फल जाता है। सत्य के प्रताप स मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है और अन्त म पुण्य कर्मो क फल से स्वग को प्राप्त करता है। सब मनुष्यो को सदा सत्य बोलना चाहिए।

५—तपस्या का फल—

ससार ऐसा माया जाल है कि इसके मोह म फसकर मनुष्य कठिनाई

५२—सत्येषु यतितव्य व सत्य हि परम बलम् ॥४६
अनुशासन पव–अध्याय १६७, श्लोक ४६

५३—अश्वमेधसहस्र च सत्य च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥१०३
आदिपव–अ० ७४, श्लोक १०३

५४—धारण सववेदाना सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्य च ब्रुवतो नित्य सम वा स्यान्न वासमम् ॥२८
अनुशासन पर्व–अ० ७५ श्लोक २८

से ही तप कर पाता है। गृहस्थ पुरुष को स्त्री, पुत्र, धन आदि वस्तुओ म इतना मोह हो जाता है कि वह इन्ही के मोह के कारण कुछ भी धम नहा कर पाता है। यदि किसी मनुष्य के पास धन का वभव हो जाता हैं तो वह उसके अहकार से बहुत पीडित हो जाता है और ईश्वर तक को मानने म उसका अहकार क्षीण होता है। यदि कोई धन के अभाव के कारण बहुत दीन रहता है तो उसे दिन रात धन की ही चिन्ता लगी रहती है और वह चिन्ता के कारण भगवान का दिनरात याद करता है। इस ससार म भगवान् का चिन्तन या सुमिरन दुख म ही होता है, सुख म सब लोग भगवान् का भूल जाते हैं। ससारी जीवो को तो भगवान् का ध्यान तब आता है जब उनके स्नेह के आधारभूत स्त्री पुत्र आदिका नाश हो जाता है धन चला जाता है और रोग तथा चिन्ता से कष्ट उठाना पडता है तभी उन्हे वराग्य होता है और फिर केवल भगवान् के सहारे के उनके लिए ससार म कुछ नहा रहता। वराग्य से मनुष्य को आत्मतत्व की जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा से शास्त्रो के स्वाध्याय म मन लगता है तथा शास्त्रो के अथ और भाव के ज्ञान से वह तप को ही कल्याण का साधन समझता है। ससार मे ऐसा विवेकी मनुष्य दुलभ है जो स्त्री, पुत्र आदि प्रियजनो से मिलने वाले सुख के न रहने पर तप म प्रवृत्त होन का ही निश्चय करता है। तपस्या से मनुष्य को दूसरे जन्म म श्रेष्ठ घरो मे जन्म प्राप्त होता है। ससार म जो राजे महाराजे तथा अन्यान्य गृहस्थ महान् कुलो मे उत्पन्न देखे जाते हैं वह सब उनकी तपस्या का ही फल है। रेशमी वस्त्र सुन्दर आभूषण वाहन आसन और उत्तम खान पान आदि सब कुछ तपस्या का ही फल है। भीमसेन ने तपस्या का कामना से प्रेरित बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि किसी न किसी कामना से सयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्या म मन लगाते हैं। फल मूल और पत्ते चबाकर रहते है वायु पीकर मन और इन्द्रियो का सयम करते है। कामना से ही लोग वेद उपवेदा का स्वाध्याय करते तथा उसमे पारगत विद्वान् हो जाते हैं। कामना से ही यज्ञकम श्राद्धकम दान और प्रतिग्रह मे लोगो की प्रवृत्ति होतीहै।'[५५]

५५—कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिता ।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षा सुसयता ॥३०
वेदोपवेदेष्वपरे युक्ता स्वाध्यायपारगा ।
श्राद्धयज्ञक्रियाया च तथा दानप्रतिग्रहे ॥३१
शान्ति पर्व—अ० १६७, श्लोक ३०, ३१

कामना प्रत्येक मनुष्यो की अलग-अलग होती है। कोई ईश्वर प्राप्ति के लिए तप करता है, तो कोई धन वभव प्राप्त करने के लिए तपस्या करता है तो कोई इन्द्रपद प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या करता है। इस प्रकार तपस्याओ के करने के भिन्न भिन्न कारण होते है। पराशर जी ने कहा कि 'तपस्या मे सभी का अधिकार है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रह-सम्पन्न हीन वर्ण के लिए भी तप का विधान है क्योंकि तप पुरुष को स्वग की राह पर लाने वाला है।'[५६] पूर्वकाल मे शक्तिशाली प्रजापति न तप म स्थित होकर और कभी कभी ब्राह्मपरायण व्रत म स्थिर होकर ससार की रचना की थी। सम्पूर्ण स्वगवासी देवता आदि सबके सब तपस्या स ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। कुबेर ने धनाध्यक्ष का पद भी बडी भारी तपस्या करके प्राप्त किया था। जगत् का मूल कारण बताते हुए भीष्मजी न युधिष्ठिर से कहा कि राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है ऐसा विद्वान् पुरुष कहते है। जिस मूढ ने तपस्या नही की है उस अपने शुभ कर्मों का फल नही मिलता। भगवान् प्रजापति न तप से ही इस समस्त ससार की सृष्टि की है तथा ऋषियो न तप से ही वेदो का ज्ञान प्राप्त किया है।[५७] औषध आरोग्य आदि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तपस्या से ही सिद्ध होती हैं क्योंकि प्रत्येक साधन की जड तपस्या है। ससार म जो कुछ भी दुलभ वस्तु हो वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियो ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वय को प्राप्त किया है। तप ही मनुष्य के कल्याण का मुख्य साधन है। तप का मूल शम और दम है। जो मनुष्य तपस्यारूप धम से सयुक्त हो

५६—तप सर्वगत तात हीनस्यापि विधीयते।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वगमार्गप्रवर्तकम् ॥१४
शान्ति पर्व—अध्याय २९५, श्लोक १४

५७—सर्वमितद् तपोमूल कवय परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढ क्रियाफलमवाप्नुते ॥१
प्रजापतिरिद सर्व तपसवासृजत् प्रभु।
तथव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥२
शान्तिपव—अध्याय १६१, श्लोक १, २

पूणतया सयम का पालन करते हुए सत्य तप म ही तत्पर रहता है, उसकी सब कामनाय पूण हो जाती हैं। तप की महिमा बताते हुए व्यास जी न अपन पुत्र शुकदेव स कहा कि *तपस्या स मनुष्य उस ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लता है जिसम स्थित होकर वह सम्पूण जगत् की सृष्टि करता है अत ब्रह्मभाव को प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियो का प्रभु हो जाता है।* [५८] तप सब प्रकार से निर्दोष होता है। इसम भोगवासनारूप दोष नही रहता। इसलिए तप विशुद्ध कहा जाता है। इस लोक म जो तपस्या (सकामभाव स) की जाती है उसका फल परलोक म भोगा जाता है परन्तु जो ब्रह्मोपासक इस लोक म निष्कामभाव स गुरुतर तपस्या करते है व इसी लोक म तत्त्वज्ञान रूप फल प्राप्त करते हैं अर्थात् सासारिक बन्धनो स मुक्त हो जाते हैं। तपस्या के विषय म बताते हुए सनत्सुजातजी न धृतराष्ट्र स कहा कि 'तपस्या ही सारे जगत् का मूल है, वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तप से ही परम अमृत मोक्ष को प्राप्त होते है।'' [५९] कामनाओ के लिए जो तपस्या करते हैं उनकी इच्छाय यही पूण हो जाती हैं और जिनकी कोई कामनायें नही होती है केवल ईश्वरोपासना ही उनका लक्ष्य होता है तो उन लोगो की मोक्ष हो जाती है। तपस्या क्या है इस विषय मे व्यास जी ने अपने पुत्र से कहा कि वेद का सार है सत्य वचन, सत्य का सार है इद्रियो का सयम सयम का सार है दान और दान का सार है तपस्या। तपस्या का सार है त्याग।' [६०] अपन धम

५८—तपसा तदवाप्नोति तद् भूत्वा सृजते जगत्।
तद् भूतश्च तत स भूताना भवति प्रभु ॥१०
शान्तिपर्व—अध्याय २३, श्लोक १०

५९—तपसा वेदविद्वास पर त्वमृतमाप्नुयु ॥१३
उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक १३

६०—वेदस्योपनिषत् सत्य सत्यस्योपनिषद् दम।
दमस्योपनिषद् दान दानस्योपनिषत् तप ॥११
तपसोपनिषत् त्याग ॥ ११½
शान्तिपर्व—अध्याय २५१, श्लोक ११,११½

में तत्पर रहना ही तप है। शरीर को सुखा देना ही तपस्या नहीं है, इस विषय में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना—इन्हीं को धीरपुरुषों ने तप माना है। शरीर को सुखाना ही तप नहीं है।[६१] केवल शारीरिक तपस्या से कुछ नहीं होता है जब तक मनुष्य मन और वचन से भी सबके प्रति सद्भाव न रखे। इसलिए सब मनुष्यों को श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा तप का वर्धन प्राप्त करना चाहिए। सुन्द और उपसुन्द नामक दो महान् दैत्यराज तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से विन्ध्य पर्वत पर कठोर तपस्या करने लगे। व्यासजी ने कहा कि 'उन दैत्यों की तपस्या के प्रभाव से दीर्घकाल तक संतप्त होने के कारण विन्ध्य पर्वत धुआँ छोड़ने लगा, यह एक अद्भुत सी बात हुई। उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओं को बड़ा भय हुआ।[६२] शेषनाग की उग्र एवं तीव्र तपस्या से समस्त प्रजावर्ग संतप्त होने लगा तब ब्रह्माजी ने उनका दर्शन करके उनकी मनोकामना पूछी और उनको वर देकर प्रजा का संताप दूर किया" मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यश के लिए गुरुजनों की शरण ग्रहण करते हैं।'[६३] तपस्या की महिमा बताते हुए भीष्मजी ने कहा कि तपस्या से स्वर्ग मिलता है तपस्या से सुयश की प्राप्ति होती

६१—अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥१८
शान्तिपर्व अध्याय ७९, श्लोक १८

६२—तयोस्तप प्रभावेण दीर्घकाल प्रतापित।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१०
ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तप १०½
आदि पर्व अध्याय २०८, श्लोक १०, १०½

६३—तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम्।
गुरुनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भामिनि ॥
आदिपर्व—अध्याय १२३, श्लोक १२

है तथा तपस्या से बडी आयु, ऊँचा पद और उत्तमात्तम भाग प्राप्त हान है। तपस्या की महिमा का वणन करते हुए नारदजी ने युधिष्ठिर स कहा कि 'जो लोग कठोर तपस्या क द्वारा यहाँ अपन शरीर का त्याग करते हैं व भी उस इन्द्रसभा म जाकर तेजस्वी रूप धारण करके सदा प्रकाशित होत रहते हैं।'[६४] कठोर तपस्या म अनक फल तो प्राप्त हाते ही हैं, साथ ही साथ मनुष्य का मन और शरीर भी शुद्ध हो जात हैं। कठार तपस्या करक मनुष्य यश कीत प्राप्त करता है तथा देश क उद्धार क लिए बडे-बडे काम कर जाता है और आन वाली सन्तति को तपस्या का माग प्रदर्शित कर जाता है।

६—सत्त्वगुण की महिमा—

प्रकृति न तीन गुण माने गये हैं—सत्त्व रजस और तमस। इनम सत्त्वगुण सबसे श्रेष्ठ है। वह धम और तप का सहकारी है। सत् का अथ अच्छा भी है। सत्त्वगुण क उत्कष से मनुष्य म नतिक गुण और धार्मिक भाव उत्पन्न होत हैं। इसीलिए सत्त्वगुण को गीता म दवीसम्पत्ति कहा है। महाभारत म भी सत्त्वगुण को धम और तप म उपयोगी माना गया है। तीनो गुणो म सत्त्वगुण ही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। सत्त्व गुण वाला मनुष्य ही तपस्या का कर्त्ता बनता है। सत्त्वगुण से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है। सत्त्वगुण की प्रशसा करते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियो से कहा कि सत्त्वगुण इन्द्रियो की उत्पत्ति का कारण है उसे वकारिक हतु मानत है। वह इन्द्रियो और उनके विषयो को प्रकाशित करने वाला है। सत्त्वगुण से बढकर दूसरा कोई धम नही बताया गया है।[६५] सात्विक बर्ताव के लक्षण बताते हुए ब्रह्मा

६४—तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम ।
ते तत् स्थान समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यश ॥
सभापर्व—अध्याय १२, श्लोक २२

६५—सत्त्व वैकारिको योनिरिन्द्रियाणा प्रकाशिका ।
न हि सत्त्वात् परो धम कश्चिदन्यो विधीयते ॥६
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ३८ श्लोक ६

जी ने कहा कि "क्षमा, धय, अहिंसा, समता, सत्य सरलता, ज्ञान, त्याग तथा संयाम—य सात्विक वर्ताव बताय गये हैं।'[६६] मनीषी पुरुष इसी अनुमान स उस सत्वस्वरूप आत्मा का और परमात्मा का मनन करत है। सत्यगुण म सत्य और सत्त्वगुण सब अविकल रूप स विद्यमान रहत हैं। सच्चे त्यागी क लक्षण बताते हुए श्री कृष्ण ने अजु न से कहा कि जो मनुष्य अकुशल कम म भी द्वेष नहीं करता और कुशल कम म आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है।'[६७] शास्त्रविहित कम करना कर्तव्य है इस भाव स आसक्ति और फल का त्याग करके जो मनुष्य काय करता है वही सात्विक त्यागी माना जाता है। अच्छे गुणों क रहन से मनुष्य मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है। जीव संसार म अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है तथा अकेला ही पुण्य और पाप का फल भोगता है। शौच के लक्षण बताते हुए भगवान् ने युधिष्ठिर से कहा कि ब्रह्मचय, तपस्या क्षमा, मधु मास का त्याग धममर्यादा के भीतर रहना और मन को वश म रखना ये सब शौच के लक्षण हैं।[६८] जो मनुष्य तालाब बनवाता, वृक्ष लगाता, यज्ञों का अनुष्ठान करता तथा सत्य बोलता है ये सभी

६६—क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
ज्ञान त्यागोऽथ संन्यास सात्त्विक वृत्तमिष्यते॥७
आश्वमेधिक प —अध्याय ४८, श्लोक ७

६७—न द्वेष्ट्यकुशल कम कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशय॥१०
भीष्म पर्व—अध्याय ४२, श्लोक १०
गीता-अध्याय १८

६८—ब्रह्मचय तप क्षान्तिर्मधुमासस्य वजनम्।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शम शौचस्य लक्षणम्॥
आश्वमेधिक पव—अध्याय ९२

द्विज स्वगलोक म सम्मानित होते है। मनीषी पुरुष धम को समस्त प्राणिया का हृदय कहते है। अत समस्त प्राणिया का धम का ही आश्रय लेना चाहिए। पुण्य का फल बताते हुए ब्राह्मण ने काश्यपजी से कहा कि "जसे फल देने वाला वृक्ष फलने का समय आने पर बहुत से फल प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध हृदय से किए हुए पुण्य का फल अधिक होता है। [69] मनुष्य शुभ अथवा अशुभ जो जो कम करता है, पूवजम के शरीर से किय गये उन सब कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को विषयो का त्याग करना चाहिए, क्योंकि विषयो का त्याग ही वास्तविक त्याग अथवा तपस्या है। लोक म तप शब्द विख्यात है। उस तप का फल है—ज्ञानस्वरूप प्रकाश तथा निष्काम कम। तप दो प्रकार का होता है शारीरिक और मानसिक इनके लक्षण बताते हुए भीष्मजी ने कहा कि ब्रह्मचय और अहिंसा को शारीरिक तप कहते है। मन और वाणी का भलीभाति किया हुआ सयम मानसिक तप कहलाता है। [70]

७-दान का महत्त्व—

भारतीय धम म दान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दान देन से मनुष्य का मन शुद्ध होता है और उसको स्वग की प्राप्ति होती है। दान की महिमा बताते हुए राजा कुरु ने इन्द्र से कहा कि जो पुण्यात्मा मानव वहाँ (कुरुक्षेत्र म) दान देंगे, उनका वह दान शीघ्र ही सहस्रगुना हो जायेगा। [71] दान

६९—यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात्फल बहु।
तथा स्याद् विपुल पुण्य शुद्धेन मनसा कृतम ॥२
आश्वमेधिक पव-अध्याय १८, श्लोक २

७० - ब्रह्मचयमहिंसा च शरीर तप उच्यते।
वाङ्मनोनियम सम्यग् मानस तप उच्यते ॥१७
शान्ति पव-अध्याय २१७, श्लोक १७

७१—ये पुन पुण्यभाजो वै दान दास्यन्ति मानवा ॥१८
तेषां सहस्रगुणितं भविष्यत्यचिरेण च।
शल्यपव—अध्याय ५३, श्लोक १८

दो प्रकार के बताते हुए भृगु जी ने भरद्वाज से इस प्रकार कहा कि "दान दो प्रकार का बताया जाता है एक परलोक के लिए है और दूसरा इहलोक के लिए। सत्पुरुषों को जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोक में अपना फल देने के लिए उपस्थित होता है और असत्पुरुषों को जो दान दिया जाता है उसका फल यहीं भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है वैसा ही उसका फल भी भोगने में आता है।"[७२] जो मनुष्य आलस्य और प्रमाद का त्याग करके अहिंसा का पालन करते हुए दान आदि शुभकर्म करता है तो उसे इन पुण्य कर्मों के कारण स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।[७३] दान सर्वदा श्रेष्ठ लोगों अथवा गरीब ब्राह्मण को ही देना चाहिए। दान लेने वाला ब्राह्मण श्रोत्रिय हो निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो दरिद्रता के कारण जिसे स्त्री और पुत्रों के तिरस्कार सहने पड़ते हों तथा दाता ने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त होने की सम्भावना हो हो। ऐसे ही लोगों को गोदान करना चाहिए धनवानों को नहीं। धनवानों को दान देने से कोई लाभ नहीं है।[७४] इसी प्रकार

७२—दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद्दीयते किंचित् तत्परत्रोपतिष्ठते ॥३॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥४॥
शान्तिपर्व—अध्याय १८१, श्लोक ३ ४

७३—एवं वै मानुषाल्लोकाद् दानादिभिरतन्द्रितः।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥
वनपर्व—अध्याय १८१, श्लोक १०

७४—श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥
एवंविधेषु दातव्यं न समृद्धेषु भारत।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥
वनपर्व—अध्याय—२००, श्लोक २७–२८

य सोलह प्रकार के मनुष्य दान के योग्य नहीं हैं। दान द्वारा नहीं देना चाहिए—पिता और गुरुजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्राम-पुरोहित, वेदविक्रय करने वाले, शूद्र से यज्ञ कराने वाले, नाम मात्र ब्राह्मण, शूद्र के पति ब्राह्मण, सांप को पकड़ कर व्यवसाय करने वाले तथा सेवक और स्त्री-समूह को दिया हुआ दान व्यर्थ है।[७५] युधिष्ठिर जब वन में थे तब भीमसेन ने क्रोध में भर कर युधिष्ठिर से राज्य प्राप्त करने के लिए कहा। दान मनुष्य तभी दे सकता है जब उसके पास कुछ जीविका हो या राज्य हो। दान का महत्त्व बताते हुए भीम ने कहा कि मनीषी विद्वान् दानशीलता को ही धर्म कहते हैं, अतः आप उस दानशीलता को ही प्राप्त कीजिए। आपको इस दयनीय अवस्था में नहीं रहना चाहिए।'[७६] सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मण को दान दे जो दाता को तथा अपने को भी संसारसागर से उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण है। मार्कण्डेयजी ने युधिष्ठिर से कहा कि जो विद्वान् ब्राह्मण को भूमिदान करता है उस दाता के पास सभी मनोवाञ्छित भोग स्वतः आ जाते हैं। जो उत्तम गुणवान विशुद्ध ब्राह्मण को सुवर्ण दान करता है उसे निरन्तर सौ स्वर्ण मुद्राओं के दान का फल प्राप्त होता है। जो लोग कंधे पर जुआ उठाने में समर्थ बलवान् बैल ब्राह्मणों को दान करते हैं वे दुःख और संकटों से पार होकर स्वर्गलोक में जाते हैं। अतिथियों को भोजन कराने से अग्निदेव हविष्यअन्न से भी अधिक सन्तुष्ट होते

७५—गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके॥
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृषलीपतौ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च॥
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।
वनपर्व–अध्याय २००, श्लोक ७-८-८½

७६—उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि॥५३
वनपर्व–अध्याय ३३, श्लोक ५३

हैं।"⁷⁷ जो अपनी शक्ति के अनुसार अच्छे ढग से तयार किया हुआ भोजन ब्राह्मणो को अर्पित करता है वह उस पुण्यकम के प्रभाव से प्रजापति के लोक म जाता है। अन्न के दान का प्रभाव बताते हुए मार्कण्डेय जी ने युधिष्ठिर से कहा कि युधिष्ठिर! तुम सारे दानो को छोडकर केवल अन्नदान करते रहो। इस ससार म अन्नदान के समान विचित्र एव पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं है। अत अन्न ही सबसे महत्व की वस्तु है। उससे बढकर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वेदो म अन्न को प्रजापति कहा गया है। अन्न का दान करने वाला मनुष्य पहले स्वग म प्रवेश पाता है सत्यवादी उसके बाद स्वग म प्रवेश पाता है तथा बिना मागे दान करने वाला पुरुष उसके पीछे स्वग म प्रवेश पाते हैं। ये तीनो पुण्यात्मा मानव समान गति को प्राप्त होते हैं।⁷⁸ सरस्वती जी ने ब्रह्मर्षि ताक्ष्य से जो धम की बाते कही थी उनको मार्कण्डेयजी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि गोदान करने वाले मनुष्य उत्तम लोक म जाते हैं। छकडे ढोनेवाले बलवान् बलो का दान करने से दाताओ को सूयलोक की प्राप्ति होती है। वस्त्रदान से चन्द्रलोक और सुवर्णदान से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जो कासे की दोहनी वस्त्र उत्तर कालिक दक्षिणाद्रव्य के साथ कपिला गौ का दान करता है उसकी दी हुई वह गौ उन गुणो के साथ कामधेनु बनकर परलोक म दाता के पास पहुँच जाती है।⁷⁹ कन्या के दान का महत्व बताते हुए मार्कण्डेयजी ने कहा कि 'जो ब्राह्म विवाह की विधि से दान करने योग्य कन्या

७७-वसुन्धरा तु यो दद्याद् द्विजाय विदुरात्मने।
दातार ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिता॥
वनपर्व-अध्याय २००, श्लोक ३२½

७८—तस्मात् त्वसव दानानि हित्वान्न सम्प्रयच्छह।३५½
न हीदृशपुण्यफल विचित्रमिह विद्यते॥३५½
वनपर्व-अध्याय २००, श्लोक, ३५½, ३७½ ४२

७९—पर लोक गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति
दत्त्वानडवाह सूयलोक व्रजन्ति।
वासो दत्त्वा चान्द्रमस तु लोक
दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति॥८
वनपर्व—अध्याय १८६, श्लोक ८, ११

का (श्रेष्ठ वर को) दान करता है, और विधि पूर्वक न्याय्य वस्तुओ का दान सम्पन्न करता है वह इन्द्रलोक म जाता है।[८०]

पर्व के अवसर पर दिया हुआ दान दुगुना तथा ऋतु आरम्भ होने के समय दिया हुआ दान दस गुना पुण्यदायक होता है। संक्रांति पर तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के अवसर पर दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है। जिसने भूमिदान नही किया है वह परलोक म पृथ्वी का उपभोग नही कर सकता। जिसने सवारी का दान नही किया है, वह सवारी पर चढ कर नही जा सकता। इस जन्म म मनुष्य जिन जिन पदार्थों का ब्राह्मणो को दान करता है भावी जन्म म वह उन उन पदार्थों का उपभोग के लिए पाता है। सुवर्ण अग्नि की प्रथम सन्तान है। भूमि भगवान् विष्णु की पत्नी है तथा गौए भगवान् सूर्य की कन्याए हैं। इन तीनो के महत्व को बताते हुए मार्कण्डेयजी ने युधिष्ठिर से कहा कि जो कोई सुवर्ण गौ और पृथिवी का दान करता है उसके द्वारा तीनो लोको का दान सम्पन्न हो जाता है।[८१] मनुष्य को न्याय से कमाये हुए धन का दान करना चाहिए। विशुद्ध मन से उत्तम समय पर सत्पात्र को थोड़ा-सा भी दान दिया गया हो तो वह परलोक म अत्यन्त फल देने वाला माना गया है। अन्याय से प्राप्त किये हुए धन का दान निष्फल हो जाता है। दुख से कमाये हुए धन के विषय म व्यास जी ने युधिष्ठिर से कहा कि दुख सह कर कमाये हुए धन का परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। दान से बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर कार्य नही है। इसलिए मेरे मत म दान ही

८०—यो ब्राह्मणेभ्यो तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदान च करोति विप्रे।
ददाति दान विधिना च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरन्दरस्य ॥१५

वनपर्व—अध्याय १८६, श्लो० १५

८१—लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता
य काञ्चन गाश्च महीं च दद्यात् ॥१२८

वनपर्व—अध्याय २०० श्लो० १२८ १२४ १२५,१२७

मवश्रेष्ठ है।"[८२] ब्राह्मण को धम क लिए दान दिया जाता है। नट-नतको को यश के लिए दान (धन) देते हैं सेवका को उनके भरण पोषण क लिए दान (वतन) दिया जाता है और राजाओ का भय के कारण दान (कर) देत हैं। न मागने वाल को दान दना श्रेष्ठ बताते हुए भीष्म जी न युधिष्ठिर से कहा कि 'याचक को जो दान दिया जाता है वह दयारूप परमधम है परन्तु जो लोग कष्ट उठाकर भी याचना नहीं करत उन ब्राह्मणो को प्रत्येक उपाय से अपने पास बुलाकर दान दना चाहिए।[८३] याचना न करने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है। श्रेष्ठ पुरुष यदि दान स्वीकार करें तो राजा को उन्हें प्रतिदिन बडी श्रद्धा के साथ दान दना चाहिये क्योंकि श्रद्धापूवक दिया हुआ दान आत्मशुद्धि का सर्वोत्तम साधन है। पृथिवी अचल और अक्षय है इसलिए पृथिवी का दान श्रेष्ठ है। पृथिवी के दान की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि वस्त्र, रत्न पशु और धान जौ आदि नाना प्रकार के अन्न— इन सबको देन वाली पृथिवी ही है अत पृथिवी का दान करने वाला समस्त प्राणियो म सबस अधिक अभ्युदयशील होता है।[८४] पृथिवी का दान करने वाले पुरुष को तप, यज्ञ विद्या सुशीलता लोभ का अभाव सत्यवादिता गुरु शुश्रूषा और देवाराधन—इन सबका फल प्राप्त हो जाता है। जो देवताओ पितरो ऋषियो ब्राह्मणो और अतिथियो को अन्न देकर सतुष्ट करता है उसक पुण्य का फल महान् है। अन्नदान करनेवाले मनुष्य क बल ओज यश

८२—तस्माद् दु खार्जितस्यव परित्याग सुदुष्कर ।
न दुष्करतर दानात् तस्माद् दान मत मम ॥३१
वनपव अध्याय २५६, श्लो० ३१

८३—आनृशस्य परो धर्मो याचते यत् प्रदीयते ।
अयाचत सीदमानान् सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् । ६
अनुशासनपर्व—अध्याय ६० श्लो० ६

८४—दोग्ध्री वासासि रत्नानि पशून् व्रीहियवास्तथा ।
भूमिद सवभूतेषु शाश्वतीरेधते समा ॥३
अनुशासनपर्व—अध्याय ६२ श्लो० ३

और कीर्ति का तीनों लोको म सदा ही विस्तार होता रहता है। अन्न और जल का दान सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्य का जीवन इन्हीं से धारण होता है। सहस्र गौ के दान का महत्त्व बताते हुए वसिष्ठ जी ने कहा कि "सहस्र गौओं का दान करने वाले मनुष्य जहाँ सोने के महल हैं, जहाँ स्वर्गगंगा बहती है तथा जहाँ गन्धर्व और अप्सरायें निवास करती हैं उस स्वर्गलोक म जाते है।"[८५] दीपक के दान की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि दीप दान करने वाले मनुष्य निश्चय ही पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्तिमान् होते हैं।'[८६] धर्ममूलक दान वह है जिसमें मनुष्य ईर्ष्या रहित होकर ब्राह्मणों को दान देता है। अपनी कीर्ति को सुनने की इच्छा वाला मनुष्य यदि याचक को दान देता है तो वह अर्थमूलक दान होता है। जो दान यह सोच कर दिया जाता है कि यदि इस याचक को मैं दान नहीं दूँगा तो यह मेरा अनिष्ट कर देगा इस भय से विद्वान् मनुष्य मूर्ख को भी दान दे देते है तो वह भय मूलक दान कहलाता है। अपने प्रिय मित्र की भलाई सोच कर जो मित्र को दान देता है वह कामनामूलक दान है। अधिक गरीब को देखकर दयावश जो दान देता है वह दयावश दान कहलाता है। यह धर्म, अर्थ, भय कामना और दया ये पाँच प्रकार का दान पुण्य और कीर्ति बढ़ाने वाला है। मनुष्य को दान म अपने घर की प्रिय से प्रिय वस्तु भी दे देनी चाहिए। श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा म अपने पुत्र और अपने शरीर को भी अर्पण कर देना चाहिए। तीन पदों की श्रेष्ठता बताते हुए व्याध ने मार्कण्डेय जी से कहा कि 'श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते है—किसी से द्रोह न करे दान करे और सदा सत्य बोले यह श्रेष्ठ पुरुषों का सर्वोत्तम व्रत है।'[८७] तीनों लोकों म दान से बढ़ कर

८५—प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा ।
गन्धर्वाप्सरसो यत्रतत्र यान्ति सहस्रदा ॥५
अनुशासनपर्व—अध्याय ८०, श्लो० ५

८६—पूर्णचन्द्रप्रतीकाशा दीपदाश्च भवन्त्युत ॥४०
अनुशासनपर्व—अध्याय १०० श्लो० ४०

८७—त्रीण्येव तु पदान्याहु सतां व्रतमनुत्तमम् ।
न द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ॥
वनपर्व—अध्याय २०७ श्लो० ६३½

शाश्वत पुण्यदायक कम दूसरा नही है। इसलिए उत्तम बुद्धिवाले पुरुष ससार दान को ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकम बताते हैं।

७ – गुरुजनो की सेवा तथा पूजा करना धर्म है–

भारतीय सस्कृति म गुरजना की सेवा तथा पूजा करना धम माना जाता है। प्रत्येक बालक बचपन से ही अपन माता पिता तथा गुरु का आदर करता है। पाठशाला पढ़न के लिए जाता है तो प्रथम जाकर गुरु को प्रणाम करता है तथा उनके चरणो को छूता है। पूजने योग्यो के विषय म बताते हुए भीष्म जी न युधिष्ठिर म कहा कि "आचाय, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक प्रियमित्र तथा राजा इन छहो को अघ्य देकर पूजन योग्य बताया गया है। य (छहो) यदि एक वष बिताकर अपन यहा आवें तो इनके लिए अघ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिए। ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषो का कथन है।"[८८] सहदेव ने आचाय, पिता गुरु, पूजनीय तथा अघ्य निवेदन के सवथा योग्य भगवान् श्री कृष्ण की पूजा की।

सभा म आये हुए ब्राह्मणो और क्षत्रियो म विशिष्ट व्यक्तियो को पहचान कर सहदेव ने क्रमश पूज्य व्यक्तियो की पूजा करके अघ्यनिवेदन का काय किया। भारतीय सस्कृति म ऐसी धारणा है कि पूज्य लोगो को सब कुछ भेंट कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण न चण्डकौशिक मुनि के आगमन की बात मगध देश के राजा के यहा की पूजा आदि के विषय म कहा कि पाद्य अघ्य और आचमनीय आदि के द्वारा राजा न महर्षि का पूजन किया और अपने सारे राज्य के सहित पुत्र को उन्ह सौंप दिया।'[८९] देवताओ की पूजा के विषय

८८—आचायमृत्विज चव सयुज च युधिष्ठिर ।
स्नातक च प्रिय प्राहु षडर्घ्यार्हान् नृप तथा ॥२३
एतानर्घ्यानभिगतानाहु सवत्सरोषितान् ।
सभापर्व—अध्याय ३६, श्लो० २३, २३½

८९—पाद्यार्घ्याचमनीय स्तमचयामास भ रत ।
स नृपो राज्यसहित पुत्र तस्मै न्यवेदयत् ॥३
सभापर्व—अध्याय १६, श्लो० ३

से सम्मानित । जनमेजय ने कहा कि 'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अनेक प्रकार के याज तथा भाँति भाँति के लिए सुगन्धित पुष्पों द्वारा उस सभा में देवताओं का स्थापना कर पूजा की ।'[९०] सम्मानित । जनमेजय ने श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन इस प्रकार किया कि 'उन यदुश्रेष्ठ ने प्रमुख गुरु माला ... नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों द्वारा देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा की ।'[९१]

धर्मव्याध द्वारा अपने माता पिता की सेवा में ... एक पतिव्रता के कहने से जब कौशिक ब्राह्मण धर्मव्याध के पास धर्म का उपदेश सुनने गये तब धर्मव्याध ने उनसे कहा कि संसार में माता पिता का सेवा ... बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है । उसने कहा कि ब्राह्मण ! माता पिता ... गया हूँ मेरी तपस्या है । इस तपस्या का प्रभाव देखिये । मुझे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई । जिसके कारण उस पतिव्रता ने आप को मिथिलापुरी भेजा । ... धर्मव्याध ने अपनी दिव्यदृष्टि से जान लिया था कि इन कौशिक जी ने अपने माता पिता की उपेक्षा की है । तब उसने कहा कि आपने अपने माता पिता की आज्ञा लिये बिना ही घर छोड़ दिया और वेदाध्ययन के लिए आ गये । आपके शोक से वे दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता पिता अन्धे हो गये हैं । इस लिए माता पिता को सन्तुष्ट किये बिना आपका यह सारा धर्म और वेदाध्ययन

९०—सावित्र्यैर्विविधैर्दिव्य गन्धवच्चावचरपि ।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ॥६
सभापर्व—अध्याय ४, श्लो० ६

९१—अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गव ।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥११
सभापर्व—अध्याय २, श्लो० ११

९२—प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि सम्पश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तो सि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ॥२
वनपर्व—अध्याय २१५, श्लो० २

हो गया है। इसलिए शीघ्र जाकर अपने माता पिता की सेवा कीजिए, इसी में आपका कल्याण है। व्याध ने कौशिक जी से कहा कि द्विजश्रेष्ठ! आप माता पिता के पास जाकर आलस्यरहित हो शीघ्र ही उनकी सेवा में लग जाइये। मैं इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं देखता।" [३] धर्मव्याध ने कहा कि 'ब्रह्मन्! ये माता पिता ही मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। मैं सदा फूल फल तथा रत्नों से इन्हीं को सन्तुष्ट करता हूं।'[९४] व्याध ने कहा कि जिन्हें विद्वान् लोग अग्नि' कहते हैं, वे मेरे लिए ये ही हैं। चारों वेद और यज्ञ सब कुछ मेरे लिए ये माता पिता ही हैं। जो पुरुष माता पिता की सेवा में संलग्न रहता है और उनको सन्तुष्ट करता है, वह सदा प्रसन्न एवं उन्नति प्राप्त करता है। सेवा का महत्व बताते हुए विदुरजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "जो नित्य गुरुजनों को प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषों की सेवा में लगा रहता है, उसकी कीर्ति आयु यश और बल —ये चारों बढ़ते हैं।' [९] उन्नति चाहने वाले पुरुषों के पाँच गुरु बताते हुए धर्मव्याध ने कौशिक जी से कहा कि 'ब्राह्मणश्रेष्ठ! उन्नति चाहनेवाले पुरुष के पांच ही गुरु हैं—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा

९३—मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम्॥
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कञ्चन॥१३

वनपर्व—अध्याय २१४ श्लो० १३

९४—एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम्।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज॥२१

वनपर्व—अध्याय २१४, श्लो० २१

९५—अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम्॥७४

उद्योगपर्व—अध्याय ३९, श्लो० ७४

गुरु। ५६ जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उसे गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले के द्वारा सब लोक अग्नियों की सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यह सबका सनातन धर्म है। गुरु की सेवा से अनेक शिष्य विद्वान् बन गये। गुरु के सन्तोष से ये सामान्य शिष्य भी श्रेष्ठ तथा महत्ता प्राप्त की थी। गुरु की सेवा तथा आज्ञा से उपमन्यु को दुबारा नई आँखें प्राप्त हुईं। इस प्रकार बड़ों की सेवा करने से मनुष्य का मन तो प्रसन्न होता ही है साथ साथ उसे अनेक लाभ होते हैं जो प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देते। जो मनुष्य माता पिता को सन्तुष्ट करता है उसको शान्ति इस लोक में तो मिलती ही है उसका फल उसे परलोक में भी प्राप्त होता है। इसलिए सबको बड़ों की सेवा करनी चाहिए तथा उनका आदर सम्मान भी पूर्ण रूप से करना चाहिए।

५६—पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥२७

वनपर्व—अध्याय २१४ श्लो० २७

अध्याय—७

महाभारत मे वर्ण-धर्म

१—वर्णों की व्यवस्था—

पिछले अध्यायो म यह विस्तार पूवक स्पष्ट किया जा चुका है कि महाभारत और धम शास्त्रो म धम का अथ ईश्वर के किसी विशेष रूप की उपासना की विशेष प्रणाली नही है। महाभारत और धमशास्त्रो का धम मानव धम है। मनुष्य क क्तव्य और आचार के रूप म उसकी व्याख्या की गई है। सामाजिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियो म मनुष्य के कतव्य के रूप म जो उचित है वही उसका 'धम है। धम की इस व्यावहारिक व्यवस्था के लिए धम शास्त्रो मे मनुष्य समाज का विभाजन चार भागो म किया गया है। उन्हे चार वण कहते हैं। मानवीय जीवन और समाज के लिए चार मुख्य क्तव्य है—विद्या, रक्षा व्यापार और सेवा, इन्ही क आधार पर चार वर्णों म समाज का विभाजन किया गया है। चार वर्णों के उक्त मुख्य क्तव्यो का पूण और पुष्ट बनाने के लिए इनके सहकारी कतव्यो अथवा धर्मों की व्यापक व्यवस्था धम शास्त्रो म की गई है। इस सम्बध मे महाभारत की मान्यतायें धम शास्त्रो के बहुत कुछ समान है। महाभारत मे भी धम शास्त्रो के समान चार वर्णों को मानकर उनके कतव्य धर्मों का वणन किया गया है।

वण-व्यवस्था हिदू धम शास्त्र और हिदू समाज की एक ऐसी विशेषता है जिसका उदाहरण अय किसी देश म नही मिलता। अय देशो म भी कुछ विभाजन समाज म मिलत हैं। किन्तु उन विभाजनो का ऐसा धार्मिक अथवा सास्कृतिक महत्व नही है जसा कि हिदू समाज की परम्परा मे रहा है।

भारतवप म युद्ध विगप परिस्थितिया और विगप कारणा म वण विभाजन *एव अत्यन्त सूक्ष्म जटिल और कठोर व्यवस्था क रूप म स्थापित होगया।* आधुनिक काल म अधिकाश विचारक वण-व्यवस्था को भारतीय समाज का दोष मानते हैं। किन्तु धम और सस्कृति की रक्षा म वण-व्यवस्था न इतिहास क कठिन युगा म हिन्दू समाज का उपकार भी किया है। प्राय वण-व्यवस्था को सामाजिक विषमता की दृष्टि स ही देखा जाता है। किसी सीमा तक यह सत्य भी है कि वण-व्यवस्था क कारण हिन्दू-समाज म सामाजिक विषमता उत्पन्न हुई। किन्तु दूसरी ओर भारतवप म वण-व्यवस्था की स्थापना क धार्मिक और सास्कृतिक कारणों का विचार करना तथा धम एव सस्कृति की रक्षा म वण-व्यवस्था के योग का मूल्याकन भी अपक्षित है।[1]

वण विभाजन की जो व्यवस्था भारतीय परम्परा म मिलती है, उसम समाज को चार वर्णों म विभाजित किया गया है। वण चार ही हैं। जातियों की सख्या बहुत अधिक है। अत वण का अथ जाति लगाना उचित नही है। ज म से वण मानने के कारण वण और जाति एक दूसरे के पर्याय बन गय। किन्तु धम शास्त्रो म प्राय 'वण शब्द का ही प्रयोग किया गया है। य वण चार हैं—ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और शूद्र। भारतीय धम शास्त्र जीवन की एक रूपता म विश्वास नही करता। जीवन के अनेक लक्ष्य रूप और कम है। यह अनेकता स्वाभाविक है। साथ ही यह जीवन म सौन्दय का विधान करती है। इस अनेकता के अनुरूप धम शास्त्रो म जीवन के पुरुषार्थों आयु के आश्रमा और समाज क वर्णों का चतुर्विध विभाजन किया गया है। पुरुषार्थों का विभाजन जीवन के लक्ष्यो की दृष्टि से है। जीवन के प्रमुख लक्ष्य चार वर्णों मे समाहित है। आश्रमा का विभाजन जीवन की सफलता और पूर्णता की दृष्टि से है। वर्णों का विभाजन सामाजिक कर्मों की अनेकरूपता की दृष्टि से है। किन्तु कुछ लोगो का विचार है कि यह समाज म विषमता का कारण बना। यह किसी अश म सत्य है। किन्तु वण विभाजन का अभिप्राय समाज म श्रम विभाजन की भाति कम विभाजन था। प्राचीन काल मे वण-व्यवस्था

१—डा० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी—भाग १, पृष्ठ ११२, ११३

का आधार कर्म ही था। गीता में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।[२] गीता ने जन्म का आधार न मान कर वर्ण-व्यवस्था को पुनः कर्म का आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया है। प्राचीन वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था इतनी कठोर न थी।[३] कोई भी अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार किसी वर्ण को ग्रहण कर सकता था। वर्ण जन्म पर आश्रित न था। वेद में एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख है जो यह कहता है कि मैं एक कवि हूं मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता अन्न कूटती है।[४] सम्भवतः धर्म शास्त्रों और स्मृतियों के काल में वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म बन गया। इसका कारण मुख्यतः कुल परम्परा है। कुल परम्परा में व्यवसाय सुगम बन जाते हैं। सामाजिक विषमता इसका एक प्रतिकूल परिणाम था। किन्तु मूलतः इस व्यवस्था का आधार कर्म विभाजन था। धार्मिक और सांस्कृतिक कर्मों की विपुलता वैदिक समाज की एक विशेषता थी। अतः उस समाज में वर्ण विभाजन और भी अधिक आवश्यक हो गया। विद्या, रक्षा, व्यापार और सेवा के चार मुख्य कर्म मान कर चार वर्ण मान गये। ब्राह्मण का प्रधान कार्य विद्या पढ़ना और पढ़ाना था, क्षत्रिय का काम रक्षा करना, वैश्य का काम व्यापार करना तथा कृषि करना था और शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा करना था। हर एक के जीवन में ये चारों बातें विद्यमान थीं परन्तु उस वर्ण के मानव में उस वर्ण के कार्यों का प्राधान्य रहता था तथा अन्य धर्म व कार्य गौण रूप में रहते थे। ब्राह्मण के जीवन में विद्या का, क्षत्रिय के जीवन में रक्षा एवं वीरता का, वैश्य के जीवन में व्यापार व समाज के पालन का तथा शूद्र के जीवन में तीनों वर्णों की सेवा का काम प्रमुख था। सारी वस्तुओं एवं गुणों को जीवन में समानता नहीं मिल सकती। प्रत्येक मनुष्य का कर्म स्वाभाविक होता है। अपनी प्रकृति के अनुकूल जो भी कार्य हो वह कार्य करना ही मानव का धर्म होना चाहिए। इसी गुण की प्रधानता के आधार पर वर्ण-व्यवस्था धर्म शास्त्रों में स्थिर हुई।

२—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
गीता—अध्याय—४, श्लोक १३

३—डा० राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी—भाग-१, पृष्ठ १११
४— " " पृष्ठ ११२

वर्ण-व्यवस्था के आरम्भिक संकेत वेदों के पुरुष सूक्त में मिलते हैं।[5] पुरुष सूक्त में समाज को एक विराट पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। समाज के चारों वर्ण उस पुरुष के अंगों से उत्पन्न हुए हैं। आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की, बाहु से क्षत्रियों की, जंघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति होना कहा है।[6] जिस प्रकार से एक मनुष्य के शरीर का निर्माण और संगठन इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्णों के संगठन से हुआ है। ये अलग अलग रहकर कुछ भी काम नहीं कर सकते। मानव शरीर में मुख को प्रधान माना है उसी प्रकार मानव समाज में ज्ञान की प्रधानता होने के कारण ज्ञान के प्रतिनिधि ब्राह्मणों को प्रमुख माना गया है। मस्तिष्क, नेत्रों में ज्ञान चक्षु हैं जिनमें बुद्धि का निवास है। बुद्धि द्वारा ही मानव नाना प्रकारों में भी कल्याण साधक है। ब्राह्मण के जीवन में ज्ञान की ही प्रधानता है। उसके जीवन का ही उद्देश्य है। ज्ञान से जो ज्ञान का लाभ लेता है वही ब्राह्मण है। बाहुओं से हमारे शरीर की रक्षा होती है उसी प्रकार क्षत्रिय हमारे समाज की रक्षा करते हैं। जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। इस व्यवस्था में शूद्र को कितना महत्व दिया गया है। यदि सब लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जायें तो समाज का सारा काम बन्द हो जायगा। समाज शूद्रों के बिना अपनी स्वाभाविक गति से नहीं चल सकता। पुरुष से चार वर्णों की उत्पत्ति का यही महत्व है कि एक पुरुष के अलग अलग अंग होते हुए भी वह एक समष्टि रूप में ही जीवित रह सकता है। उसी प्रकार समाज भी उसी समय तक अपना अस्तित्व रख सकता है जब तक उसके ये चारों अंग आपस में सामूहिक रूप से संगठित हों अन्यथा शरीर की भांति ही समाज का भी अस्तित्व मिट जाता है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध में ही समाज का कल्याण है। आदिपुरुष से आविर्भूत वर्ण व्यवस्था का यही मूल मन्तव्य है।

५—ऋग्वेद १०, ९०

६—ऋग्वेद १०, ९०, १२

महाभारत और मनुस्मृति में ज्ञान का सम्पादन सबका कर्तव्य माना है। परन्तु विशेषतः अध्ययन और अध्यापन यज्ञ करना और करवाना, दान देना और दिलाना तथा लेना इत्यादि ब्राह्मणों के कर्तव्य हैं।[७] क्षत्रिय का कार्य प्रजा की रक्षा करना, अध्ययन करना दान देना विषय भोग में वीतराग होना इत्यादि है।[८] वैश्यों के लिए पशुपालन कृषि दान देना, यज्ञ करवाना अध्ययन करना वाणिज्य तथा समाज का उदर पोषण इत्यादि कार्यों का विधान किया गया है।[९] शूद्रों के लिए इन तीन वर्णों की निःस्वार्थ तथा स्वाभाव से विहीन होकर सेवा करना है।[१०] इन चारों वर्णों में यह निर्णय

७—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथञ्चन।
शांतिपर्व—अध्याय २३४, श्लोक ११

८—अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत, दद्याद् दानं न तु याचेत् किंचित्।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत, एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः॥
तथा राजन्यो रक्षणं च प्रजानां, कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथदत्वा
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद्‌गृहान्।
स धर्मात्मा धर्ममधीत्यपुण्यं यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम्॥
उद्योग पर्व—अध्याय २९, श्लोक २४

९—वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ५४ ५५

१०—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते॥
शान्तिपर्व अध्याय-६० श्लोक २८

सस्कार नही हान। इसलिये वे द्विज नही वनने। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन के उपनयन आदि सस्कार होते हैं। अत व 'द्विज' कहलात है। ये तीन द्विज वण उच्च और श्रेष्ठ माने जाते है। इनमे भी ब्राह्मण सवश्रेष्ठ मान जाते हैं। किन्तु य तीना ही द्विज वण शूद्रा स उच्च हैं। सामाजिक व्यवहार म य तीना ही शूद्रो के साथ थोडा वहुत अन्याय करते रहे हैं। शूद्रों का कम सेवा' बताया गया है, किन्तु अपना इच्छा से कोई सेवा' का पमन्द नही करता। किसी न किसी सामाजिक और आर्थिक दवाव से शूद्र सेवा आदि क निम्न कम करने क लिय विवश हुये हैं। अन्य वर्णों के कर्मों मे इतनी विवशता नही है। उनम कुछ उत्तरदायित्व हैं तो कुछ कुछ सुविधायें तथा कुछ लाभ भी हैं। क्षत्रिया का शासन का तया वश्या को सम्पत्ति का गौरव मिला। ब्राह्मणा को भी सम्मान का लाभ मिला यद्यपि सम्पत्ति और अधिकार की दृष्टि से वे त्यागा रह।

फिर भी प्राय वर्णो के सम्बन्ध म यही माना जाता है कि य कम विभाजन क आधार पर बने। द्विजा क सम्बन्ध म तो यह अधिक सत्य है। वे कम क आधार पर ही तीन वर्णों म विभाजित हुय हैं। एक आर धमशास्त्र यह कहते हैं कि सस्कार से ब्राह्मण द्विज बनत हैं।[११] दूसरी आर यह भा कहा गया है कि पहल सभी ब्राह्मण थे। फिर कम भेद स चार वण बन गये।

इस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति कसे हुई इस विषय म भारद्वाज ऋषि न भृगु से पूछा ता उन्होने कहा कि 'मुन ! पहले वर्णों म कोई अन्तर नही था, ब्रह्माजी स उत्पन्न होन क कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पाद विभिन्न कर्मों के कारण उनम वणभेद हो गया।"[१२] 'जा मनुष्य जसन ब्राह्म

११—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय सस्काराद्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्व श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥

काणे धर्मशास्त्र—भाग १, पृष्ठ १८६, अत्रि—१४१ १४२

१२—न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम्॥

शान्तिपर्व—अध्याय १८८ श्लो० १०

णोचित धर्म का परित्याग करके विषय भोग के प्रेमी, क्रोधी, तीक्ष्ण स्वभाव वाले और साहस का काम पसन्द करने वाले हो गये, वे ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को प्राप्त हो गये। जिन्होंने गौओं से तथा कृषिकर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली तथा जो ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्य भाव को प्राप्त हुए। इसी प्रकार जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे, वे ब्राह्मण शूद्रभाव को प्राप्त हुए।'[13] पवित्रता और सत्यता तथा ज्ञान के कारण तीनों द्विज श्रेष्ठ कहलाने लगे और असत्यता और अज्ञान के कारण शूद्र निम्नकोटि में आ गये और इन तीनों द्विजों की सेवा का कार्य ही उनका प्रधान कार्य रह गया। उनकी अपवित्रता के कारण ही वे वेद पढ़ने से वंचित रखे गये तथा असत्यता और निन्दनीय कार्य करने के कारण ही शूद्रों को हीन समझा जाने लगा।

वैदिक काल में जब जन्म से जाति नहीं बनी थी तब तो कोई भी शूद्र का लड़का अपने ज्ञान और सत्यता के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता था और पहले कई क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों के समान तपस्या का जीवन बिताकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए।

जैसे राजा विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए ज्ञान और तपस्या के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गये थे। किन्तु स्मृतिकाल में जब जन्म से जाति बन गई तब शूद्रों का जीवन शूद्रता में ही बँध गया और वे श्रेष्ठ कार्य करके भी अपनी जाति को नहीं बदल सके। जो मनुष्य जिस जाति में उत्पन्न होता था वह फिर उसी जाति का बना रहने लगा चाहे वह श्रेष्ठ कार्य करे या अपवित्र

१३—कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा क्रोधना प्रियसाहसा।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजा क्षत्रता गता॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीता कृष्युपजीविन।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यता गता॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धा सर्वकर्मोपजीविन।
कृष्णा शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा शूद्रता गता॥

शान्तिपर्व—अध्याय १८८, श्लो० ११ १२ १३

निन्दनीय कार्य करें ऊँचे वर्ण अपने निन्दनीय कार्य से शूद्र न हो सकें और श्रेष्ठ कार्यों से शूद्र ऊँचे न बन सकें। जन्म से जाति बनने से लोगों को अपनी उन्नति का ध्यान न रहा। पहले क्षत्रिय वैश्य भी अपने तप, त्याग और ज्ञान से ब्राह्मणत्व को प्राप्त करना चाहते थे, और शूद्रों में भी कई ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने घोर तपस्यायें करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त करने के प्रयत्न किये थे।

वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आश्रित नहीं थी वरन् मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर थी। कोई भी मनुष्य अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुन सकता था और उस व्यवसाय के लक्षणों अर्थात् चिन्हों से पहचाना जाता था। वर्ण' का अर्थ भारतीयों के लिए चिन्ह से था 'रंग' से नहीं था।

'वर्ण' का अर्थ 'रंग' अवश्य है। किन्तु श्वेत को रंग नहीं मानते। काले आदि ही रंग माने जाते हैं। इसीलिये पश्चिमी देशों में काले लोगों को रंग-वाले (कलर्ड) कहा जाता है। भारतीय परम्परा में उच्च जाति के लोगों को सवर्ण कहते हैं। वे प्रायः गौरवर्ण के होते हैं। अतः सवर्ण का अर्थ रंग-वाले' या 'काले रंग' के नहीं हो सकता। वर्ण का अर्थ चिन्ह ही करना उचित है। प्रत्येक वर्ण के कुछ चिन्ह अथवा लक्षण होते थे, जिनसे वह वर्ण पहचाना जाता था। रंग भेद के आधार पर वर्ण व्यवस्था बनी है, यह मत समीचीन नहीं है। रंग भेद के आधार पर शूद्रों को निम्न वर्ण में डाल दिया गया हो यह तो सम्भव हो सकता है।

वर्ण-व्यवस्था में जो उच्चस्थान द्विजों को दिया गया है उसका कारण उनके श्रेष्ठ कर्म ही थे तथा शूद्रों को जो हीन पद दिया गया है उसका कारण वर्ण-व्यवस्था की योजना नहीं है वरन् उसका कारण कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जो अन्य देशों में भी अन्य रूपों में पाई जाती हैं। समाज के कुछ वर्गों का निर्यातन और शोषण भारतवर्ष की ही विशेषता नहीं है। अन्य रूपों में वह सभी देशों के समाजों में मिलता है इसी कारण संसार के अनेक देशों में साम्यवादी और समाजवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है।

भारतीय समाज में वैदिक काल से ही आचार की स्वच्छता और पवित्रता का अत्यन्त महत्त्व रहा है। यह स्वच्छता और पवित्रता धर्म एवं संस्कृति का अंग है। निम्न और मलिन कर्म करने के कारण शूद्रों के लिए इतनी स्वच्छता और पवित्रता रखना सम्भव नहीं था। सम्पन्न तथा

मलिन कार्यों से मुक्त रहने क कारण उच्च द्विज वण के लोग अधिक स्वच्छ और पवित्र रह सकते थ । अत वे शूद्रों को अलग रखत थ । सवा कम और मलिनता क कारण शूद्र निम्न वण म रह गय । उन्ह वेदाध्ययन से भी वचित कर दिया गया । सामाजिक परिस्थितियों क प्रभाव के कारण वे सदा हीन बने रहे । उच्च अपनी श्रेष्ठता का गव करते रहे । कोई विशी दुर्भावना अथवा द्वेष के कारण द्विजो ने शूद्रो के साथ अन्याय नही किया । अब तक शूद्रों क प्रति द्विजातियों के भाव म बहुत कुछ मानवीयता रही थी । फिर भी इतना अवश्य है कि अपनी सुविधा और श्रेष्ठता के कारण वे समाज क इस वग की हीनता को सहन करते रहे ।

भारतीय समाज म वण व्यवस्था क विकास के कुछ विशेष कारण हैं । इन कारणों को सास्कृतिक कहना अधिक उचित होगा । सस्कृति म धम दशन कला साहित्य आदि सभी सम्मिलित हैं । किन्तु सामान्यरूप से प्राकृतिक आकाक्षाओ से भिन्न मनुष्य जीवन की साधना की जो दिशायें हैं उन्ह हम सास्कृतिक कह सकते हैं । प्राकृतिक सुख स्वाथ अधिकार आदि से भिन्न जीवन की साधना की दिशायें ही सास्कृतिक कहलाने की अधिकारी है । भारतीय जीवन की प्रमुख विशेषता यही है कि उसका दृष्टिकोण ससार के सभी देशो की अपेक्षा अधिक सास्कृतिक रहा है । ससार के प्राचीन देशो मे कला साहित्य आदि के उदाहरण अवश्य मिलते हैं । किन्तु किसी भी देश मे न इतने विपुल परिमाण म प्राचीन साहित्य मिलता है और न साधारण जीवन का स्वरूप इतना अधिक सास्कृतिक है । भारतवष को छोडकर सभी प्राचीन देश राज्य के विस्तार म लग रहे जो जीवन की एक प्राकृतिक दिशा है । प्राचीन भारत मे जिस प्रकार वेदो और पुराणो के रूप म एक विपुल लोक साहित्य मिलता है वसा ससार के किसी प्राचीन समाज म नहीं मिलता । इसके अतिरिक्त लौकिक जीवन क साधारण क्रम म सस्कृति का जितना विपुल सौदय समाहित है वसा भी किसी देश म नहीं मिलता । वण व्यवस्था की योजना भारतवष के इसी विशेष सास्कृतिक दृष्टिकोण का फल है ।

३—ब्राह्मणो का प्रभुत्व —

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण कोई जातीय द्वेष या मानवीय अन्याय नही है जसा कि प्राय कुछ लोग समझते हैं, वरन् उसका कारण प्राचीन भारतीय समाज म विद्या और साधना का व्यापक महत्व और प्रचार है । इस

वर्ण विभाजन के कारण श्रेष्ठ बन कर ब्राह्मणों ने कोई लौकिक लाभ नहीं उठाया, वरन् तप और त्याग का जीवन स्वीकार करके संस्कृति, विद्या और साधना की उस परम्परा का युगों तक पोषण किया जिसका संरक्षण आज हमारी सरकार और हमारा समाज अपनी सम्पूर्ण शक्ति और अपने सम्पूर्ण साधनों के द्वारा करने में असमर्थ है। इस असमर्थता का कारण केवल एक है लौकिक लाभ का दृष्टिकोण अपना लेने पर कोई भी समाज अपनी संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता। तप और त्याग के दृष्टिकोण से ही संस्कृति का विकास और संरक्षण सम्भव है। ब्राह्मणों के प्रभुत्व का कारण प्राचीन भारतीय समाज में संस्कृति का महत्त्व ही था। प्राचीन संस्कृति में विद्या साधना, धर्म और आचार का बहुत व्यापक महत्त्व होने के कारण उसका संरक्षण और प्रचार करने वाला एक पृथक वर्ग बन गया जिसे ब्राह्मण वर्ग का नाम मिला। विद्या और संस्कृति में पूर्णतः संलग्न हो जाने के कारण यह वर्ग अन्य किसी कार्य में योग नहीं दे सकता था। इसी प्रकार देश की रक्षा और व्यापार के लिए दो अलग वर्ग बन गये। विद्या की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण उनकी त्यागमयी वृत्ति है। वे अपने व्रतों का पालन दृढ़ता से करते थे, वे नाशों के निर्माता और परम यशस्वी होते थे। वे दया के कारण समस्त भूतों के लिए सुखदायी हैं। ब्राह्मणों की महिमा बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'सदा तपस्या उनका धन और वाणी उनका महान् बल है। वे धर्मों की उत्पत्ति के कारण धर्म के ज्ञाता और सूक्ष्मदर्शी हैं।'[१४] उनकी इच्छा सदा धर्म के कार्यों के करने की ही होती है। वे सदा पुण्यकर्मों द्वारा धर्म में ही स्थित रहने वाले और धर्म के सेतु हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर चारों प्रकार की सारी प्रजा जीवन धारण करती है। ब्राह्मण अपने पूर्वजों की चलायी हुई भारी धर्म मर्यादा का भार सदा वहन करते हैं। वे सबके पथप्रदर्शक हैं, सबके नेता हैं और सनातन यज्ञ के करने वाले हैं। ब्राह्मण सदा धर्म का भार वहन करते हैं, उन्हें धर्म का भार

१४—तपो येषां धनं नित्यं वाक् चैव विपुलं बलम् ।
प्रभवश्चैव धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १५१, श्लोक ६

सहन करने म वष्ट का अनुभव नही होता है। व सम्पूण जगत के लिए दीप की भांति प्रकाशक तथा नेत्रवालो के भी नेत्र हैं अर्थात् नेत्रवालो को भी सही सही धम का माग बताने वाले है। ब्राह्मण सबको शिक्षा देने वाल हे। वेद ही उनका धन है। वे शास्त्रज्ञान म कुशल, मोक्षदर्शी समस्त भूतो की गति के ज्ञाता और अध्यात्म तत्व का चिन्तन करने वाल हैं। श्रेष्ठ ब्राह्मण सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त और निष्पाप है। उनके चित्त पर द्वन्दो का प्रभाव नही पडता। व सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करन वाले और सम्मान पान योग्य है। ब्राह्मण आदि, मध्य और अन्त के ज्ञाता, संशयरहित भूत-भविष्य का विशेष ज्ञान रखने वाले तथा परम गति को जानने वाल और पान वाल होते हैं।"[१५] ज्ञानी मनुष्य इन्ही सब श्रेष्ठ कारणो क कारण सदा ब्राह्मणो का आदर करते हैं। इन्हा श्रेष्ठ गुणो और त्याग तपस्या के जीवन के कारण ब्राह्मणो का प्रमुत्व स्थापित हो गया। किसी भी काय मे ब्राह्मणोका स्वय का स्वाथ बिल्कुल नही होता। स्वाथ रहित स्वभाव होन क कारण ही दूसर लोग उन्ह सम्मान की दृष्टि स देखते हैं और उन्ह अपना व दूसरो का हित कारी देवता मानते हैं। परोपकारी व त्यागमयी साधना के कारण ही ब्राह्मण इस पृथिवी क देवता कहलाने लगे हैं।

१५—धमकामा स्थिता धर्मे सुकृतधमसेतव ।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजा सर्वाश्चतुर्विधा ॥

पन्थान सर्वनेतारो यज्ञवाहा सनातना ।
पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुर सदा ॥

दीप सर्वस्य लोकस्य चक्षुश्चक्षुष्मतामपि ।
सर्वशिक्षा श्रुतिधना निपुणा मोक्षदर्शिन ।
गतिज्ञ सर्वभूतानामध्यात्मगतिचिन्तका ॥

आदिमध्यावसानानां ज्ञातारश्छिन्नसंशया ।
परावरविशेषज्ञा गन्तार परमां गतिम् ॥

विमुक्ता धूतपाप्मानो निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहा ।
मानार्हा मानिता नित्य ज्ञानविद्भिर्महात्मभि ॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लो०७,८ १०,११,१२ १३

धर्म शास्त्रों और महाभारत में ब्राह्मणों को उनके गुण और कर्तव्य के कारण ही श्रेष्ठ माना गया है। जो ब्राह्मण उक्त गुणों से सम्पन्न हैं तथा जो उक्त कर्तव्यों का पालन करते हैं वे ही सच्चे ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मण प्राचीन काल में बहुत रहे हैं। ऐसे ही ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में विद्या, साधना और संस्कृति का विस्तार किया था। आज इसी ब्रह्मभाव के अभाव के कारण भारतीय संस्कृति का संरक्षण कठिन हो रहा है। प्राचीन भारतीय समाज में विद्या, त्याग और तप का आदर था अतः ब्राह्मण इनकी साधना में सन्तुष्ट रहे। वर्तमान युग में वैभव और सत्ता का मान होने के कारण विद्या, त्याग और तप का मूल्य घट रहा है। अतः ब्राह्मण भी अपने धर्म से च्युत हो रहे हैं। यह प्राचीन भारतीय संस्कृति के लिये हितकारक नहीं है किन्तु यह समय की अनिवार्य गति दिखाई देती है।

४—शूद्रों का हीन स्थान—

वर्ण व्यवस्था का सबसे अधिक शोचनीय और आपत्तिजनक पक्ष शूद्रों का हीन स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि चतुर्थ वर्ग के साथ भारतीय समाज में बहुत अन्याय हुआ है। जहाँ तक आर्थिक और सामाजिक अन्याय का प्रश्न है वह दूसरे देशों में भी रहा है। किन्तु भारतीय समाज में शूद्रों का तिरस्कार कुछ अधिक रहा है। इसके कुछ कारण तो विदेशों के ही समान हैं किन्तु कुछ अन्य कारण भारतीय समाज में विशेष रूप से मिलते हैं। विद्या, साधन और आचार का विपुल महत्त्व एक ओर जहाँ उच्च वर्गों की श्रेष्ठता का कारण बना वहाँ दूसरी ओर उसने हीन वर्ग को हीनतर बनाया। धर्म और अध्यात्म की प्रधानता के कारण विद्या, साधना और संस्कृति में आचार की बाह्य पवित्रता, स्वच्छता, शुद्धता का महत्त्व बहुत रहा। मलिन कार्य करने वाले शूद्रों के साथ उच्च वर्गों का सम्बन्ध इस कारण और भी दूर हो गया। बाह्य स्वच्छता का एक उच्च आदर्श शूद्रों के तिरस्कार का एक प्रधान कारण है। भारतीय समाज में कृषि के विस्तार के साथ मांसाहार कम होने पर उच्च वर्ग की स्वच्छता का आदर्श अधिक ऊँचा हो गया तथा शूद्रों का तिरस्कार और बढ़ गया। दूसरे देशों में निम्नवर्ग के साथ ऐसा व्यवहार न होने का कारण उन देशों की श्रेष्ठतर मानवीयता नहीं वरन् इसका कारण उन देशों में विद्या और संस्कृति का इतना व्यापक प्रचार न होना तथा उनमें आध्यात्मिकता का प्रधान स्थान न होना और आचरणगत

शुद्धता का कठोर आग्रह न होना है। इसके अतिरिक्त उन दशाओं में मांसाहार का प्रचार, पवित्रता के लिए विशेष आग्रह न होना आदि निम्नवर्ग के तिरस्कार में बाधक रहा।

भारतीय समाज की इस विडम्बना को ठीक-ठीक समझने में उक्त कारणों को न समझने के कारण प्रायः सभी विदेशी विद्वानों ने भूल की है। शूद्रों की स्थिति को उच्चवर्ग का घोर अन्याय माना जाता है। परिणाम की दृष्टि से इस अन्याय में कोई सन्देह नहीं है। किन्तु जिन परिस्थितियों के कारण वह पैदा हुआ उनमें अमानवीयता का उद्देश्य खोजना समाज का सही अध्ययन नहीं है। पिछले अनेक दशकों में जिन लोगों ने शूद्रों के प्रति उच्च वर्ग की भावनाओं को निकट से देखा है, वे इस तथ्य को प्रमाणित कर सकते हैं कि शूद्रों के प्रति उच्च वर्गों की भावना में मानवीयता का अभाव नहीं था। इस प्रकार विद्या और आचार के उच्च आदर्शों के आधार पर भारतीय समाज में इस वर्ग विभाजन की सृष्टि हुई। इस विभाजन को तो पूर्णतः न्याय संगत तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इसमें अन्याय का आग्रह रहा है ऐसा कहना भी अनुचित है। मानवीयता के अभाव का दोषारोपण भी संगत नहीं है। इतना अवश्य कहना होगा कि विद्या और संस्कृति का यह उच्चादर्श तथा इसमें अन्तर्निहित मानवीयता सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए समानरूप से हितकारी नहीं बन सकती है। इसका अभिप्राय यही है कि अनेक प्रकार से उपयोगी होते हुए भी इस वर्ण-व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य हैं। भारतीय समाज के पुनर्गठन में इस व्यवस्था का पूर्ण उच्छेद करने की अपेक्षा इन दोषों का परिहार करके एक श्रेष्ठतर समाज का निर्माण करना अधिक हितकर होगा। इस प्रकार हमारी दीर्घ इतिहास की सांस्कृतिक परम्परा भी सुरक्षित रह सकती है और उस परम्परा के दोषों का निराकरण करके एक श्रेष्ठतर परम्परा का विकास भी हो सकता है।

समाज के विभिन्न कार्यों के आधार पर समाज का विभाजन इस व्यवस्था की एक विशेषता है। विद्या, रक्षा, व्यापार और सेवा के कार्य इतने आवश्यक हैं कि वे किसी न किसी रूप में सभी समाजों में वर्तमान हैं और इसी प्रकार किसी न किसी रूप में ये वर्ग भी सभी देशों में मिलते हैं। मलिन कार्य करने वाले शूद्र वर्ग की संख्या औद्योगिक विकास के साथ एक तरह से बढ़ रही है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था की आलोचना अत्यन्त सरल है

किन्तु इस बढ़ते हुए शूद्रवर्ग के साथ आज का जागरित समाज भी समुचित न्याय नहीं कर रहा है। विद्या, साधना, संस्कृति और आचार इस वर्ण व्यवस्था की सबसे बड़ी देन है। ऐसी स्थिति में हमें अपने इतिहास के अनुरूप अपनी परम्पराओं के श्रेष्ठ पक्षों का संरक्षण करना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था में जो दोष रहे हैं वे वस्तुत कुछ मनुष्य समाज के सामान्य दोष हैं। विश्व के मनुष्य-समाज के विकास के अनुरूप इनका संशोधन हो सकता है। इस संशोधन से हमारे प्राचीन इतिहास और संस्कृति के कलाधर का कलंक भी धुल सकता है और वह विश्वाकाश में अपनी पूर्ण प्रभा से प्रकाशित हो सकता है।

५—विद्या के साधक ब्राह्मण—

भारतीय संस्कृति में ब्राह्मणों के ज्ञानमय तथा सरल और सात्विक जीवन का आदर्श जीवन के ज्ञान प्रधान दृष्टिकोण का द्योतक है। प्राचीन काल में यह सरलता का आदर्श वैभव की लिप्सा का बहुत कुछ प्रतिरोध करता रहा। धर्म शास्त्रों में वैभव और शासन का मोह त्याग कर तप और ज्ञान में ही अपने जीवन को समर्पित कर देना ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य माना गया है। प्राचीन व्यवस्था में दान दक्षिणा, भिक्षा आदि के द्वारा ब्राह्मणों के निर्वाह का एक साधारण प्रबन्ध था। इस प्रबन्ध के द्वारा ब्राह्मणों को जीविका की चिन्ता से मुक्त कर दिया गया था जिससे वे पूर्ण रूप से ज्ञान की साधना में संलग्न हो सकें। इस प्रकार ब्राह्मण का जीवन पूर्णतः ज्ञानमय था। प्राचीन ब्राह्मण आध्यात्मिक आदर्श का जीवन्त प्रतीक था। ज्ञान का सम्पादन और उसकी परम्परा का प्रचार ही उसका मुख्य धर्म था। अध्ययन और अध्यापन ही उसका मुख्य कर्म था। यह ज्ञान आधुनिक विज्ञान अथवा शास्त्रों के ज्ञान की भाँति केवल बाह्य और बौद्धिक नहीं था, वरन् उसमें मनुष्य के मंगल का और आत्मिक तत्वों का भी समावेश था। इसलिए यह ज्ञान केवल मस्तिष्क का विकास न होकर व्यक्ति और समाज के कल्याण का साधक था। मन शुद्धि इस ज्ञान की आवश्यक भूमिका थी। इसीलिए ब्राह्मणों के लिए सात्विक जीवन का विधान किया गया था। सात्विक जीवन चरित्र और सदाचार का आधार है। इसी ज्ञान और सदाचार के आदर्श को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए शास्त्रकारों ने ब्राह्मणों को पूज्यता का पद प्रदान किया था।

प्राचीन भारतीय समाज म ब्राह्मणो का बडा प्रमुत्व रहा है। विद्या के क्षेत्र म ब्राह्मणो का नेतृत्व और कतव्य सबसे अधिक महत्वपूण है। धम तप त्याग आदि ब्राह्मणो की प्रभुता के प्रमुख कारण रहे है। ऋग्वद की पुरुषसूक्त की कल्पना म ब्राह्मणो को विराट पुरुष का मुख माना गया है। ब्राह्मणो की ब्रह्मा के मुख स उत्पत्ति बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "ब्राह्मणो की सृष्टि विधाता के मुख से हुई है, इसीलिए वे वाणीविशारद होते है।'[१६] 'ब्राह्मण को इस भूमि का देवता बनाया गया है। ब्रह्माजी न उन्हे सब लोको की रक्षा के लिए उत्पन्न किया है। सदा तप करना ही ब्राह्मण का धम है। विधाता ने पूवकाल म धम का अनुष्ठान करने के लिए ही अपने तपोबल से ब्राह्मण को उत्पन्न किया था। उपवास (इन्द्रिय सयम) व्रत का आचरण करना ब्राह्मण के लिए सदा धम बतलाया गया है। व्रत के पालन पूवक उपनयन सस्कार का होना उसके लिए परम आवश्यक है क्योकि उसी से वह द्विज होता है। गुरु और देवताओ की पूजा तथा स्वाध्याय और अभ्यास रूप धम का पालन ब्राह्मण को अवश्य करना चाहिए। वदो का स्वाध्याय यज्ञ और दान ब्राह्मण का धम है यह शास्त्र का निणय है। वदो को पढाना यजमान का यज्ञ कराना और दान लना ये उसकी जीविका के साधनभूत है। सत्य मनोनिग्रह तप और शौचाचार का पालन—यह उसका सनातन धम है।'[१७]

१६—मुखतो ब्राह्मणा सृष्टास्तस्मात् ते वाग्विशारदा ॥
अनुशासनपव—अध्याय १४१, २६ और ३० के मध्य में से।

१७—विप्रा कृता भूमिदेवा लोकाना धारणे कृता ।
तपएव सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न सशय ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्न पूव धात्रा तपोबलात् ॥
उपवास सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न सशय ।
व्रतोपनयन चव द्विजो येनोपपद्यते ॥
गुरुदवतपूजाय स्वाध्यायाभ्यसनात्मक ।
स्वाध्यायो यजन दान तस्य धम इति स्थिति ।
कर्माण्यध्यापन चव याजन च प्रतिग्रह
सत्य शान्तिस्तप शौच तस्य धम सनातन ।
अनुशासन पर्व–अध्याय १४१,
श्लोक ३०½, ३२, ३२½, बाकी २६ ३० के मध्य का

धर्म, सत्य, इन्द्रिय निग्रह, तप, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, किसी के दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्र ज्ञान—ये ब्राह्मण के बारह व्रत हैं।[२०] ब्राह्मण को इस लोक में मधुर भाषी तथा सौम्य स्वभाव का होना चाहिए। अपने स्वरूप का ज्ञान, उद्योग तथा दुःख सहने की शक्ति और धर्म में स्थिरता ये गुण जिस मनुष्य में होते हैं वह पण्डित कहलाता है।[२१] 'विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों की भोग कामनाओं का पूर्ण सावधानी के साथ त्याग करना, प्रमाद से दूर रहना तथा किसी प्राणी की हिंसा न करना ये तीन निश्चय ही सत्यज्ञान की उत्पत्ति के कारण हैं।[२२] ब्रह्मभाव की प्राप्ति क्षमा से ही प्राप्त होती है। ब्राह्मण धर्म के सेतु हैं। 'सब मनुष्यों को ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। उनके प्रति सुयोग्य पुत्र जैसा अपने पिता के साथ व्यवहार करता है वैसा ही करें। क्योंकि धर्म के कारण मनीषी ब्राह्मण इन सब लोकों को धारण करते हैं।'[२३] ब्राह्मणों की वाणी और विचार में निर्भी

२०—धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥
उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक २०

२१—आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पंडित उच्यते॥
उद्योग पर्व—अध्याय ३३, श्लोक १४ से आगे

२२—इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम्॥
उद्योग पर्व—अध्याय ६६, श्लोक १८

२३—ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत्।
ते हि लोकनिमान् सर्वान् धारयन्तिमनीषिणः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १५१, श्लोक ३

क्ता होती है। वह सत्य बात कहने में कभी नहीं डरता। ब्राह्मण में उत्कृष्ट तेज होता है। उनके तेज और ज्ञान के समक्ष अज्ञानी, धूर्त लोग ठहर नहीं सकते थे। उनमें ज्ञान और धर्म का कुछ ऐसा प्रभाव होता था कि अच्छे अच्छे ज्ञानी धर्मात्मा राजा ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान तथा आदर करते थे।

६—समाज के रक्षक क्षत्रिय

समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग क्षत्रिय कहलाता है। ब्राह्मण धर्म विद्या, तप साधन आदि में लीन रहते थे। किन्तु समाज में सुरक्षा होने पर ही इनकी साधना सम्भव हो सकती थी। शासन सुरक्षा आदि का भार क्षत्रियों का था। यह शक्ति के द्वारा ही हो सकता था। अतः जिस प्रकार विद्या और तप ब्राह्मणों की मुख्य विभूति हैं उसी प्रकार शक्ति और तेज क्षत्रियों के गौरव हैं।

भारतीय धर्मशास्त्रों में शक्ति की साधना तथा धर्म संस्कृति और समाज की रक्षा क्षत्रियों का मुख्य धर्म माना गया है। किन्तु भारतीय संस्कृति दूसरों के प्रति अत्याचार में विश्वास नहीं करती। भारतवासियों ने शक्तिशाली होते हुए भी दूसरे देशों पर आक्रमण करके साम्राज्य स्थापित करने की कामना कभी नहीं की। उनकी शक्ति-साधना का प्रयोजन केवल आत्म रक्षा था। क्षत्रियों का बल अंध बल नहीं था, वह ज्ञान से युक्त होने के कारण श्रेयस बल था। इसीलिए क्षत्रियों के लिए बल साधना के साथ-साथ अध्ययन का भी विधान था। ज्ञान के साधन और मान के साथ-साथ ज्ञान की रक्षा भी क्षत्रियों का प्रमुख धर्म था। ज्ञान का मान और रक्षण ही संस्कृति का रक्षण है। अतः ब्राह्मणों की रक्षा क्षत्रियों का प्रथम कर्तव्य था। प्राचीन काल में तपोवनों की रक्षा का भार राजाओं पर था। तपस्वी ऋषि मुनि राजाओं के कुलगुरु होते थे। उन्हीं की मन्त्रणा से राजा लोग धर्मनीति का निर्वाह करते थे। वन में जाकर राजा ऋषि, मुनि और तपस्वियों के सुख दुःख का हाल भी पूछते थे। इस प्रकार ऋषि मुनि तपस्वियों और ब्राह्मणों के रक्षक क्षत्रिय संस्कृति के पोषक थे। इसके अतिरिक्त समाज में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना भी उनका कर्तव्य था। समाज के भीतर वर्तमान अतिचारियों से भी दीन, दुर्बल और असहायजनों की रक्षा उनका धर्म था। ब्राह्मणों के साथ-साथ स्त्री, बालक, गौ आदि सरल और दुर्बल जीवों का संरक्षण भी क्षत्रियों के धर्म का महत्वपूर्ण अंग था।

वर्णाश्रम धम की व्यवस्था म ब्राह्मणा और क्षत्रिया की महिमा सवस अधिक है। जिस प्रकार ब्राह्मणा का मुख्य कम धम और विद्या की साधना है उसी प्रकार क्षत्रिया का मुख्य कम समाज की रक्षा है। सुरक्षा का स्थिति धम और विद्या की साधना क लिए आवश्यक है। रक्षा क धम का पालन पराक्रम स होता है। मनुष्य क बाहु इस पराक्रम के पीठ हैं। इसीलिए क्षत्रिया की सृष्टि पुरुषसूक्त की कल्पना म विराट पुरुष की बाहुआ से मानी गई है। क्षत्रियो की सृष्टि का वणन करते हुए महेश्वर न उमा से कहा कि "क्षत्रिया की सृष्टि दोनो भुजाओ स हुई है इसीलिए उन्ह अपन बाहुबल पर गव होता है। [२४] क्षत्रिय अपन पराक्रम और बाहुबल से समाज की रक्षा करक उसक लिए साधना और प्रचार के लिए वाञ्छित परिस्थिति का निमाण करते है।

प्राचीन काल म राजा को लोग ईश्वर के सदृश ही पूजत थ और उनक आचरण के समान ही अपना आचरण भी बनान का प्रयत्न करत थे। प्राचीन काल म वीर तेजस्वी राजा के सनिक भी वीर और तजस्वी होते थे। "इन्द्रिय सयम स्वाध्याय अग्निहोत्र कम, दान, अध्ययन यज्ञोपवीत धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक काय का सम्पादन, पोष्यवग का भरण पोषण आरम्भ किए हुए कम को सफल बनाना अपराध के अनुसार उचित दण्ड दना वदिक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना व्यवहार म न्याय की रक्षा करना और सत्य भाषण म अनुरक्त होना य सभी कम राजा के लिए परम धम हैं। [२५] क्षत्रिय

२४—बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टास्तस्मात् तेबाहुगर्विताः।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४६,
श्लोक २६ और ३० के मध्य में।

२५—तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
यज्ञोपवीतधारणं यज्ञोधर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मोधर्मो वेदक्रतुक्रिया।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१, श्लोक ४६, ६०, ५१

धम पर समाज और मस्कृति व अय धम तथा मूल्य निभर हैं। इसीलिए शास्त्रो म अनव स्थानो पर क्षत्रिय धम की प्रशसा की गइ है। महाभारत व अनुसार समस्त धम क्षात्र धम म समाहित हैं। वह सबका अवलम्बन है। क्षात्र धम की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर स कहा कि नरेश्वर! जसे हाथी व पदचिह्न म सभी प्राणिया क पद चिह्न विलीन हो जात हैं उसी प्रकार सब धर्मों को सभी अवस्थाओ म राजधम क भीतर ही समाविष्ट हुआ समझो। [२६] धम क ज्ञाता आय पुरुषा का कथन है कि अय समस्त धर्मों का आश्रय तो अल्प है हो उनका फल भी अल्प ही है। परन्तु क्षात्रधम का आश्रय भी महान् ह और उसक फल भी बहुसुखद एव परम कल्याणरूप हैं अत इसक समान दूसरा कोई धम नही है। सभी धर्मों म राजधम ही प्रधान है क्योकि उसके द्वारा सभी वर्णों का पालन होता है। राजधर्मों म सभी प्रकार के त्याग का समावेश है और ऋषिगण त्याग को सवश्रेष्ठ एव प्राचीन धम बताते हैं। सृष्टि स चल आन वाल धम अनक बार नष्ट हो चुके है परन्तु क्षात्रधम न उनका पुन उद्धार एव प्रसार किया है। युग-युग म आदिधम (क्षात्रधम) की प्रवृत्ति हुइ है इसलिए इस क्षात्रधम को लोक म सबस श्रेष्ठ बताते हैं। युद्ध म अपन शरीर की आहुति दना समस्त प्राणिया पर दया करना लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना प्रजा की रक्षा करना विषाद ग्रस्त एव पीडित मनुष्यो को दुख और कष्ट स छुडाना—य सब बातें राजाओ के क्षात्रधम म ही विद्यमान हैं।

क्षत्रिया की रक्षा के द्वारा ही इस पृथिवी पर सबको सुख शान्ति होती है। सुरक्षा क ही द्वारा ब्राह्मणो वश्या तथा क्षत्रिया के बडे-बडे काय निर्विघ्नता पूवक सफल और पूण होते है। क्षत्रिया के पराक्रम से दुष्टो का दमन होता है और सत्पुरुषो को साहस मिलता है। क्षत्रिया क बल और पराक्रम स ही यह पृथिवी हरी भरी है। उन्हें हो बल स आज प्राचीन ग्रथ हमारे

२६—यथा राजन् हस्तिपदे पदानि
संलीयन्त सर्वसत्त्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्
सर्वावस्थान् सम्प्रलीनान् निबोध।
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक २५

समक्ष बचे हुए हैं। समस्त विश्व मे क्षत्रियो जसा पराक्रम किसी अन्य जाति म दिखाई न दिया और न देगा। भारत ही एक ऐसा देश है जिमके क्षत्रिय राजाओ ने अपन दश की रक्षा के लिए अपने प्राण तक द दिय किन्तु युद्ध से हारकर पीछे न लौटे। युद्ध करते समय भी क्षत्रिया के समक्ष सदव धम रहता था। जो क्षत्रिय धमपूवक लडकर विजय प्राप्त करता है विश्व मे उसी की *यशकीर्ति की ध्वजा सवदा के लिए अमर हो जाती है। वेदाध्ययन स्वग* प्राप्ति का कारण है परोपकार रूप महान यज्ञ भी स्वग का हेतु है तपस्या को भी स्वगलोक का साधन बताया गया है परन्तु क्षत्रिय के लिए इन तीनो की अपेक्षा युद्ध म मृत्यु का वरण ही स्वग प्राप्ति का अमोघ साधन है।

इस क्षत्रिय धम और मर्यादा के पालन के लिए क्षत्रिया के लिए भी सस्कृत और सयत जीवन आवश्यक है। विपयो मे आसक्त क्षत्रिय सस्कृति का रक्षक नही हो सकता। इसलिए मनु ने विपयो मे आसक्ति को क्षत्रियो के लिये वर्जित किया है। प्राचीन-काल मे बहुत से राजा अपने ज्ञान और सयम के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उत्तरकाल म ऐश्वय के मद मे लीन होकर वे विपयो के दास बन। राजाओ और क्षत्रियो का यह पतन ही देश क पतन का कारण हुआ। *अत्याचारो स समाज और सस्कृति की रक्षा के लिए सदा एक शक्ति* के साधक और साहसी वग की आवश्यकता होगी। यौवन-काल मे सयम और सदाचार द्वारा शक्ति और बल का सम्पादन कर सस्कृति की रक्षा म उसका उपयोग करन वाले साहसी वीर समाज के भूपण हागे। यही क्षत्रिय धम एक सजग देश क युवको का उत्तम आदश है।

७-समाज के पोपक वैश्य —

धम शास्त्रा की वण-व्यवस्था म वश्या को भी द्विजा क अन्तगत माना जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वश्य य तीनो द्विज कहलाते हैं। ब्राह्मणो का इतना मान होते हुए भी विद्या आदि के लिए सुरक्षा के आवश्यक होन के कारण क्षत्रिया को भी अतिशय मान दिया गया है। वश्या का धम शास्त्रा म ऐसा विशेष मान तो नही दिया गया है फिर भी श्रेष्ठ मानकर ही उनकी गणना द्विजा म की गई है। वश्य का धम प्रधान रूप म आर्थिक और लौकिक है। वश्या क आर्थिक धम म प्राकृतिक प्रलोभन क प्राकृतिक आकपण बहुत हैं। इसीलिए वश्या को विशेष मान नही दिया गया हैं। इन प्रलोभना का

प्रभाव इतना है कि धर्मशास्त्रों के अनुरोध के बिना भी वैश्य धन-वैभव के प्रताप से सहज ही श्रेष्ठ (सेठ) बन गये।

वैश्यों की उत्पत्ति विधाता के उदर से हुई है। इस विषय में महेश्वर ने उमा से कहा कि 'वैश्यों की उत्पत्ति (विधाता के) उदर से हुई है इसीलिए वे उदरपोषण के निमित्त कृषि, वाणिज्यादि वार्तावृत्तिका आश्रय ले जीवन निर्वाह करते है।' [२७] दूसरे वर्णों के लोग वैश्यों की सहायता से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष फल देने वाले हैं। यदि वैश्य न हों तो दूसरे वर्ण के लोग भी अपना जीवन आसानी से न निर्वाह कर सकें। पशुओं का पालन, खेती व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथिसत्कार शम, दम ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग—ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं। व्यापार करने वाले सदाचारी वैश्य को तिल चन्दन और रस की बिक्री नहीं करनी चाहिए तथा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य—इन त्रिवर्ग का सब प्रकार से यथाशक्ति यथा योग्य आतिथ्यसत्कार करना चाहिए।" [२८]

२७—उदराद्‌द्गता वैश्यास्तस्माद् वार्तोपजीविनः।
अनुशासनपर्व–अध्याय १४१,
श्लोक २६ और ३० के मध्य में है।

२८—सपथ देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते।
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवेयुस्तथा परे।
वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥
तिलान् गन्धान् रसाश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
अनुशासनपर्व–अध्याय १४१, श्लोक ५४,५५,५६

वैश्य को व्यापार धर्मपूर्वक करना चाहिए। झूठ बोलकर या कम तौल कर अधिक धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। धन के आधिक्य को देखकर वैश्य को कुमार्ग पर नहीं जाना चाहिए और एक पत्नीव्रत रहकर ही सदा पवित्र जीवन बिताना चाहिए। धन के मोह में फसकर अधर्म कभी नहीं करना चाहिए। पशुओं की रक्षा का भार भी वैश्य पर ही था। वृद्ध या अपंग गाय बैल को भी वैश्य दाना घास डालता था उन्हें बेचता नहीं था। वैश्य अपने वर्ण धर्म का परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य होकर अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करे।

वर्ण व्यवस्था का विभाजन मूल रूप में श्रम का विभाजन था। समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण के लिए बौद्धिक श्रम की आवश्यकता थी यह श्रम ब्राह्मणों का धर्म था। समाज की रक्षा के लिए बाहुविक्रम की आवश्यकता थी यह क्षत्रियों का धर्म था। समाज के पालन के लिए उत्पादन के श्रम की आवश्यकता थी यह वैश्यों का धर्म था। वैश्यों ने अर्थ के उत्पादन को ही अपना परम लक्ष्य बनाकर इस व्यवस्था के मूल आधार को खण्डित किया। पूंजीवाद के अर्थतन्त्र ने समाज में अनेक विषमताओं और विकृतियों को अवसर दिया। साम्यवाद इन्हीं विषमताओं को जाग्रत समाज की चुनौती है। आर्थिक व्यवस्था में धन के आधार को उन्मूलित कर उसे श्रम के आधार पर प्रतिष्ठित करना एक महान क्रांति है। यह क्रांति अर्थ तन्त्र और आर्थिक विषमताओं को दूर कर सकेगी ऐसी सम्भावना है।

८—समाज के सेवक शूद्र—

शूद्रों की स्थिति भारतीय समाज और धर्मशास्त्र का एक शोचनीय विडम्बना है। चारों वर्णों में शूद्र सबसे अधिक हीन और न्यूनीय है। विद्या धर्म और संस्कृति के साधक होने के नाते ब्राह्मण पवित्र और पूजनीय हैं। समाज और संस्कृति के रक्षक होने के कारण क्षत्रियों का अनेक स्थानों पर चारों वर्णों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। धन और वैभव की महिमा के कारण वैश्य ही ऐसे हैं जो धन मान वैभव स्वच्छन्दता पवित्रता आदि समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रहकर दलित जीवन बिताने आये हैं।

धर्मशास्त्रों में उच्चवर्णों की सेवा को ही शूद्रों का एकमात्र धर्म माना गया

है।[२९] उनके उपनयन आदि संस्कार नहीं होते तथा द्विजो के द्वारा पालित धर्मकृत्य आदि भी उनके लिए आवश्यक नहीं हैं। धर्मशास्त्रो मे तो उन्हे वेद की शिक्षा से ही वंचित किया गया है किन्तु अन्य शिक्षा भी वे ग्रहण न कर सके जिनकी उन्हे आज्ञा थी। शूद्रो की निम्नस्थिति का संकेत पुरुषसूक्त मे मिलता है जिसमे शूद्रो को विराट पुरुष के चरणो मे स्थान दिया गया है। इस विषय मे महेश्वर ने उमा से कहा कि "शूद्रो की सृष्टि पैर से हुई है इस लिए वे परिचारक होते हैं।"[३०] शरीर मे चरण सबसे नीचे और मलिन होते हैं। वे किसी श्रेष्ठ कर्म के अधिकारी नहीं हैं। बाहु पराक्रम के साधन हैं तथा उरु अवलम्ब हैं, किन्तु चरण केवल सेवा के ही अधिकारी हैं। जिस प्रकार शरीर का संचालन चरणो के द्वारा होता है, उसी प्रकार समाज का संचालन भी शूद्रो के द्वारा होता है।

'शूद्र का परम धर्म तीनो वर्णों की सेवा करना है। जो शूद्र सत्यवादी जितेन्द्रिय और घर पर आये हुए अतिथि की सेवा करने वाला है वह महान तप का संचय कर लेता है। उसका सेवारूप धर्म उसके लिए कठोर तप है। नित्य सदाचार का पालन और देवता तथा ब्राह्मणो की पूजा करने वाले बुद्धिमान शूद्र को धर्म का मनोवांछित फल प्राप्त होता है। अन्य वर्णों की भाँति शूद्र भी सम्पूर्ण धर्मों के साधक बताये गये हैं। यदि शूद्र न हो तो सेवा का कार्य करने वाला कोई नहीं है। पहले के जो तीन वर्ण हैं वे सब शूद्रमूलक ही हैं क्योंकि शूद्र ही सेवा का कर्म करने वाले माने गये हैं। वाणिज्य, कारीगर के कार्य शिल्प तथा नाट्य भी शूद्र का धर्म है। उसे अहिंसक, सदा-

---

२९—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लोक ९१

३०—शूद्राश्च पादत सृष्टास्तस्मात् ते परिचारका।
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१,
श्लोक २८ और ३० के मध्य में से।

चारों ओर देवताओं तथा ब्राह्मणों का पूजक होना चाहिए। जो शूद्र ऊपर कहे हुए धर्मों का पालन करता है, वह अपने अभीष्ट फलों का भागी होता है।[31] चारों आश्रमों में से संन्यास को छोड़कर तीनों आश्रमों का उपभोग सदाचारी शूद्र कर सकता है।

इस प्रकार निकृष्टश्रम, जिसे प्राचीन काल में शूद्रों का एकाधिकार बना दिया था। यह प्राचीन काल की ही नहीं, वर्तमान सभ्यता की भी सनातन समस्या है। छुआछूत वर्ण भेद आदि का मिटाना अथवा अच्छा वेतन, किसी सीमा तक इसका सुधार तो है किन्तु इसका पूर्ण समाधान नहीं है। छुआछूत का मिटाना निकृष्ट कार्यों के करने वालों की सामाजिक स्थिति और उनके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में सुधार है। अच्छा वेतन उनकी आर्थिक स्थिति का उन्नयन है। किन्तु इन सब सुधारों का प्रयोजन इन कार्यों के करने वालों की स्थिति को अच्छा बनाना है इन कार्यों को मिटाना अथवा कम करना नहीं है। नागरिक और वैज्ञानिक सभ्यता के विकास में ये कार्य और भी विस्तृत तथा आवश्यक हो रहे हैं अतः इनको कम करने की कल्पना सभ्यता का कोई विचारक नहीं करता।

विज्ञान के प्रभाव से आर्थिक व्यवस्था समान होती जा रही है। इससे श्रम व्यवस्था की समस्या का निराकरण हो जायगा। जब संसार में सब

31—शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु।
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्।
नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः॥
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान्॥
ततः पूर्वं स्वयुक्ताः सर्वे धर्मरताः स्मृताः।
चतुर्वर्णेषु शुश्रूषा स्वधर्म इति स्मृतः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१ श्लोक ३७ ३८ ३९

जापम म गाति समझौता कर लेंगे तो रक्षा की समस्या का समाधान हो जायेगा और वन की समस्या अर्थात् क्षत्रिय वग भी मिट सकता है। राष्ट्र की सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण स वश्यो की आवश्यकता न रहेगी। विनान के अधि काधिक प्रचार से सेवा भी कुछ कम हो जायेगी। विश्व की जब ऐसी स्थिति हो जायगी, उस समय नान का क्षेत्र अवश्य रह जायेगा, नान की समस्या नही मिट सकेगी   इस समाज म मानव जीवन की कसौटी ज्ञान ही होगा।

अध्याय—८

महाभारत में ब्राह्मणधर्म

१ ब्राह्मण धर्म—

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान है। ऋग्वेद की पुरुषसूक्त की कल्पना में ब्राह्मणों को विराट पुरुष का मुख माना गया है। (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभुत्व रहा है। विद्या के क्षेत्र में ब्राह्मणों का नेतृत्व प्रभुत्व और कर्तव्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। धर्म, तप, त्याग आदि ब्राह्मणों की प्रभुता के अन्य प्रमुख आधार रहे हैं। प्राचीनकाल में ब्राह्मण राजा और प्रजा दोनों के गुरु रहे हैं। सरल एवं सात्विक जीवन में तप और ज्ञान की साधना करके वे प्राचीन भारतीय समाज का नेतृत्व करते रहे हैं। प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति की अनेक विशेषताओं का श्रेय ब्राह्मणों को दिया जा सकता है। अपने सात्विक गुणों के कारण ब्राह्मण समाज में पूजित रहे हैं। राजा भी उनका आदर देते रहे हैं। दिव्य गुणों और सात्विक जीवन के कारण ब्राह्मण पृथ्वी के देवता (महीसुर, भूसुर) ('बन्दौं प्रथम महीसुर चरणा' तुलसीदास) रहे हैं।

कुछ आधुनिक विचारक ब्राह्मणों की इस प्रभुता में सामाजिक अन्याय का बीज खोजते हैं। वे उन्हें भारतीय समाज के विभाजन और विघटन के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। उनके मत में सामाजिक वर्णों में ऊँच-नीच का विधान और विशेषतः शूद्रों का दलन ब्राह्मणों का ही अपराध है। धर्म और विद्या की साधना में विशेष रूप से संलग्न रहने के कारण धर्मशास्त्रों की रचना प्रायः ब्राह्मणों ने ही की है। धर्मशास्त्रों के प्रणेता प्राचीन ऋषि ब्राह्मणों के पूर्वज थे, ब्राह्मण उन्हीं के गोत्रधारी वंशज हैं। वर्ण विभाजन की व्यवस्था

धर्म शास्त्र पर आश्रित है। इसीलिये ब्राह्मणों को इसके लिये उत्तरदायी माना जाता है। किन्तु कोई आलोचक इस बात का उत्तर नहीं देते कि ब्राह्मणों को यह प्रभुता और श्रेष्ठता कैसे मिली तथा उनके द्वारा रचित धर्म शास्त्रों के विधान समाज में किस प्रकार स्वीकृत हुए। प्राचीन भारतीय समाज एक स्वतन्त्र समाज था। उसमें ऐसी संगठित धार्मिक व्यवस्था अथवा राजनीतिक सत्ता नहीं थी जैसी कि आधुनिक धर्मों और आधुनिक समाजों में पाई जाती है। ऐसी स्वतन्त्र स्थिति में कोई भी विचारक भिन्न विधान प्रस्तुत कर सकता था। कोई भी वर्ग विद्या के अधिकार से वंचित नहीं था। क्षत्रियों और वैश्यों को तो वेदाध्ययन का भी अधिकार था। धर्मशास्त्र श्रुति के अन्तर्गत नहीं है, वे स्मृति के अन्तर्गत हैं। धर्मशास्त्रों के अध्ययन और निर्माण का अधिकार तो शूद्रों को भी था। ऐसी स्थिति में किसी को भी भिन्न धर्म शास्त्र की रचना से वंचित करने का दोषी ब्राह्मणों को नहीं ठहराया जा सकता। फिर ब्राह्मणों के पास कोई संगठित धार्मिक अथवा राजनीतिक सत्ता नहीं थी जिसके द्वारा वे इस्लामी धर्मशास्त्र की भाँति अपने धर्म शास्त्र को समाज पर आरोपित कर सकते। सत्य यह है कि जिस समय अन्य वर्ग विद्या का अधिकार होते हुए भी अर्थ और काम की आराधना में संलग्न थे, उस समय तप और त्याग का सात्त्विक जीवन वरण कर ब्राह्मणों ने विद्या की लाभ रहित साधना को अपना धर्म बनाया। धर्मशास्त्रों की रचना ब्राह्मणों की इसी विद्या साधना का एक अल्प अंग है। समाज की वास्तविक व्यवस्था और उसकी तत्कालीन आकांक्षाओं के अनुरूप होने के कारण ही प्राचीन समाज ने धर्मशास्त्रों के विधानों को बहुत कुछ स्वीकार किया। ब्राह्मणों तथा अन्य वर्गों ने भी इन विधानों के अनेक अंशों का उल्लंघन भी किया है। क्या वर्ण विभाजन के समान इस उल्लङ्घन के लिये भी ब्राह्मण उत्तरदायी हैं। वस्तुतः धर्मशास्त्रों का विधान पूर्णतः विधान अथवा ब्राह्मणों की रचना नहीं है। बहुत कुछ अंश में वह प्राचीनकाल में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का पञ्जीकरण मात्र है। यह कहना अधिक संगत है कि प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण वर्ण की नहीं वरन् ब्राह्मणधर्म की प्रधानता और प्रभुता थी। ज्ञान, तप, योग साधना विद्या आदि मूल्यों को समाज में अधिक मान दिया जाता था। इसका कारण प्राचीन भारतीय समाज की प्रधानतः सात्त्विक और आध्यात्मिक वृत्ति थी। प्राचीन भारतीय समाज की इसी स्थिति में ब्राह्मण धर्म की प्रभुता स्थापित हुई है। समाज और शास्त्रों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भी इसी का फल है। अन्य वर्णों ने अर्थ और काम के आकर्षण में शास्त्र द्वारा सम्मत

विद्या तप साधना आदि को इतना महत्त्व नहीं दिया । अन्य वर्णों के द्वारा दिया था, साधना आदि का अपना परित्याग करने पर जब ब्राह्मण विद्या शिक्षा और त्याग के द्वारा उसका पालन करते रहे तो उनका एक निश्चित वर्ग के रूप में रूढ़ हो जाना स्वाभाविक था । इस प्रकार ब्राह्मण भारतीय समाज की स्थायी एवं सामान्य सांस्कृतिक तथा धार्मिक भावना एक दीप्यमान जाति का अधिकार और भार बना ।

धर्मशास्त्रों में इसी परम्परा के अनुकूल यज्ञ, विद्या तप साधना आदि सात्त्विक कर्मों के विशेष अधिकारी के रूप में ब्राह्मणों का वर्णन किया गया है । इसी अधिकार के अनुरूप धर्मशास्त्रों में (ब्राह्मणों के ही द्वारा) ब्राह्मणों के लिये क्षमा, दया सत्य अहिंसा आदि गुण अभीष्ट माने गये हैं । महाभारत भी एक प्रकार का धर्मशास्त्र ही है । यह स्मृति के अन्तर्गत है । महाभारत में भी धर्मशास्त्र की परम्परा के अनुकूल ही ब्राह्मणों के कर्तव्य और लक्षण बताये गये हैं । महाभारत में भीष्म जी ने युधिष्ठिर के पूछने पर उन्हें ब्राह्मण के कर्तव्य इस प्रकार बताये कि ब्राह्मण को अध्ययन अध्यापन यजन, याजन तथा दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मों का आश्रय लेना चाहिये ।[1] मनुस्मृति में मनु ने भी ब्राह्मण के ये ही छः कर्म महत्त्वपूर्ण बताये हैं ।[2] इनमें तीन कार्य ऐसे हैं जिनमें क्षत्रिय और वैश्य का भी अधिकार है यह तीन कर्म अध्ययन याजन और दान हैं जिनका क्षत्रिय और वैश्य को भी करने का अधिकार है । किन्तु शेष तीन कर्म अध्यापन याजन और प्रतिग्रह में ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं है । यह ब्राह्मण के साथ कोई पक्षपात नहीं है किन्तु विद्या और अन्य सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा का नियम

१—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात कथंचन ।

शान्तिपर्व—अध्या० २३४, श्लो० ११

२—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥

मनुस्मृति—अध्या० १०, श्लो० ७५

है। शासन और व्यापार के साथ अध्यापन की सगति नहीं हो सकती। आचार्य के लिये जो त्याग और तप अपेक्षित है, वह शासन और व्यापार के साथ नहीं हो सकता। याजन के लिये वेद की विधियों का ज्ञान आवश्यक है। इन विधियों का इतना विस्तार है कि वह मनुष्य का सम्पूर्ण समय चाहता है। प्रतिग्रह का अर्थ दान लेना है। त्यागी को ही प्रतिग्रह का अधिकार उचित है। शासन और व्यापार में सलग्न क्षत्रिय और वैश्य केवल दान दे सकते हैं किन्तु दान ले नहीं सकते। ब्राह्मण दान दे भी सकते हैं और दान ले भी सकते हैं। ब्राह्मण के उक्त छः कर्मों में उनका क्रम ध्यान देने योग्य है।

इस क्रम में ही भारतीय समाज में ब्राह्मणों के मान और महत्व का रहस्य मिलता है। ब्राह्मणों के छः कर्मों में अध्यापन प्रथम है। अध्यापन का अर्थ विद्यादान है। यह सब दानों में कठिन और श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों के इस विद्यादान के ही द्वारा भारतवर्ष में विद्या का इतना प्रचार और विस्तार हुआ था। अध्यापन के लिए अध्ययन भी आवश्यक है। यजन और याजन का क्रम धार्मिक और सांस्कृतिक रहस्य से पूर्ण है। यजन धर्म का मुख्य आधार है। याजन के द्वारा ब्राह्मण समाज में धर्म और संस्कृति की रक्षा में योग देते हैं। याजन में दक्षिणा के रूप में कुछ लाभ भी होता है यद्यपि ब्राह्मणों के इस अर्थ-लाभ के सम्बन्ध में कुछ भ्रम भी है जो अब याजकों की दुर्लभता के द्वारा मिटता जा रहा है। दान और प्रतिग्रह में भी दान प्रथम है। इस प्रकार ब्राह्मणों के कर्तव्यों का क्रम धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का रक्षक है।

२ ब्राह्मण आदरणीय एवं अवध्य है—

शिक्षक होने के कारण ब्राह्मण आदरणीय है। वह सबका गुरु है। महाभारत में भी धर्मशास्त्रों के समान ब्राह्मण को आदरणीय और अवध्य माना गया है। आदिपर्व में लिखा है कि—गरुड़ जब अमृत लेने के लिये जाने लगे तब उनकी माता विनता ने ब्राह्मणों के महत्व को बताते हुए कहा कि 'ब्राह्मण समस्त प्राणियों का अग्रज, सब वर्णों में श्रेष्ठ, पिता और गुरु हैं'[3]

३—तदेतद्विविधलिङ्गं त्वं विद्यास्त द्विजोत्तमम्।
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः॥
आदिपर्व—अध्या० २८, श्लो० ७½

माता पिता तो बालक के जन्म देने के कारण पूजनीय हैं, किन्तु ज्ञान के नेत्र में विद्या आरम्भ कराने के कारण गुरु भी बालक का पिता ही है। पिता शरीर का पालन करता है, किन्तु गुरु शिक्षा द्वारा बालक की बुद्धि तीव्र कर के एक नवीन सृष्टि करता है, इसलिए गुरु को पिता से भी अधिक आदरणीय और पूजनीय माना जाता है। महाभारत में विनता ने गरुड़ से कहा है कि "सत्पुरुषों के लिए ब्राह्मण आदरणीय माना गया है। तुम्हें क्रोध आ भी जाय तो भी ब्राह्मण की हत्या से सर्वथा दूर रहना चाहिये।"[४] गुरु होने के कारण ही ब्राह्मण की हत्या करना धर्मशास्त्र में वर्जित है।[५] महाभारत में भी इसे माना गया है। विनता ने गरुड़ से कहा कि अमृत लाने के लिए जाते समय तुम्हें जो रास्ते में मिले उसका तुम भक्षण कर लेना किन्तु ब्राह्मण को नहीं मारना। विनता ने कहा कि "ब्राह्मण समस्त प्राणियों के लिए अवध्य है। वह अग्नि के समान दाहक होता है।"[६] ब्राह्मण की श्रेष्ठता बताते हुए अणी माण्डव्य ने धर्मराज से कहा कि "ब्राह्मण का वध सम्पूर्ण प्राणियों के वध से भी अधिक भयङ्कर है।[७] विद्या का साधक और शिक्षक तथा धर्म एवं

४—एवमादिस्वरूपस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः ।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा ॥
आदिपर्व—अध्या० २८, श्लो० ५

५—अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु ।
बौधायन धर्मसूत्र—१ १० १८,१९

६—न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥
आदिपर्व—अध्या० २८ श्लो० ३

७—अल्पेऽपराधेऽपि महान् मम दण्डस्त्वया कृतः ।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि ॥
आदिपर्व—अध्या० १०७ श्लो० १५

सस्कृति का रक्षक होने के कारण ब्राह्मण को अवध्य माना गया है। ब्रह्म हत्या को महापाप माना जाता है। यह ब्राह्मणों के साथ पक्षपात है। किन्तु इस पक्षपात में धर्म और संस्कृति की रक्षा का ध्येय निहित है। सात्विक वृत्ति के कारण अल्पतर दण्ड भी ब्राह्मण का सुधारक हो सकता है।

३ बारह व्रत—

अवध्यता का भार और प्रतिग्रह का अधिकार ब्राह्मणों को किसी पक्षपात के कारण नही वरन् धर्म और संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से दिया गया था। इसीलिए विद्या की साधना और यजन को उनका मुख्य कर्तव्य माना था। ये ऐसे धार्मिक एवं सांस्कृतिक कर्तव्य हैं कि जिनमें कोई लाभ नहीं है, वरन् उलटा इनमें कष्ट है। इसीलिए अन्य वर्णों ने इनकी ओर इतना ध्यान नहीं दिया, यद्यपि ये उनके लिये वर्जित नहीं थे। विद्या, धर्म और संस्कृति की साधना एक प्रकार की तपस्या है। इसके लिये सात्विक और व्रतशील जीवन अपेक्षित है। 'व्रत' आचार और भावना के कुछ नियम हैं जो साधना को सम्भव बनाते हैं। महाभारत में ब्राह्मणों के लिये बारह व्रत बताये गये हैं। व्रतों के पालन के द्वारा ही ब्राह्मण तपस्या तथा विद्या आदि की साधना कर सकते हैं।

इसीलिये नियमों व्रतों का पालन करने वाले केवल ब्राह्मण ही अनेक तपस्याओं को करने वाले पाये गये हैं। धृतराष्ट्र ने सनत्सुजात से ब्राह्मणों के व्रत के विषय में पूछा कि ब्राह्मणों के व्रत कितने प्रकार के होते हैं तब सनत्कुमार ने धृतराष्ट्र से कहा कि "धर्म, सत्य, इन्द्रिय निग्रह, तप, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष को न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्र ज्ञान—ये ब्राह्मण के बारह व्रत हैं।"[८]

८—धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥
उद्योगपर्व—अध्या० ४३ श्लो० २०

इन व्रतो के पालन के द्वारा ही ब्राह्मण समाज म विद्या धम आदि का रक्षक बन सकता है।

४ स्वाध्याय ब्राह्मण का देवत्व है–

अध्यापन और अध्ययन ब्राह्मण के मुख्य कर्तव्य हैं। अध्यापन का आधार भी अध्ययन ही है। अध्यापन विद्या-दान का सामाजिक कर्तव्य है। अध्ययन विद्या की व्यक्तिगत साधना है। प्राचीन काल मे वेद ही अध्ययन का मुख्य विषय था। वद के अध्ययन को ही स्वाध्याय कहते थे। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' की श्रुति म स्वाध्याय' का अर्थ अपनी शाखा का वद है। स्वाध्याय के द्वारा ही वेद की रक्षा हो सकती थी। इसीलिये स्वाध्याय' अर्थात् वेद का अध्ययन ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है।[९]

महाभारत मे युधिष्ठिर ने ब्राह्मणो के कर्मों के विषय म भीष्म से पूछा कि सबके विषय मे तो मुझ को ज्ञान हो गया कि समस्त प्राणियो क क्या क्या धर्म हैं। अब आप मुझे केवल ब्राह्मणो के धम बताने की कृपा कर। तब भीष्मजी बोल कि इन्द्रिय सयम ब्राह्मणो का प्राचीन धम है किन्तु वेदशास्त्रो का स्वाध्याय भी उनका मुख्य कम है इसस उनके सब कर्मों की पूर्ति होती है।"[१०]

स्वाध्याय ही ब्राह्मणो के देवत्व का मुख्य आधार है। विद्याध्ययन म रत रहने क कारण ही ब्राह्मण सबस श्रेष्ठ ह। यक्ष न युधिष्ठिर से पूछा कि ब्राह्मणा म देवत्व क्या है तथा पुरुषो का सा धम क्या है? तब युधिष्ठिर ने कहा कि वेदो का ध्याध्याय ही ब्राह्मणो म देवत्व है तप सत्पुरुषो का सा धम

९—ब्राह्मणेन निष्कारणो धम षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति।

महाभाष्य—भाग १, पृष्ठ १५

१०—दममेव महाराज धममाहु पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसन चव तत्र कम समाप्यते।

शांतिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ६

है।[११] स्वाध्याय से ही ब्राह्मणो की वृत्ति सात्विक तथा धार्मिक बनती है और व वेद, विद्या तथा धम एवम् संस्कृति के रक्षक और समाज के गुरु बनते हैं।

५ ब्राह्मण के लक्षण तथा कर्त्तव्य—

धमशास्त्रा म ब्राह्मण के लक्षण और कर्त्तव्य विस्तार से बताये गये है। महाभारत में भी ब्राह्मणो के लक्षणा तथा कत्तव्यो का विवरण है। महाभारत म कहा गया है कि 'द्विज श्रेष्ठ और उदार बने, वेदा का अध्ययन कर सतत सावधान रहकर स्वाध्याय में ही लगा रहे देवता लोग उसे ब्राह्मण मानते है।[१२] भरद्वाज ने भृगुजी से ब्राह्मण के कर्मों के विषय में पूछा कि किन कर्मों से ब्राह्मण कहलाता है। सदा स ही ब्राह्मणो के पवित्र विचारा और ऊचे आदर्शों के कारण लोगो को ब्राह्मण के धम जानने के विषय में अभिलाषा रही है। तब भृगुजी बोले कि 'जन्म आदि संस्कारा से सम्पन्न पवित्र एवम् वेदा के स्वाध्याय में सलग्न ब्राह्मणोचित छ कर्मों में स्थित सदाचार का पालन तथा उत्तम यज्ञ, शिष्ट अन्न का भोजन करने वाला गुरू के प्रति प्रेम रखने वाला मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है।"[१३] महाभारत में ब्राह्मणा

११—स्वाध्याय एवा देवत्व तप एवा सतामिव।
मरए मानुषो भाव परिवादोऽसतामिव॥
वनपर्व—अध्या० ३१३, श्लो० ५०

१२—ब्रह्मचारीवदान्यो योऽधीयीत् द्विज पुङ्गव।
स्वाध्यायवान् मत्तो ो त देवा ब्राह्मण विदु॥
वनपर्व—अध्या० २०६, श्लो० ३७½

१३—जातकर्मादिभि यस्तु संस्कार संस्कृत शुचि।
वेदाध्ययनसम्पन्न षटसु कर्मस्ववस्थित॥

शौचाचारस्थित सम्यग्विघसाशो गुरुप्रिय।
नित्यव्रती सत्यपर स वै ब्राह्मण उच्यते॥
शान्तिपर्व—अध्या० १८९, श्लो० २ ३

की दूसरी परिभाषा भी बताई कि 'जो जितेन्द्रिय धर्मपरायण, स्वाध्याय तत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध जिनके वश में है देवतालोग ब्राह्मण उन्हें ही मानते हैं"[१४] महाभारत में अनेक स्थलों पर अनेक लोगों ने ब्राह्मण की परिभाषा अनेक प्रकार से बताई है। ब्राह्मणों के धर्म तथा कर्त्तव्य बताये हैं तथा किसी ने किन्हीं अन्य गुणों को बताया है। इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा ब्राह्मणों के कर्त्तव्य पूछे जाने पर भीष्मजी ने कहा कि मन इन्द्रियों को वश में रखने वाला सोमयाग कराके सोमरस पीने वाला, सदाचारी दयालु निष्काम सरल मृदु, क्रूरता रहित क्षमाशील हो वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है।[१५] युद्ध में विजय प्राप्त करके जब पाँचों पाँडव बटे थे तब चारों छोटे भाइयों ने युधिष्ठिर से पृथ्वी पर राज करने के लिए आग्रह किया किन्तु युधिष्ठिर किसी प्रकार भी राज्य सम्भालने को तैयार न हुए। तब द्रौपदी अन्त में बोलीं कि हे राजन्! आपके विचार तथा भाव क्षत्रियों जैसे नहीं हैं। जो विचार आप में हैं उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि आप ब्राह्मण हैं। द्रौपदी ने ब्राह्मण का धर्म बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि 'समस्त प्राणियों में मैत्री भाव दान तथा दान देना अध्ययन और तपस्या करना ये ब्राह्मणों के ही कर्त्तव्य हैं'[१६] इस प्रकार द्रौपदी ने भी युधिष्ठिर को बहुत प्रकार से राज्य संचालन के लिए प्रेरित किया किन्तु वह किसी प्रकार राजी न हुए।

१४—जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्याय निरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
वनपर्व—अध्याय २०७, श्लो० ३४½

१५—य स्यात् दान्तः सोमपश्चार्यशील
सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लो० ८

१६—मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः।
ब्राह्मणस्यैष धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम॥
शान्तिपर्व—अध्या० १४, श्लो० १५

कौशिक ब्राह्मण से वार्तालाप करती हुई पतिव्रता स्त्री ने ब्राह्मण के सनातन धम बताये कि 'स्वाध्याय, मनोविग्रह, सरलता और इन्द्रिय निग्रह – ये ब्राह्मण के सनातन धम कहे जाते हैं।"[१७] ब्राह्मण का इस लोक में मधुर भाषी तथा सौम्य स्वभाव का होना चाहिये ऐसा श्रुति का उत्तम वचन है। डुण्डुभ ने रुरु को अहिंसा का उपदेश देते समय ब्राह्मण के धम के विषय म कहा कि "अहिंसा, सत्य, क्षमा और वेदो का स्वाध्याय निश्चय ही ये ब्राह्मण के उत्तम धम हैं।[१८] जब पराशर अपने पिता के वध से बडे दु खी हुए तब उन्होंने सम्पूर्ण राक्षस कुलो को नष्ट करने के विचार से यज्ञ आरम्भ कर दिया। उस समय उन्होंने तीन अग्नियाँ प्रज्वलित करली थी और बालक तथा बूढे सभी का विनाश करने का विचार कर लिया था। उस समय किसी अन्य ऋषि की उनके पास जाने की हिम्मत नही हुई। तब पुलस्त्य स्वय पराशर के समक्ष उपस्थित हुए और बोले कि आपके पिता की हत्या के विषय म कुछ न जानने वाले सभी निर्दोष राक्षसो का वध करके आपको क्या प्रसन्नता होगी। पराशर से अनेक प्रकार की विनय करते हुए पुलस्त्य बोले कि "शान्त रहना ही (ब्राह्मणों का) श्रेष्ठ धम है।"[१९] इस प्रकार ब्राह्मणो का धम बता कर पुलस्त्य ने पराशर को शान्त कर लिया तथा महर्षियो के समझाने पर पराशर ने उस राक्षस यज्ञ को समाप्त कर दिया और स्वय क्रोध को शान्त करके अपना काय करने लगे।

१७—धम तु ब्राह्मणस्याहु स्वाध्याय दममार्जवम्।
इन्द्रियाणा निग्रह च शाश्वत द्विजसत्तम॥
वनपर्व-अध्याय-२०६, श्लोक ३६½

१८—अहिंसा सत्यवचन क्षमा चेति विनिश्चितम्।
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणापि च।
आदिपर्व-अध्याय-११, श्लोक १५–१५½

१९—शम एव परो धमस्तमाचर पराशर।
अधर्मिष्ठ वरिष्ठ सन् कुरुषे त्व पराशर॥
आदिपर्व—अध्याय १८०, श्लोक १३

६—पडित के लक्षण–

वेद का अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मण का मुग्य कत य है। विद्या स युक्त मनुष्य विद्वान् कहलाता है। विद्वान् को पडित भी कहते हैं। आज कल पडित एक प्रकार से ब्राह्मणो की उपाधि बन गई है। किन्तु वास्तव म ज्ञानवान को ही पडित कहना चाहिये। महाभारत म विदुर ने धृतराष्ट्र को पडित के लक्षण बताते हुये कहा है कि अपने स्वरूप का ज्ञान उद्योग दु ख सहने की शक्ति और धम म स्थिरता ये गुण जिस मनुष्य को पुरुषाथ स च्युत नही करते वही पण्डित कहलाता है। २ महाभारत म यासजी ने शुकदेवजी को ब्राह्मण के कत य बताते हुए कहा कि ब्राह्मण को वेदो म बताई हुई त्रयी विद्या—'ओइम्' इन तीन अक्षरो से सम्बन्ध रखने वाली प्रणव विद्या का चितन एव विचार करन चाहिये। वद को छहो अगो सहित ऋक साम यजुप एव अथव के मत्रो का स्वर-व्यजन के सहित अध्ययन करे। ब्राह्मण सदाचार का वर्ताव करे। किसी जीव को कष्ट न दे। सत्य प्रतिज्ञ बने। सन्तो की सेवा म रह कर तत्वज्ञान प्राप्त करे। सत्पुरुष बने और शास्त्रो की व्याख्या करने म कुशल बने। ब्राह्मण को अपने तेज की वृद्धि करने के लिय क्या करना चाहिये ऐसा पूछा जाने पर यासजी बोले कि जो ब्राह्मण हष मद और क्रोध से रहित है वह दु ख से दूर रहता है। दान वदाध्यायन यज्ञ, तप लज्जा सरलता और इन्द्रिय सयम—इन सद्गुणो स ब्राह्मण अपने तेज की वृद्धि और पाप का नाश करता है।' २१ ससार रूपी दु ख से उद्धार करने वाला भी केवल मात्र साधन सत्य और ज्ञान है। इस ज्ञान को ब्राह्मणों से ही प्राप्त

२०—आत्मज्ञान समारम्भस्तितिक्षा धमनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स व पडित उच्यते॥
उद्योग पव—अध्याय ३३ श्लोक १५ से आगे

२१—वीतहषमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति।
दानमध्ययन यज्ञस्तपो ह्रीराजव दम॥
ऐतवधयते तेज पाप्मान चापकषति॥
शान्ति पव—अध्याय २३५, श्लोक ७३

जा मकता है। इसलिय दु खी मनुष्य को शाति का माग बताने वाला ब्राह्मण ही है। उस ज्ञानी ब्राह्मण के धम बताते हुए भीष्मजी न युधि से कहा कि विज्ञ पुरुष प्राचीन इतिहास का एक उदाहरण पिता पुत्र रूप म दिया करते हैं कि पिता एक ब्राह्मण था, वह स्वाध्याय म ही निपुण किन्तु उसका मेधावी नामक लडका मोक्ष धम के ज्ञान म कुशल था। पुत्र न पिता से कहा कि 'ब्रह्म म एकीभाव, समता, सत्यपरायणता सदा निष्ठा दण्ड का त्याग (अहिंसा) सरलता तथा सब प्रकार के सकाम से निवृत्ति इनके समान ब्राह्मण का दूसरा कोई धम नही है।[२२] कृष्ण संजय को समझाया कि तुम कौरवों की स्वाथ सिद्धि के लिय क्यो वाग्जाल रहे हो? सजय पहले तुम चारो वर्णों के विभाग तथा कम का देख लो ब्राह्मण के कम बताते हुए कृष्ण ने सजय से कहा कि ब्राह्मण अध्ययन एव दान कर तथा प्रधान प्रधान तीर्थों की यात्रा कर शिष्यो को और यजमानो का यज्ञ कराने अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार कर।[२३] धृतराष्ट्र को विदुर न पाण्डवो के साथ उचित न्याय करने के लिये उपदेश दिया। उस उपदेश म विदुरजी न अनेक प्रकार की लोक परलोक की बातें धृतराष्ट्रजी से कही किन्तु उनकी उचित तथा न्यायसगत बातो का धृतराष्ट्र पर कोई असर नही हुआ और उन्होने प्रारब्ध पर ही सब छोड दिया। फिर भी विदुरजी न चारो वर्णों के धम बताते हुए ब्राह्मण

२२—नैतादृश ब्राह्मणस्यास्ति वित्त
यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डनिधानमार्जव
ततस्ततश्चोपरम क्रियाभ्य ॥
शान्तिपर्व-अध्याय २७७, श्लोक ३७

२३—अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थ मुख्यानि चैव।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥
उद्योग पर्व—अध्याय २९, श्लोक २३

धर्म के उपदेश एवं इस प्रकार कहे कि 'जो नित्य जल से स्नान करता, यज्ञोपवीत धारण, नित्य स्वाध्याय करता है तथा पतितों का अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता है, गुरु की सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोक से पतित नहीं होता।'[24] सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र को मायाविन व्यक्तियों के विषय में अनेक बातें बताईं। मनुष्य के लिए क्रोध, लोभ, काम, मान, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कामरता आदि बारह महान् दोष मनुष्यों के प्राणनाशक हैं। मनुष्यों के अनेक दोष बताने के बाद सनत्सुजात जी ने ब्राह्मणों के बारह व्रत तथा छः धर्म भी बताये। उन्होंने ब्राह्मणों के मुख्य धर्म बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि 'इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृत की स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान ब्राह्मणों के ये ही मुख्य साधन हैं।'[25] श्रेष्ठ ब्राह्मण दूसरों की निन्दा कभी नहीं करते हैं।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को तीन प्रकार के गुणों को बताने के बाद चारों वर्णों के गुणों को अलग-अलग बताया। श्री कृष्ण ने ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण इस प्रकार बताये कि 'अन्तःकरण का निग्रह करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, इन्द्रिय और मन को सरल रखना, वेद शास्त्र और ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना—ये सबके

२४—नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
ऋतं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्।
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्॥
उद्योगपर्व—अध्याय ४० श्लोक २५

२५—दमस्त्यागोऽप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम्।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम्॥
उद्योग पर्व—अध्याय ४५, श्लोक ७

सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कम हैं। [२६]ब्राह्मण और क्षत्रिय के मत एक हो जाने पर दुष्टों का, शत्रुओं का विनाश हो जाता है और सतपुरुषों को सुख मिलता है तथा देश म सुख शांति रहती है।

७—क्षत्रिय बल से ब्रह्म तेज वास्तविक है—

जिन क्षत्रिय राजाओं न अपने बाहुबल का अहंकार ब्राह्मण ऋषियों को दिखाया था वे भी अंत म अपने बाहुबल मे परास्त हुए और ऋषियों के तेज बल को ही श्रेष्ठ माना। राजा विश्वामित्र अपनी सेना लेकर वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर अपनी गाय लेने आये तो वशिष्ठजी ने बडे प्रेम सद्भाव से उनसे कह दिया कि गाय को ले जाइये। किन्तु जब अनेक प्रकार के प्रयत्नों के बाद भी वह गाय जब विश्वामित्र के साथ नहीं गई, तो वह वशिष्ठ मुनि पर रोष करने लगे। नन्दिनी गाय ने भी मुनि से कहा कि इस समय आप भी मेरी रक्षा क्या नहीं कर रहे हैं। ये राजा के सैनिक मुझे डंडों से मार रहे हैं। तब मुनि वशिष्ठ बोले कि नन्दिनी! ब्राह्मणों का धर्म क्षमा है। तब नन्दिनी ने रोष प्रकट करके विश्वामित्र की समस्त सेना को भगा दिया और स्वयं उनके साथ नहीं गई। इस गाय के व्यवहार से क्रोधित होकर राजा विश्वामित्र ने वशिष्ठ मुनि पर अनेक प्रकार के शस्त्रों की वर्षा की। किन्तु धैर्यवान क्षमाशील ब्राह्मण पर जब बाणों का कोई असर नहीं हुआ, तब निराश होकर अहंकारी राजा अपने मन म सोचने लगे कि इसका क्या कारण है कि क्षत्रिय का बाहुबल ब्राह्मण के तपस्यापूर्ण जीवन पर कुछ सफल ही नहीं होता। तब उन्हें ज्ञान हुआ और उन्होंने कहा कि 'क्षत्रिय बल तो नाम मात्र का ही बल है उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेज जनित बल ही वास्तविक बल है।'[२७]

२६—शमो दमस्तप शौच, क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकम स्वभावजम्॥
भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लोक ४२

२७—विश्वामित्र क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत्।
धिग बल क्षत्रियबल ब्रह्मतेजोबल बलम्॥
आदि पर्व-अध्याय १७४, श्लोक ४५

जब संजय ने धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण के विषय में बताया तो वह कहने लगे कि संजय ! मुझे वह मार्ग बताओ जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्वामी परममोक्ष स्वरूप भगवान श्री कृष्ण को प्राप्त कर सकूँ। तब संजय ने कहा कि विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों का भोग कामनाओं का पूर्ण सावधानी के साथ त्याग करना प्रमाद से दूर रहना तथा किसी प्राणी की हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं[२८] जिस तत्त्व ज्ञान का बोध हो जाता है वहां मनुष्य श्रीकृष्ण स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने में कृतकृत्य हो जाता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति क्षमा से ही प्राप्त होती है ऐसा युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा। जब द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि आपको अपने शत्रु दुर्योधन के प्रति रोष क्या नहीं होता आप उसकी सब अनीतियों को सहन करते जाते हैं। इससे आप भी दुःख उठा रहे हैं तथा आपके कारण ही आपके ये चारों भाई भी दुःखों को सहन कर रहे हैं। आप स्वयं युद्ध न करें किन्तु इन अपने छोटे भाइयों को तो आज्ञा दें जिससे ये लोग उस दुरात्मा पापी दुर्योधन को उसके न करने योग्य कार्यों का बदला दे सकें। द्रौपदी की ऐसी बातें सुन कर युधिष्ठिर बोले कि विद्वान पुरुष को सदा क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिये। मनुष्य जब सब कुछ सहन कर लेता है तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है[२९] ब्रह्मभाव प्राप्त होना ही भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति होना समझना चाहिये। ब्रह्मज्ञानी के लक्षण बतलाते हुए व्यासजी ने शुकदेवजी से कहा कि जो जनसमुदाय को सर्प सा समझ कर उसके निकट जाने से डरता है स्वादिष्ट भोजन जनित तृप्ति को नरक सा मान कर उससे दूर रहता है और स्त्रियों को मुर्दों के समान मान कर उनकी ओर से विरक्त रहता है उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।[३०] जो मनुष्य

२८—इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥
उद्योग पर्व—अध्याय ६८, श्लोक १८

२९—क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
वनपर्व—अ० २९ श्लोक ४२

३०—अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५ श्लोक १३

सम्मान प्राप्त होने पर भी हर्षित नहीं होता, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियो को अभय दान कर दिया है उसी को लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं। व्यासजी ने शुकदेवजी से कहा कि 'जिसका जीवन धर्मके लिये और धर्म भगवान श्री हरि के लिये होता है। जिसके दिन और रात धर्म पालन मे ही व्यतीत होते हैं उसे धर्मज्ञ मानते हैं। [३१]

शेष तीन कर्म केवल ब्राह्मण के लिये ही होते हैं। दान लेना यज्ञ कराना तथा अध्यापन ये तीन कर्म केवल ब्राह्मण के लिये हैं ऐसा धर्म शास्त्रों में लिखा है। राजा श्वेतकि बल और पराक्रम में इन्द्र के समान थे उनके समय में यज्ञ करने वाला दाता और बुद्धिमान दूसरा कोई नहीं था। उनके मन में प्रतिदिन यज्ञ और दान के सिवा दूसरा कोई विचार नहीं उठता था। इस बुद्धिमान नरेश के साथ लगातार वर्षों तक यज्ञ करते करते ऋत्विजो की आंखें धूये से व्याकुल हो उठी थी। इस कारण खिन्न मन होकर वह ऋत्विज राजा को छोड़कर चले गये, फिर उनकी इच्छा में ही राजा ने दूसरे ऋत्विजो को बुलाकर अपने यज्ञ कर्म पूर्ण कराये। किन्तु कुछ समय के बाद वह दूसरे ऋत्विज भी राजा का साथ छोड गये। तब दुःखी होकर राजा श्वेतकि ने शिव को प्राप्त करने के लिये कठोर तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हे दर्शन भी दिये किन्तु उनकी इच्छा पूर्ण करने के विषय में स्वयं शिव ने राजा से कहा कि शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ कराने का अधिकार ब्राह्मणो का ही है। [३२] शिव ने कहा कि मैं ब्राह्मणों का कार्य कोई नहीं कर सकता हूं। यज्ञ कराने का कार्य केवल ब्राह्मण ही करा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण का कार्य शास्त्र ज्ञानपूर्ण तथा तपस्या से पूर्ण होता था इसी कारण उनके कार्य को कराना दूसरों के लिये बड़ा कठिन तथा असम्भव था।

३१—जीवितं यस्य धर्माय धर्मोहय्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्याय तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
शांतिपर्व-अध्याय २४५, श्लोक २३

३२—तोयिमोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वमेहाद्येन कर्मणा।
याजनं ब्राह्मणानां तु विहितं परंतप॥
आदिपर्व-अ० २२२, श्लोक ५१

९ दान लेना ब्राह्मणधर्म—

दान लेना भी केवल ब्राह्मणों का धर्म है। अन्य द्विजों को दान लेने का अधिकार नहीं है। दान देने का अधिकार तो सब द्विजों को है किन्तु दान लेना केवल ब्राह्मण को बताया है। ययाति और अष्टक में जब संवाद हुआ तो अष्टक ने ययाति से कहा कि स्वर्गलोक में जो लोक विद्यमान हैं वे सब आपको देता हूँ तथा अन्तरिक्ष या द्युलोक में मेरे लिये जो स्थान हैं, उनमें आप शीघ्र ही मोह रहित चले जांय। तब ययाति ने कहा कि "ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही प्रतिग्रह लेता है। मेरे जैसा क्षत्रिय कदापि नहीं। क्षत्रियों को दान करना चाहिये, लेना नहीं।"[33] ययाति ने अष्टक से कहा कि जो ब्राह्मण नहीं है उसे दीन याचक बनकर कभी जीवन नहीं बिताना चाहिये। याचना तो विद्या से दिग्विजय करने वाले विद्वान ब्राह्मण की पत्नी है। अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को ही याचना करने का अधिकार है।[34]

वैशम्पायन जी ने मार्कण्डेय जी से दान देने से प्राप्त सुख तथा स्वर्ग के विषय में पूछा कि किन अवस्थाओं में दान देकर मनुष्य इन्द्रलोक का सुख भोगता है। मार्कण्डेय जी ने कहा कि सोलह प्रकार के दान व्यर्थ हैं। (१) सन्यास आश्रम से फिर गृहस्थ आश्रम आये हुए पतित को दिया हुआ दान

३३—नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च
प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य ।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्य—
स्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥

आदिपर्व—अध्याय ९२, श्लो० १२

३४—नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्
याच्ञापि स्याद् ब्राह्मणी वीरपत्नी ।
सोऽहं नवाकृतपूर्वं चरेयं
विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥

आदिपर्व—अध्या० ९२, श्लो० १२

व्यर्थ है। (२) अन्याय से कमाये हुए धन का दान व्यर्थ है। (३) पतित ब्राह्मण। (४) चोर को दिया हुआ दान व्यर्थ है। (५) आदि गुरुजनो को दिया हुआ दान व्यर्थ है क्योंकि इनकी सेवा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। (६) मिथ्यावादी। (७) पापी। (८) कृतघ्न। (९) ग्राम पुरोहित (१०) वेद विक्रय करने वाले। (११) शूद्र से यज्ञ कराने वाले। (१२) नीच ब्राह्मण। (१३) शूद्रा के पति ब्राह्मण। (१४) साँप को पकड़ कर व्यवसाय करने वाले। (१५) सेवकों को। (१६) स्त्री समूह को दिया हुआ दान व्यर्थ है। इस प्रकार ये सोलह दान निष्फल बताये हैं। सेवकों और स्त्रियों का पालन पोषण करना तो मनुष्य का कर्तव्य है ही। इसलिये वह उनको देना दान की श्रेणी में नहीं है।

१० सबका उद्धारक ब्राह्मण—

मार्कण्डेय जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "ब्राह्मण जप, मन्त्र, पाठ होम स्वाध्याय और वेदाध्ययन के द्वारा ही वेदमयी नौका का निर्माण करके दूसरो को भी तारते है और स्वयं भी तरते हैं।'[३५] अतः दान श्रेष्ठ ब्राह्मण को ही देना चाहिये। युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेय जी ने दान किसे देना चाहिये के विषय में कहा कि सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मण को दान दे, जो दाता का तथा अपना भी संसार सागर से उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण दान देने योग्य है।"[३६] विद्वान तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणों की जूठन साफ करना चन्दन, माला आदि से उन्हें अलङ्कृत करना उनकी सेवा

३५—जपन्त्रश्च होमश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च।

वनपर्व—अध्याय २००, श्लो० १३

३६—तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता।
प्रदातारं यथाऽऽत्मानं तारयेद् यः स शक्तिमान्॥

वनपर्व—अध्या० २००, श्लो० २१

पूजा करना और उनके पर आदि अङ्गो को दबाना, इनम से एक एक काय गो दान स भी अधिक महत्त्व रखता है ।

माकण्डेयजी ने दान का महत्त्व बताते हुए युधिष्ठिर से कपिला गौ का दान बताते हुए कहा कि कपिला गौ का दान करने से मनुष्य निस्सन्देह सब पापा से मुक्त हो जाता है । इसलिय कपिला गौ को अलकृत करके श्रेष्ठ ब्राह्मण को दान देना चाहिय ।[37] गौ का दान एक हा ब्राह्मण का देना चाहिये । यदि अनेक ब्राह्मणा को एक गौ दी जायेगी तो वह उस बच कर उसक रुपया को आपस म बाट लेंगे और दाता को दान का कोई पुण्य नहा मिलेगा । श्रेष्ठ और विद्वान ब्राह्मण को स्वणदान देने से स्वण मुद्राआ क दान का फल प्राप्त होता है और भूमि का दान देने से दाता के सभी मनो वाछित भोग स्वत आ जाते हैं । सब दाना से बढकर अन्न का दान है । वेदा म अन्न को प्रजापति कहा गया है । ससार म सब प्राणियो के लिय अन्न ही सबस महत्वपूण वस्तु है । इसलिय स्वय तयार किया हुआ भोजन ब्राह्मणा का अर्पित करे तो उस पुण्यकम के प्रभाव से प्रजापति के लाक म जाता है । अन्न का दान सत्य से भी बढकर है ।

११ ब्राह्मण धम का सेतु है –

अध्ययन अध्यापन और यजन याजन क द्वारा ब्राह्मण विद्या एव धम की रक्षा करत रहे है । महाभारत म उनका धम का सेतु कहा गया है ।

युधिष्ठिर न जब भीष्म स पूछा कि ससार म कौन मनुष्य पूज्य है । तब भीष्म ने कहा कि ब्राह्मणा की पूजा करे । ब्राह्मणो को नमस्कार करे । उनक प्रति सुयोग्य पुत्र अपन पिता के प्रति जसा बर्ताव करता है वसा बर्ताव

३७—कपिलाया प्रदानात्‌ ॥ मुच्यते नात्र सशय ।
तस्मादलङ्कृता दद्यात्‌ कपिला तु द्विजायते ॥

वनपर्व—अध्या० २००, श्लो० २६

घर। क्योंकि मनीषी ब्राह्मण इन सब लोकों को धारण करते हैं।"[38] "ब्राह्मण समस्त जगत की धर्ममर्यादा का सरक्षण करने वाले सेतु के समान है। वे धन का त्याग कर प्रसन्न होते हैं। वाणी का संयम रखते हैं। ब्राह्मण ही संसार में केवल ऐसा प्राणी है जो दृढतापूर्वक और शरीर को दुःख देकर व्रत का पालन करने वाला है। ब्राह्मण शास्त्रों का निर्माता और परम यशस्वी है। तपस्या ही जिनका धन है और वाणी ही जिनका बल है। तपस्वी ब्राह्मण सबके पथ प्रदर्शक धर्मों की उत्पत्ति के कारण सूक्ष्मदर्शी होते हैं। भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि ब्राह्मण धर्म की ही इच्छा रखने वाला पुण्य कर्मों द्वारा धर्म में ही स्थित रहने वाले धर्म के सेतु हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर चारों प्रकार की सारी प्रजा जीवन धारण करती है।[39] ब्राह्मणों ने सर्वदा धर्म का भार वहन किया है। वे धर्म के भार से कभी कष्ट का अनुभव नहीं करते हैं। वे अध्यात्म-तत्त्व का चिंतन करने वाले हैं। ब्राह्मण बूढ़ा हो या बालक सभी सम्मान के योग्य हैं। ब्राह्मण भूतल का देवता होता है ब्रह्माजी ने ब्राह्मणों का सम्मान करना क्षत्रिय धर्म है, बताते हुए महर्षियों से इस प्रकार कहा कि राजा धर्म पालन के इच्छुक होते हैं और ब्राह्मण धर्म के सेतु हैं। अतः राजा को सदा ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिये।'[40]

शिशुपाल ने जब श्रीकृष्ण की बुराई की तो युधिष्ठिर तथा भीष्म का मन बहुत दुःखी हुआ। पहले युधिष्ठिर ने ही कृष्ण के स्वरूप को बताते हुए

३८—ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत्।
ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः॥

३९—धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृतैर्धर्मसेतवः।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १५१, श्लो० ३-७

४०—धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणाधर्मसेतवः।
तस्माद् राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्या० ४३, श्लो० १७

उन्हें सब जगत का पूजनीय बताया किन्तु जब शिशुपाल ने इसे भी न माना। तब भीष्म ने कहा कि 'ब्राह्मणों में अधिक ज्ञानी पुरुष ही पूजनीय समझा जाता है और क्षत्रियों में अधिक बल रखने वाला पूजनीय समझा जाता है।'[४१]

१२ धर्मपालन और सात्विक जीवन—

प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सरल और सात्विक था। वह लोग अपने व्रतों के पालन में कठोर से कठोर कष्ट शरीर से उठाते थे। उनका भोजन बहुत कम तथा सात्विक होता था, वे भोजन में स्वाद नहीं देखते थे। भूख बुझाने मात्र के लिये ही भोजन करते थे। कुछ तपस्वी तो फलाहार करके ही अपना जीवन धारण करते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सरल तथा कठोर व्रतों से पूर्ण था। द्रौपदी के स्वयंवर में जब सब बड़े-बड़े राजा निशाना लगाने में असमर्थ हो गये, तब ब्राह्मणों में बैठे ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन उस निशाने को लगाने के लिये गये। तब ब्राह्मण लोग आपस में इस प्रकार कहने लगे कि 'सम्पूर्ण लोकों में देवता असुर आदि के रूप में विचरने वाले पुरुषों का ऐसा कौनसा काम नहीं है जो ब्राह्मणों के लिये असाध्य हो। ब्राह्मण लोग जल पीकर हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करते हैं।'[४२] ब्राह्मणलोग आपस में उस दुबले ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन को देख कर कहने लगे कि इसके रूप को देखकर हम लोगों को चिंतित नहीं होना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण मंत्र बल योग बल अथवा आत्म बल से इस सम्पूर्ण जगत को स्तब्ध कर सकते हैं। अतः उसके प्रति किसी को तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। अर्जुन को

४१—ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥

सभापर्व—अध्याय ३८, श्लो० १७

४२—ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ॥

आदिपर्व—अध्या० १८७ श्लो० १२

देखकर ब्राह्मणो ने आपस म इस प्रकार कहा कि 'शरीर से दुबल होने पर भी ब्राह्मण अपने तेज के कारण अत्यन्त बलवान होते है। ब्राह्मण भला बुरा सुखद दु खद और छोटा-बडा-जो भी कम प्राप्त होता है, कर लेता है।'[४३] ब्राह्मण का किसी को अपमान नही करना चाहिय।

१३ वचन में निर्भीकता—

ब्राह्मणो की वाणी और विचार म निर्भीकता होती है। वह सत्य बात कहने म कभी नही डरता तथा अपने विचारो को गलत बताने वाले से भी विवाद करने म कभी नही हिचकता। वह ज्ञानी होता है, इसलिये दूसरो के द्वारा गलत विचार बताने पर वह उनके ज्ञान को भी देखना चाहता है और नम्रतापूवक उनके ज्ञान को समझने का यत्न करता है। मगध की राजधानी म जब भीम अजु न और श्रीकृष्ण पवत तोडकर जरासध के महल म पहुच गये तब भीम अजु न तथा श्री कृष्ण का वेश उस समय स्नातक ब्राह्मण जसा था, हाथो मे माला थी, चन्दन धारण किय हुए थ। उनका एसा वेष देख कर जरासध न उनसे पूछा कि आप कौन है? तब बोलने मे चतुर श्रीकृष्ण ने कहा कि वेष के अनुसार स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। स्नातक व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य तीनो वर्णों के लोग हो सकते हैं। किन्तु जरासध को उनके वेष के अनुसार पवत को तोडने के काय के विषय म कुछ समझ म नही आया। तब उसने कहा कि "ब्राह्मण के तो प्राय वचन म ही वीरता होती है, उसकी क्रिया म नही। आपने जो पवत शिखर तोडने का काय किया है वह वेष तथा वण के सवथा विपरीत है'[४४] ब्राह्मणो के

४३—दुबला अपि विप्रा हि बलीयास स्वतेजसा।
ब्राह्मणो नावमन्तव्य सदसद् वा समाचरन्॥
आदिपर्व—अध्या० १८७ श्लो० १३

४४—वदघ्न वाचि वीय च ब्राह्मणस्य विशेषत।
कर्म चतद् विलिङ्गस्य कि वोऽद्य प्रसमीक्षितम्॥
सभापर्व—अध्याय २१, श्लो० ४६

तेज और तप की प्रशंसा करते हुए राजा कुंतिभोज ने अपनी कन्या पृथा से कहा कि 'ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है ब्राह्मणों के नमस्कार से ही सूर्यदेव आकाश में प्रकाशित हो रहे हैं।'[४५] इस प्रकार प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का तेज तथा तप बहुत पूजनीय था। इस तेज के प्रभाव को देखकर ही कुंतिभोज राजा ने अपनी कन्या ब्रह्मर्षि दुर्वासा को सौंप दी थी। ब्राह्मणों का तेज अवर्णनीय था। उनके तप के समक्ष, अभिमानी धृत लोग टिक नहीं सकते थे, उनमें कुछ ऐसा प्रभाव था कि अच्छे अच्छे नामी धर्मात्मा राजा ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान तथा आदर करते थे।



४५—ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते॥
वनपर्व—अध्याय ३०३, श्लो० १६

अध्याय—६

महाभारत में क्षत्रिय-धर्म

१—क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता—

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की महिमा सबसे अधिक है। धर्म और विद्या की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथा उन्हें पृथ्वी के देवता की पदवी दी गई है और उनके लिए अध्यापन, याजन आदि के कर्तव्यों का विधान किया गया है। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ब्राह्मणों की यह श्रेष्ठता प्राचीन भारतीय समाज में प्रतिष्ठित आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता का फल है। इसी श्रेष्ठता की धारणा से पुरुष सूक्त की कल्पना में ब्राह्मणों को विराट पुरुष का मुख बताया गया है। किन्तु लौकिक और व्यावहारिक रूप की दृष्टि से क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता भी असन्दिग्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य कर्म धर्म और विद्या की साधना है, उसी प्रकार क्षत्रियों का मुख्य कर्म समाज की रक्षा है। सुरक्षा की स्थिति धर्म और विद्या की साधना के लिए आवश्यक है। अरक्षा की स्थिति में इनकी साधना भंग हो जाती है। रक्षा सभी श्रेष्ठ मूल्यों की साधना का मूल आधार है। रक्षा की दृष्टि से क्षत्रिय धर्म का सबसे अधिक मूल्य है। इसी दृष्टि से महाभारतकार ने भी क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। महाभारत की कथा मुख्य रूप से क्षत्रियों का ही चरित है। युद्ध क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। महाभारत भी कौरव पाण्डवों के युद्ध की कथा है। क्षत्रिय धर्म की यह श्रेष्ठता धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। मनु याज्ञवल्क्य आदि धर्माचार्यों ने भी इसे स्वीकृत किया है। जब क्षत्रिय अन्य वर्णों की रक्षा करते हैं, तभी सब वर्ण अपने धर्म का समुचित पालन कर सकते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय धर्म समाज के धर्म प्रासाद का स्तम्भ है। रक्षा के धर्म का पालन पराक्रम से होता है। मनुष्य के बाहु इस पराक्रम के पीठ हैं। इसीलिए पुरुष सूक्त की कल्पना में क्षत्रियों को विराट पुरुष का बाहु माना गया है (बाहू राजन्य: कृत:)। यदि ब्राह्मण समाज के मुख हैं तो क्षत्रिय समाज के बाहु हैं। ब्राह्मण धर्म और विद्या की साधना तथा इनका प्रचार करते हैं। क्षत्रिय अपने पराक्रम और बाहुबल से समाज

की रक्षा करव उसके लिए साधना और प्रचार क लिए यादित परिस्थित का निर्माण करते हैं तथा इन्हें सम्भव बनाते हैं।

महाभारत म क्षत्रिया की श्रेष्ठता और उनके धम का विशषता स वणन किया गया है। क्षात्र धम की श्रेष्ठता बतात हुए इन्द्र रूप धारी विष्णु भगवान ने राजा मान्धाता से कहा कि ससार म क्षात्र धम ही सब धर्मों म श्रेष्ठ सनातन नित्य अविनाशी, मोक्ष तक पहुचाने वाला सवतामुखी है।'[१] क्षात्र धम क पालन करने वाले श्रेष्ठ राजा के भय स उच्छृखल कामी, क्रोधी, लोग पाप नही कर पाते और धर्मों का पालन करने वाले श्रेष्ठ पुरुष राजा म सुरक्षित होकर सदाचार पूवक अपने धम का सदुपदेश करते हैं। युधिष्ठिर को क्षात्र धम की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने कहा है कि 'धमज्ञ पुरुषो का कथन है कि अन्य समस्त धर्मों का आश्रय तो अल्प है ही, फल भी अल्प ही है। परन्तु क्षात्र धम का आश्रय भी महान है और उसके फल भी बहुसख्यक एव परमकल्याण रूप है अत क्षात्र धम के समान दूसरा कोई धम नहीं है'।[२]

क्षत्रिय धम की श्रेष्ठता बताते हुए इन्द्र ने मान्धाता से इस प्रकार कहा कि शेष धम असत्य है और उनका फल भी विनाशशील है। इस क्षात्र धम मे सभी धर्मों का समावेश हो जाता है, इसलिए क्षात्र धम ही सबसे श्रेष्ठ है।[३] इन्द्र ने मान्धाता से कहा कि विष्णु से पहले राजधम ही प्रवृत्त हुआ

१—सवधमपर क्षात्र लोकश्रेष्ठ सनातनम्।
शश्वदक्षरपयन्तमक्षर सर्वतोमुखम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय—६४, श्लोक ३०

२—अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धमविदो मनुष्या,
महाश्रय बहुकल्याणरूप, क्षात्र धर्म नेतर प्राहुरार्या।
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक २६

३—शेषा सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ता
सप्रस्थाना क्षात्रधर्मा विशिष्टा।
अस्मिन् धर्मे सवधमा प्रविष्टा—
स्तस्माद् धर्म श्रेष्ठमिम वदन्ति।
शान्तिपर्व—अध्याय ६४, श्लोक २२

है। अन्य सभी धम उसी के अग है अर्थात् उसी मे प्रकट हुए हैं। पूवकाल म वि णुभगवान न क्षात्र धम के द्वारा ही शत्रुओं का दमन करके दवताओ तथा तेजस्वी समस्त ऋषियों की रक्षा की थी। धमशास्त्रो के अनुसार क्षात्र धम ही सबसे उत्तम तथा सब धर्मों का आश्रय है। ससार के सम्पूण कम क्षात्र धम पर ही अवलम्बित हैं। यदि क्षात्र धम प्रतिष्ठित न हो तो जगत के सभी जीव अपनी मनोवाछित वस्तु पाने म निराश हो जाय। क्षात्र धम की उत्कृष्टता बताते हुए भीष्मजी न युधिष्ठिर से कहा कि 'चारो आश्रमो के धम यतिधम तथा लौकिक और वदिक उत्कृष्ट धम सभी क्षात्र धम म प्रतिष्ठित है।'[४]

२—क्षत्रिय की परिभाषा—

वैसे तीनों द्विजातियो के कुछ कम ऐसे हैं, जो तीनो के लिए अनिवाय है। किन्तु कुछ विशेष काय ऐसे है जो केवल एक ही द्विज के करने योग्य है। जसे अध्यापन, याजन, तथा प्रतिग्रह केवल ऐसे काय है, जो केवल ब्राह्मण के ही करने योग्य हैं। उसी प्रकार कुछ ऐसे भी काय हैं जो क्षत्रिय तथा वश्य के लिए पथक पथक अनिवाय हैं। क्षत्रिय के लिए रक्षा करना युद्ध करना आदि काय ऐसे है जिनका भार केवल क्षत्रिय पर ही है। भरद्वाज न भृगुजी से चारो वर्णों के कम के विषय म पूछा कि आप मुझे बताइये कि कौन सा धम करने से ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य तथा शूद्र कहलाते है। भृगुजी न उन्हे क्षत्रिय के कम इस प्रकार बताये कि "जो मनुष्य क्षत्रियोचित युद्ध आदि कम का सेवन करता है वेदो के अध्ययन म लगा रहता है ब्राह्मणो को दान देता है प्रजा म कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है।"[५] क्षत्रिय की परिभाषा बताते हुए भीमसेन ने अजुन से कहा कि 'जो क्षत्रि

४—चातुराश्रम्यधर्माश्च यति धर्माश्च पाण्डव।
लोके वेदोत्तराश्चव क्षात्रधर्मे समाहिता॥
शान्तिपर्व—अध्याय–६४, श्लोक १

५—क्षत्रज सेवते कम वेदाध्ययनसगत।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यत।
शान्तिपर्व—अध्याय–१८६, श्लोक ५

पहुचाना ही जिसकी जीविका है तथा जो स्त्रियो और साधु पुरुषो पर क्षमा भाव रखता है वही क्षत्रिय है और उसे ही शीघ्र इस पृथ्वी के राज्य धर्म (सङ्कट) से अपना तथा दूसरो का त्राण करना है युद्ध में क्षत्रियो को क्षति यश और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। ६ क्षत्रियो के समक्ष उनका धर्म ही सबसे प्रथम रहता है अन्य सारे सुख दु ख भाई-बन्धु परिवार आदि दूसरे स्थान पर रहते है। वे धर्म के आगे सदव झुकते हैं तथा उसी से यश प्राप्त करते हैं।

मान्धाता ने क्षत्रियो के कर्तव्य इस प्रकार बताये हैं कि 'युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना समस्त प्राणियो पर दया करना लोक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना प्रजा की रक्षा करना विपाद ग्रस्त एव पीड़ित मनुष्यो को कष्ट और दु ख से छुड़ाना—ये सब बातें राजाओ के क्षात्र धर्म में ही विद्यमान हैं।'७ क्षत्रिय के कर्तव्य बताते हुए सुन्दम ने रुरु से कहा कि दण्डधारण उग्रता और प्रजा-पालन ये सब क्षत्रियो के कर्म हैं। ८ क्षत्रिय को सदव अपने हाथ में दण्ड को धारण करना चाहिये, ऐसा धर्म शास्त्रो का कथन है। क्षत्रिय का स्वभाव भी उग्र होना चाहिये। क्योकि जब तक क्षत्रिय में उग्रता नही होगी तब तक वह युद्ध के लिये उद्यत नही होगा। उग्र स्वभाव वाला क्षत्रिय

६—क्षतत्राता क्षताजीवन् क्षन्ता स्त्रीष्वपि साधुषु।
क्षत्रिय क्षितिमाप्नोति क्षिप्र धर्मं यशः श्रियम्।
शान्तिपर्व—अध्याय-१६७ श्लोक ४

७—आत्मत्याग सर्वभूतानुकम्पा,
लोकज्ञान पालन मोक्षण च।
विषण्णानां मोक्षण पीडितानां
क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय-६५, श्लोक २७

८—दण्डधारणमुग्रत्व प्रजानां परिपालनम्।
तदिद क्षत्रियस्यासीत् कर्म व शृणु मे द्विज॥
आदिपर्व—अध्याय-११, श्लोक १७

ही अनुचित बातो को देखकर क्रोध दिखा सकेगा। अन्यथा शान्त रहने वाला क्षत्रिय बिना क्रोध के दुष्टो का हनन नही कर सकता। दुष्टो का सहार क्रोध से ही किया जा सकता है। प्रजा का सब प्रकार से पालन क्षत्रिय ही करते है। इसीलिये राजा को प्रजापालक भी कहते है। श्रेष्ठ क्षत्रिय राजा अपनी प्रजा को पुत्र के समान प्रेम देकर उन्हे सब प्रकार से सन्तुष्ट रखता है। अर्जुन को क्षत्रियो के कर्त्तव्य बताते हुए श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले कि "शूरवीरता तेज धैर्य, चतुरता और युद्ध मे न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब के सब कार्य क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।"[९] बडे से बडे बलवान शत्रु का सामना करने मे भय न करना तथा उत्साह पूर्वक युद्ध करते रहना, शूर वीरता है। जिस शक्ति के प्रभाव मे रह कर लोग दूसरे का प्रभाव नही मानते तथा उसके प्रतिकूल व्यवहार नही करते उसी शक्ति का नाम तेज है। बडे से बडा सकट उपस्थित हो जाने पर भारी चोट लग जाने पर पुत्र-पौत्रिक के मर जाने पर सर्वस्व का नाश हो जाने पर या अन्य भारी विपत्ति आ जाने पर भी जो दुःख से व्याकुल नही होते तथा अपने कर्तव्यपालन से कभी विचलित नही होते, उसी का नाम 'धैर्य' है। परस्पर झगडा करने वालो का न्याय करने मे, युद्ध करने मे तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थो के साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदि मे कुशलता है, उसी का नाम 'चतुरता' है। युद्ध स्थल मे युद्ध करते समय भारी से भारी चोट आ जाने पर तथा अन्य कोई भी विपत्ति आ जाने पर भी क्षत्रिय को युद्ध से पीठ नही दिखानी चाहिये अर्थात् युद्ध स्थल छोडकर न भागना चाहिये। अपने प्राणो तक की परवा न करके युद्ध मे डटे रहना चाहिये। ब्राह्मणो को यथाशक्ति दान देना चाहिए। शासन के द्वारा लोगो को अन्याय के आचरण से रोक कर सदाचार मे प्रवृत्ति कर दुराचारियो को उचित दण्ड दे, लोगो से न्याय युक्त अपनी आज्ञा का पालन कराये समस्त प्रजा का हित सोचकर प्रेम पूर्वक उसका पालन पोषण तथा रक्षा करे यह स्वामिभाव है।

मनुस्मृति मे प्रजा की रक्षा को क्षत्रिय का प्रथम धर्म बताया है। दान

९—शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम्॥
भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लोक ४३

यन और अध्ययन भी क्षत्रिय क धम हैं। य सदाचार क विधायक हैं। सत्ता म अतिचार की आशका रहती है इसीलिए मनुस्मृति म क्षत्रियो क लिए विषयो म अनासक्ति का आदेश दिया है।[10] महाभारत म भी क्षत्रिय का धम बताते हुए श्री कृष्ण ने सजय स कहा कि क्षत्रिय स्वाध्याय यज्ञ और दान करे। किसी स किसी वस्तु की याचना न करे। वह न तो दूसरा को यज्ञ कराय और न अध्यापन का ही काय कर यही धमशास्त्रा म क्षत्रियो का प्राचीन धम बताया है।'[11] ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय को अध्ययन यज्ञ करान तथा प्रतिग्रह लेने का अधिकार नहीं है। क्षत्रिय क लिय वदो का स्वाध्याय यज्ञ करना तथा दान देना ही मुख्य कम बताय हैं। इसक अनन्तर श्रीकृष्ण न सजय स क्षत्रियो के शेष कर्मों के विषय म इस प्रकार बताया कि क्षत्रिय धम के अनुसार सावधान रह कर प्रजाजनो की रक्षा कर दान द यज्ञ कर सम्पूर्ण वेदो का अध्ययन करक विवाह करे और पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रम म रहे। इस प्रकार धर्मात्मा क्षत्रिय धम एव पुण्य का सम्पादन करके अपनी इच्छा के अनुसार ब्रह्मलोक जाता है।[12] गृहस्थाश्रम म प्रवेश

१०—प्रजाना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत ॥
मनुस्मृति—अध्याय-१ श्लोक ६०

११—अधीयीत क्षत्रियोऽयो यजेत,
ददाद दान न तु याचेत किंचित्।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत,
एष स्मृता क्षत्रधम पुराण ॥
उद्योग पर्व-अध्याय-२८, श्लोक २३ के आग।

१२ - तथा राजन्यो रक्षण व प्रजाना,
कृत्वा धर्मेणाऽप्रमत्तोऽथ दत्वा।
यज्ञरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्य कृदावसेद् गृहाद् ॥
स धर्मात्मा धममधीत्य पुण्य,
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम् ॥
उद्योगपव -अध्याय-२६, श्लोक २४, २५

प्राप्त करने के बाद क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा का भार उचित नियमो से पालन करते रहना चाहिये । हनुमानजी ने प्रकट होकर भीमसेन को चारो वर्णों के धर्मों के विषय म बताया ।

भीमसेन से क्षत्रिय धर्म का वर्णन करते हुए वे बोले कि यही सब धर्म तुम्हारे भी हैं। अत इन सबका पालन करना तुम्हारा भी धर्म है। तब क्षत्रिय का धर्म हनुमानजी ने भीमसेन से इस प्रकार कहा कि 'सबका रक्षा करना क्षत्रिय धर्म है। विनयशील बनो तथा इन्द्रियों को वश म रखो यही क्षत्रिय धर्म हैं।'[१३]

४—अन्य वर्णो की रक्षा तथा सहायता करना क्षत्रिय धर्म है—

जिस प्रकार ब्राह्मणो का मुख्य कर्म अध्यापन याजन तथा प्रतिग्रह है। उसी प्रकार क्षत्रियो का मुख्य कर्म प्रजा की तथा अन्य वर्णो की रक्षा और सहायता करना है। प्रजा का सुख राजा के ऊपर ही निर्भर रहता है। यदि धार्मिक और पुण्यात्मा राजा होगा तो उसकी प्रजा भी वैसी ही धार्मिक तथा पुण्यात्मा होगी। प्राचीन काल मे राजा को लोग ईश्वर के सदृश ही पूजते थे और उसके आचरण के समान ही अपना आचरण भी बनाने का प्रयत्न करते थे। प्राचीन काल म वीर तेजस्वी राजा के सैनिक भी वीर और तेजस्वी होते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत इसी उद्देश्य से प्रचलित हुई है।

ब्राह्मणो की रक्षा तथा तथा सहायता के विषय म युधिष्ठिर से कहती हुई कुन्ती ने कहा कि "जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मण के कर्मों म सहायता करता

१३—क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम्।
स्वधर्म प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रिय ॥
वनपर्व-अध्याय-१५०, श्लोक ३७

है वह उत्तम लोको को प्राप्त होना है।' १४ ब्राह्मणो का कार्य विद्या का पढाना, यज्ञ करना आदि हैं जिसको वह शान्ति से ही कर सकते हैं। जब तक उनके मन म शान्ति नही होगी तब तक वह विद्या तथा धम का काय नही कर सकते। इसलिये क्षत्रिय लोग ब्राह्मणो की रक्षा का भार लेकर उन्हे विद्या की उन्नति करने म प्रोत्साहन देते थ। विद्या के ज्ञानी ऋषि मुनि जगल म कुटिया बना कर नास्त्रो की रचना करते थे और अनक शिष्यो को विद्या म पारगत बना देते थे। यदि जगल म उनकी रक्षा का प्रबध न होता तो उनका सारा समय अपनी रक्षा की व्यवस्था म ही निकल जाता और व देन क लिये आध्यात्मिक ज्ञान का सचय नही छोड सकते थ। आज हमारे देश म जो प्राचीन ग्रन्थो का भाण्डार भरा हुआ है वह सब प्राचीन आचार्यों की ही देन है। ज्ञान विज्ञान ज्योतिष व्याकरण कला आदि अनेक क्षेत्रो म जितना हमारा प्राचीन साहित्य आज उपलब्ध है उतना ससार के किसी भी देश म नही है। इसका एकमात्र कारण राजाओ की ब्राह्मणो पर श्रद्धा, आदर तथा उनकी सुरक्षा की सुव्यवस्था ही थी। राजाओ के राज्य म ब्राह्मणो का बडा सम्मान था तथा उनकी राय लेकर ही राजा बडे-बडे यज्ञ और धार्मिक काय किया करते थे। राजाओ द्वारा सम्मान प्राप्त होने के कारण ही ब्राह्मणो का इतना उत्साह था कि वे दिन रात एक करके कठिन परिश्रम द्वारा बडे-बडे ग्रन्थ रचा करते थे और आज हमारे देश का मस्तक उन आचार्यों के ग्रन्थो के कारण ही सब देशो से ऊँचा है।

क्षत्रियो को भी सकट से बचाने का काय भी क्षत्रियो का ही था। युधिष्ठिर स क्षत्रिय की रक्षा के विषय म बताते हुए कुन्ती ने इस प्रकार कहा कि 'जो क्षत्रिय किसी प्राण सकट म फँसे हुए क्षत्रिय को मुक्त करता है वह इस लोक और परलोक म भी महान यश का भागी होता है। १५ क्षत्रिय

१४—यो ब्राह्मणस्य साहाय्य कुर्यादर्थेषु कर्हिचित्।
क्षत्रिय स शुभाल्लोकानाप्नुयादिति मे मति ॥
आदिपव — अध्याय १६१, श्लोक २२

१५—क्षत्रियस्यव कुर्वाण क्षत्रियोवधमोक्षणम्।
विपुला कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिश्च परत्र च ॥
आदिपव — अध्याय १६१, श्लोक २३

राजा को तो चारा वर्णों की रक्षा का भार अपने ऊपर ही लेना पडता था। तभी चारो वरण अपने अपने कतव्य पूरण रूप स निभा सकते थे। क्षत्रिय भी वेदा का अध्ययन करते थे नित्य यन करते थे तथा दान देते थे, य तीना काय वे भी सुरक्षा द्वारा ही शांति से कर सकते थ। क्षत्रिया के युद्ध सम्बधी काय भी ऐसे होते थे, जो सुरक्षा से ही सफल हो पाते थे जस गुप्तचरा का दूसर देश म जाकर उनके यहा की सारी वाता का पता लगाना आदि। इस काय के करने के लिये अनेक क्षत्रिय साथ रहते थे और नित्य प्रति उनकी सारी खबरें इस देश से दूसरे दश तक क्षत्रिया द्वारा ही पहुँचाई जाती थी। उन गुप्तचरो के मन म यह शान्ति रहती थी कि यदि मरा कुछ अनिष्ट हो जायेगा तो उसकी खबर देन वाले लोग भी मेरे साथ हैं। इसी आशा को लेकर वह कठिन से कठिन कार्यों को अपन जीवन की भी परवाह न करके पूरण करके लौटते थे। बीच मे अनेक स्थाना पर उनके प्राण सकट म पड जाते थे किन्तु उनकी रक्षा करने वाले उन्हे बचाकर उनकी सम्पूरण काम नाओ को पूरण कराके लाते थे। इस प्रकार क्षत्रिया को भी अनेक स्थाना पर सुरक्षा की आवश्यकता थी।

क्षत्रिय के बाद वश्य भी सुरक्षा चाहते थे। क्योंकि उनका काय रुपये-पसे का तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जान का था। इसलिये उन्हे भी सुरक्षा की बडी आवश्यकता थी। कुन्ती ने वश्या की रक्षा करना भी क्षत्रिय का धम है। इस विषय म युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि 'जो क्षत्रिय इस भूतल पर वश्य के काय मे सहायता पहुचाता है वह निश्चय ही सम्पूरण लोका म प्रजा को प्रसन्न करने वाला राजा होता है।'[१६] वश्या का काय कृषि वाणिज्य तथा गो रक्षा मुख्य बताया गया है। इन तीना कार्यों म सुरक्षा की आवश्यकता होती है। कृषि का काय भी जगल म होता है यदि रक्षा का प्रबन्ध न हो तो मनुष्य कृषि भी जगल म शान्ति स नहीं कर सकता है। बीज

१६—वश्यस्यार्थे च साहाय्य कुर्वाण क्षत्रियो भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम्॥
आदिपर्व-अध्याय-१६१, श्लोक २४

बोने के बाद पक्षियों से उनकी रक्षा करने के लिए कृषक का मन और प्राण उस पर ही रहना पड़ता है। तब वह खेती सफलता से हो पाती है। राजा की ओर से सुरक्षा का प्रबन्ध ठीक होने पर ही कृषक रातों पर जंगल में अकेले पड़े रहते हैं। इसी प्रकार वाणिज्य का कार्य भी एक देश से दूसरे देश में जाकर तभी हो सकता है, जब उसकी रक्षा का भार राजा के ऊपर निर्भर हो। उनके रास्ता में जो भी कठिनाई आती है उन्हें राजा के सैनिक दूर करते हैं। जैसे राह में चोर, लुटेरों का डर रहता है और जंगल में अवसर देखकर प्रायः लुटेरे व्यापारी को लूट भी लेते थे। किन्तु राजा की सुव्यवस्था के होने से देश के लुटेरे सदा दंडित होते थे और जीवन भर उन्हें कारावास में ही पड़ा रहना पड़ता था या किसी को फाँसी की सजा हो जाती थी। जिससे सम्पूर्ण दुष्ट कर्म करने वाले समाप्त हो जाते थे और राजा के क्षत्रिय सैनिक जंगलों में घूम घूमकर उनका की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करते थे। इसी सुरक्षा के कारण हमारे देश में व्यापार बहुत ऊँचा था। तीसरा कार्य पशु का गो रक्षा था। प्राचीन काल में गायों की भी चोरियाँ हो जाती थी क्योंकि पहले पक्के मकान तो थे नहीं, जो ताले लगाकर गायों को अन्दर बाँध लेते। उस समय जंगल अधिक था इस कारण सम्पूर्ण पशु खुले मैदानों में ही रहते थे। उनकी रक्षा भी राजा के द्वारा ही होती थी, तभी गायों का प्रबन्ध ठीक रहता था। शूद्र प्राचीन काल में तीनों वर्णों के सेवक थे। इसलिये उनका जीवन भी सुरक्षा चाहता था। सेवक होने के कारण उन्हें कोई पीट सकता था तथा उन्हें कठोर सजा भी दे सकता था। इसीलिये उनकी रक्षा का भार भी राजा पर ही होता था। राजा ही उनके सब कार्यों की देख भाल करता था तथा वही उनके कामों का समय निर्धारित करता था। वही सब द्विजों को यह बता था कि इस काम को यह इस सेवक को तथा इतने समय तक यह काम करेगा आदि सम्पूर्ण सेवकों के कार्यों की भी सूची राजा के पास रहती थी। यदि कोई सेवक ठीक काम नहीं करता था, तो राजा उसका पता लगवाता था और उसकी गलती पर उसे दण्ड देता था। इसी प्रकार जो कोई भी उच्चवर्ग किसी सेवक को दुःख देता था तो उसकी सुनवाई राजा करता था और उसका उचित न्याय करता था। इस प्रकार राजा को चारों वर्णों की रक्षा का भार स्वयं लेना पड़ता था और इससे देश में सुख शान्ति बनी रहती थी। कुन्ती ने शूद्रों की रक्षा के विषय में युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि जो क्षत्रिय राजा अपनी शरण में आये हुए शूद्र का प्राण

सकट मे बचाता है वह इस ससार म उत्तम धन धान्य स सम्पन्न एव राजाओ द्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुल म जन्म लेता है।"१७

इस प्रकार चारो वर्णों की रक्षा का भार लेकर क्षत्रिय राजा देश म यश और शान्ति स्थापित करता था। धर्मशास्त्रो के कथन के अनुसार सब वर्णों की रक्षा के बदले म जो भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ उत्तम लोको की प्राप्ति तथा देश धनधान्य से पूर्ण होता था वह सब श्रेष्ठ राजा को ही प्राप्त होते थे। कुछ न करने वाले राजा को कुछ भी प्राप्त नही होता था तथा उसके राज्य म प्रजा दु खी और भूखी रहती थी। अनेक स्थानो पर अकाल पड जाते थे अनेक स्थानो पर बाढें आ जाती थी जिससे सम्पूर्ण देश की प्रजा त्राहि त्राहि करने लग जाती थी और श्रेष्ठ धर्मात्मा तथा पराक्रमी राजा के लिये भगवान से प्रार्थना करती थी। रक्षा-कर्म क्षत्रियो का सब धर्मों स बढ कर है बढ कर है तथा रक्षा धर्म ही सब धर्मों म श्रेष्ठ हैं। क्षत्रियो की रक्षा के द्वारा ही इस पृथ्वी पर सबको सुख शान्ति प्राप्त होती है। सुरक्षा के ही द्वारा ब्राह्मणो, वैश्यो तथा क्षत्रियो के बडे-बडे काम निर्विघ्नता पूर्वक सफल और पूर्ण होते हैं। क्षत्रियो के पराक्रम से दुष्टों का दलन होता है और सत्पुरुषो को साहस मिलता है। क्षत्रियो के बल और पराक्रम से ही यह पृथ्वी हरी भरी है। उनके ही बल से आज प्राचीन ग्रन्थ हमारे समक्ष बचे हुए हैं। क्षत्रियो ने सम्पूर्ण देश म शान्ति रहती थी और सम्पूर्ण प्रजा सुखी थी। अपना तन, मन धन देकर ही क्षत्रिय राजा अपने देश की रक्षा करते आये हैं और अपने देश का मस्तक ऊँचा किए हुए हैं। आज भी विश्व भर म क्षत्रियो जैसा पराक्रम किसी अन्य जाति म दिखाई न दिया और न देगा। भारत ही एक ऐसा देश है जिसके क्षत्रिय राजाओ ने अपने देश की रक्षा के लिये अपने प्राण तक दे दिये किन्तु युद्ध से हार कर पीछे न लौटे। या तो विजय प्राप्त करके ही लौटे, नही तो युद्ध म ही प्राण गँवा दिये और अपनी यशकीर्ति सबके सामने छोड गये।

१७—शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम्।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते॥
आदिपर्व—अध्याय १६१, श्लोक २५

५—युद्ध क्षत्रियो का मुख्य धर्म है—

प्राचीन काल म युद्ध करना क्षत्रिया का प्रधान कम था। वे धम युद्ध म ही विश्वास रखते थे। अत क्षत्रिय सदव ही धम युद्ध किया करते थे। युद्ध करते समय भी क्षत्रिया के समक्ष सदव धम रहता था। वे किसी का धनुप टूटने पर युद्ध बद कर देते थे और दूसरा धनुप उसे प्राप्त न हो जाता था तब तक उस पर बाणो की वर्षा नहीं करते थे। शत्रु का रथ टूट जाता था तो उस समय भी युद्ध बद कर देते थे। इसी युद्ध को धमयुद्ध कहा जाता है। क्षत्रियो का लक्ष्य केवल शत्रु को मारना नही रहता, वरन् धम पूवक युद्ध करके मारना उन्हे उचित लगता था। धोखे से या कोई अस्त्र शस्त्र न होने पर मारना तो बहुत सरल है परन्तु समानता के आधार से युद्ध करके विजय प्राप्त करने म ही सच्ची सफलता है। इसी को धमयुद्ध की विजय की सज्ञा दी जाती है। जो क्षत्रिय धमपूवक लड कर विजय प्राप्त करता है विश्व म उसी की यश कीर्ति की ध्वजा सवदा के लिये अमर हो जाती है।

दुर्योधन के मामा शकुनि ने जब युधिष्ठिर को सभा म बुलाकर उनके साथ जुआ खेलने का प्रस्ताव रखा तब युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा कि शठता पूवक जुआ खेलना पाप है। धर्मानुकूल विजय तो युद्ध म ही प्राप्त होना है, अत क्षत्रिया के लिये युद्ध ही उत्तम धम है जुआ खेलना नही,[१८] धर्मात्मा युधिष्ठिर शकुनि की बातो म जुआ खेलने की अनिच्छा होने हुए भी राजी हो गये। दुर्योधन यह जानता था कि पाण्डवो को युद्ध म नही हरा सकते इसलिये उन्हे जुआ के द्वारा वन म करने का सरल उपाय यही सूझा जो अन्त म कौरवो के विनाश का कारण बना।

महाभारत म जरासध और श्रीकृष्ण के सवाद म श्रीकृष्ण ने जरासध से कारावास म बन्दी बनाये हुए दूसरे राजाओ को मुक्त करने के लिये कहा तब अभिमानी राजा जरासध ने श्रीकृष्ण से कहा कि देवताओ या

१८—इद वै देवन पाप निकृत्या कितव सह।
　　धर्मेण तु जयो युद्धे तत्पर न तु देवनम्॥
　　　　सभापर्व–अध्याय–५८ श्लोक १०

बलि देने के लिये उपहार रूप मे विजय प्राप्त करके लाये हुए इन राजाओ को आपके भय से नही छोड सकता हू। श्रीकृष्ण ने जरासध से कहा कि वेदाध्ययन स्वग प्राप्ति का कारण है, परोपकार रूप महान यश भी स्वग का हेतु है तपस्या को भी स्वग लोक का साधन बताया गया है परन्तु क्षत्रिय के लिये इन तीनो की अपेक्षा युद्ध मे मृत्यु का कारण ही स्वग प्राप्ति का अमोघ साधन है'[१९] क्षत्रिय का युद्ध म मरण सवश्रेष्ठ धम माना जाता है। युद्ध म तत्पर रहने वाला राजा क्षत्रिय यदि सग्राम भूमि म शत्रु के सम्मुख जूझते हुए प्राणो का परित्याग कर दे तो वह इहलोक और परलोक म निमल कीर्ति का भागी होता है।

भीमसेन के द्वारा जब कण मारा गया तब युद्ध के भय से दुर्योधन के सनिक युद्ध भूमि छोड कर भागने लग, तब दुर्योधन ने उन्हे क्षत्रिय धम का उपदेश देते हुए ललकार कर ठहरने को कहा कि 'युद्ध धम से बढ कर क्षत्रिय के लिये कोई स्वग का श्रेष्ठ माग नही है। दीघकाल तक पुण्यकम करने स प्राप्त होने वाले पुण्य लोको को वीर क्षत्रिय युद्ध से तत्काल प्राप्त कर लेता है।'[२०] क्षत्रियो के लिये युद्ध छोड कर भागने से बढकर दूसरा कोई अत्यन्त पापपूर्ण कम नही है। युद्ध से भाग कर आये हुए क्षत्रिय का माता तथा स्त्री भी सम्मान नही करती थी। माता पुत्र को भाग कर आया हुआ जान कर उससे यही अपमानजनक शब्द कहती है कि बेटा तूने मेरा दूध नही पिया है यदि मेरा दूध पिया होता तो आज इस प्रकार अपने धम को छोड कर नही भागता। ससार म उसी क्षत्राणी माता को आनन्द मिलता है जिसका पुत्र या

१९—स्वगयोनिमहद् ब्रह्म स्वगयोनिमहद् यश ।
स्वगयोनिस्तपो युद्धे मृत्यु सोऽव्यभिचारवान् ।
सभापर्व-अध्याय २२, श्लोक १८

२०—न युद्धधर्माच्छ्रेयान् हि पन्था स्वगस्य कौरवा ।
सुचिरेणार्जिताल्लोकान् सद्यो युद्धात् समश्नुते ॥
शल्यपर्व—अध्याय ३, श्लोक ५७½

तो युद्ध म लडते लडते अपने प्राण भी दे दे या युद्ध म अपना पराक्रम दिखाकर उसम विजय प्राप्त करके घर लौटे। युद्ध से भागे हुए पुत्र को कायर के समान समझ कर वे माता उसका मुख देखना भी पाप समझती है। इसी प्रकार क्षत्राणी स्त्रियाँ अपने पति को युद्ध म जाने के लिये प्रोत्साहित करती हैं उन्हें बडे हर्ष के साथ सजाती है और चलते समय उनकी आरती उतार कर कहती है कि अब या तो आप विजय प्राप्त करके सकुशल घर आवें हम दर्शन होंगे अन्यथा यदि आप युद्ध म पुण्यगति को प्राप्त हुए तो हम भी आपके पीछे पीछे सती होकर आयेंगी और स्वग म ही फिर हम लोगो का मिलना हो सकेगा क्षत्राणी स्त्रियाँ युद्ध म अपने पतियो को भेजने से नही डरती था बल्कि उन्हें भेजने के लिये प्रोत्साहित करती थी।

जब कौरव और पाण्डवो की सेनाएँ युद्ध-स्थल म इकट्ठी हो गई और युद्ध आरम्भ हो गया, तब अन्धे धृतराष्ट्र ने सजय से कहा कि ऐसी दशा म अब जो कुछ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा। कहते हैं युद्ध म शरीर त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रिय धम है।'[21] सजय ने धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा कि मनुष्य तीन प्रकार के कर्मों से प्रेरित होकर काय करते हैं (१) ईश्वर की प्रेरणा से वे काय करते हैं (२) आकस्मिक सयोगवश कर्मों म प्रवृत्त होते हैं तथा (३) अपने पूव कर्मों की प्रेरणा से काय करते है। इसलिये मनुष्य को सकट देखकर घबराना नहीं चाहिये। धैय पूवक उस सकट का सामना करने को उद्यत रहना चाहिये। कौरवों का नाश होते देखकर धृतराष्ट्र बडे दुःखी होने लगे तब विदुरजी ने उनसे कहा कि क्षत्रिय के लिए इस जगत म धमयुद्ध से बढ कर दूसरा कोई स्वग प्राप्ति का उत्तम माग नही है।"[22] ससार म समस्त प्राणी मृत्यु के बाहुपाश म फसे हुए है,

२१—एत गत च तद् भावि तद् भविष्यति सजय।
　　क्षत्रधम किल रणे तनुत्यागो हि पूजित ॥
　　　　　　उद्योगपव—अध्याय १४८, श्लोक ७

२२—एव राजस्तमाचक्षे स्वग्य पन्थानमुत्तमम्।
　　न युद्धादधिक किञ्चित् क्षत्रियस्येह विद्यत ॥
　　　　　　स्त्री पव—अध्याय २ श्लोक १८

इसलिए किसी न किसी दिन मृत्यु सबको अपना शिकार बनायेगी। ससार म भौतिक वस्तुओ की भौतिक उन्नतियो का अत पतन म है। सारे सयोग का अन्त वियोग मे ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन का अत मृत्यु म ही होने वाला है। जब सबको ही मृत्यु के पास जाना है तो फिर वीर क्षत्रिय लोग युद्ध क्या न करें और फिर युद्ध म ही मृत्यु प्राप्त करके अपना नाम अमर क्यो न करें अवश्य करें। क्षत्रियो का यश और कीर्ति युद्ध मे स्वग प्राप्ति स होता है।

युद्ध क्षेत्र म सेना को भागते हुए देखकर क्षत्रियो के लिये युद्ध म मृत्यु श्रेष्ठ है एसा कह कर सनिको को रोकते हुए दुर्योधन ने कहा कि "क्षत्रिय धम के अनुसार युद्ध करने वाले वीरों के लिए सग्राम भूमि म होने वाली मृत्यु ही सुखद है, क्योंकि वही मरा हुआ मनुष्य मृत्यु के दुख को नही जानता और मृत्यु के पश्चात अक्षय सुख का भागी होता है।[२३] दुर्योधन की उस बात का आदर करके वे महारथी क्षत्रिय पुन युद्धस्थल मे लौट आये और अपना पराक्रम दिखाने लगे। क्षत्रिय सैनिक अपने क्षत्रिय धम को स्मरण करके अपने धम के काम मे मग्न हो गये। क्षत्रियो का धम बताते हुए श्रीकृष्ण ने अपनी बहिन सुभद्रा को धीरज बधाया जो अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से परम दुखी हो रही थी। श्रीकृष्ण ने कहा कि "शूरवीर अभिमन्यु न क्षत्रिय धम को आगे रख कर सत्पुरुषो की गति पाई है। जिसे हम लोग इस ससार के दूसरे शस्त्रधारी क्षत्रिय भी पाना चाहते हैं।"[२४] क्षत्रिय के लिये युद्धस्थल की मृत्यु

२३—सुख सांग्रामिको मृत्यु क्षत्रधर्मेण युध्यताम्।
मृतो दुख न जानीत प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते॥
शल्यपर्व—अध्याय ३, श्लोक ५४।

२४—क्षत्रधर्म पुरस्कृत्य गत शूर सतां गतिम्।
यां गति प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविन॥
द्रोणपर्व—अध्याय ७७, श्लोक २१

से बढ़कर दूसरा कोई सद्गति नहीं है। क्षत्रियों के धर्म बताते हुए युधिष्ठिर ने वन में कहा कि 'बाण विद्या क्षत्रियों का उत्कर्ष है, यज्ञ उनका अभ्युदय का साधन है, भय मानवीय भाव है और शरण में आये हुए का त्याग करना असत्पुरुषों का-सा आचरण है।[२५] बाण विद्या क्षत्रियों का प्रमुख कर्म है। प्राचीन काल में क्षत्रियों का युद्ध बाणों से ही होता था। इसलिए प्रत्येक क्षत्रिय को बचपन से ही बाण विद्या का ज्ञान गुरु के यहाँ रह कर सिखाया जाता था। विद्या अध्ययन के साथ-साथ क्षत्रिय पुत्र युद्ध की शिक्षा भी ग्रहण करते थे। युद्ध क्षत्रियों का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कार्य था। युद्धस्थल में क्षत्रियों का साथ बाण विद्या ही देती थी। जो जितना निपुण होता था वह उतना ही अधिक युद्धस्थल में ठहर सकता था। बाणों से दूसरों को मारना तथा दूसरे के बाणों से अपनी रक्षा करना यह बड़े कला-कौशल का काम था। महाभारत काल में उस समय बाण विद्या में जितने निपुण अर्जुन और कर्ण थे, शायद ही उस समय इस पृथ्वी पर कोई तीसरा मनुष्य है। कर्ण की मृत्यु के बाद तो अर्जुन एकमात्र धनुर्धर वीर थे जिन्होंने अपने धनुष कौशल से समस्त पृथ्वी के राजाओं को स्तम्भित कर दिया था। इस प्रकार बाण विद्या सचमुच ही क्षत्रियों का अलंकार था।

६—सत्य से विचलित न होना क्षत्रिय धर्म—

यों तो क्षत्रियों के लिये बहुत से प्रधान कर्म हैं किन्तु सत्य उन सब कर्मों से ऊपर है। क्षत्रिय राजा सर्वदा सत्य बोलते हैं। राजा दशरथ से अनजाने में श्रवणकुमार की मृत्यु हो गई। तब उनके अंधे माता पिता को पानी लेकर आये हुए दशरथ ने अपना सम्पूर्ण अपराध उन्हें सत्य-सत्य बता दिया और उनके पूछने पर उन्हें अपना नाम भी बता दिया। यदि कोई असत्यवादी पुरुष होता तो उन अंधे माता पिता को कोई भी बहाना बता कर उसकी मृत्यु का कारण बता देता और स्वयं उनके शाप से बच जाता। किन्तु क्षत्रिय सत्य को कभी नहीं त्यागते चाहे स्वयं अपने प्राण ही क्यों न चले जाय।

२५—इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव।
भयं च मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव॥
वनपर्व—अध्याय-३१३, श्लोक ५२

इसी प्रकार सत्य का पालन करने वाले अनेक क्षत्रिय राजा हमारे प्राचीन इतिहास में हो गये हैं जिन्होंने अपने सत्य की रक्षा के लिए अपना धन राज सर्वस्व दे दिया तथा अपने पुत्र का जीवन भी अपने हाथों से समाप्त किया। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का वृतान्त तो घर घर में विख्यात है कि उन्होंने अपने सत्य की रक्षा के लिए अपना राजपाट, धन दौलत तो दिये ही थे, अपनी स्त्री और पुत्र को भी बेचा था तथा रुपया की कमी के कारण स्वयं भी बिक गये थे, और सत्य की रक्षा के लिए ही उन्होंने श्मशान की नौकरी की थी। इसी प्रकार सत्य का दूसरा उदाहरण राजा मोरध्वज का है जिन्होंने अपने सत्य के लिए अपने पुत्र को आरे से काटा था। ऐसे करुण और हृदयस्पर्शी उदाहरण भारत के ही इतिहास में मिलेंगे, जहाँ क्षत्रियों को अपनी स्त्री सन्तान तथा राजपाट से भी बढ़कर सत्य का पालन करना धर्म था। अन्य किसी देश में सत्य के ऐसे उदाहरण नही मिलते।

सत्यवादी भगवान् भीष्म ने बचपन में ही अपने विवाह न करने की प्रतिज्ञा करली थी और आधी उम्र के बीत जाने पर भी उन्होंने विवाह नहीं किया। जब काशिराज की तीन कन्याओं का स्वयंवर हो रहा था, उस समय भीष्मजी अन्त मे अकेले उस स्वयंवर में पहुंचे, तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह तो आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, फिर भी इस स्वयंवर मे कैसे आये हैं। उन कन्याओं ने भी श्वेतकेश देखकर जयमाला उनके नही डाली और शीघ्रता से आगे बढ़ गई। इस अपमान से उन्हें बड़ा क्रोध आया और सब राजाओं को ललकार कर तीनों कन्याओं को हठपूर्वक रथ पर बैठा कर चल दिये। अनेक राजाओं ने उनका पीछा किया किन्तु भीष्म से कोई भी नहीं जीत सका अन्त में सब हारकर लौट गये और शान्तनु के पुत्र उन तीनों कन्याओं को साथ लेकर अपने छोटे भाई के राज्य में आ पहुंचे। उन्होंने आकर तीनों कन्याओं का विवाह विधिपूर्वक अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य से करने के विषय में माता से सलाह ली और श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बुला लिया। सबसे बड़ी लड़की ने जो उम्र में भी विचित्रवीर्य से बड़ी थी। भीष्म तथा ब्राह्मणो से कहा कि मैं पहले शाल्व नरेश को अपना पति मान चुकी हूं तथा स्वयंवर में मैं उन्हीं का वरण करती। यह सुनकर भीष्म ने तथा ब्राह्मणों ने उस बड़ी लड़की को शाल्व नरेश के यहां पहुँचा दिया और छोटी दोनों बहिनों का विवाह विधिपूर्वक छोटे भाई विचित्रवीर्य से कर दिया। किन्तु दुर्भाग्य से सात वर्ष के बाद यह यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर स्वर्गवासी

हो गया । उनक कोई स तान नही थी। यह सोचकर भीष्म की माता सत्यवती ने भीष्म से कहा कि अब कुल की लाज तुम्हार हाथ है। अब तुम राज्य का भार ग्रहण करो और इन सुन्दर युवावस्था को प्राप्त हुई विचित्रवीय की स्त्रियो को अपनी पत्नी स्वीकार करके कुल परम्परा को बढाने वाला पुण्यकाय करो। यह सुनकर भीष्म न माता स कहा कि मैं तीनो लोको का राज्य, देवताओ का साम्राज्य अथवा इन दोनो से भी अधिक महत्त्व की वस्तु का भी एक दम त्याग सकता हूँ परन्तु सत्य को किसी प्रकार नही छोड सकता।'[२६] इस प्रकार भीष्म भी राज्य तथा कुल की परम्परा की वृद्धि से भी सत्य को ही अधिक मानते थे। क्षत्रियो के लिए सत्य को ही अधिक मानते थ। क्षत्रियो के लिए सत्य सब धर्मों म बढकर श्रेष्ठ धम है। हिन्दी म सत्यव्रत हरिश्चन्द्र का उनकी सत्यता के प्रति यह दोहा लोक प्रसिद्ध हो गया है—

'चन्द टर सूरज टरे टरे जगत व्यवहार।
प दृढव्रत हरिचन्द को मिटे न सत्य विचार॥

क्षत्रिय अपने सत्य को पूरा करना सबसे बडा धम मानते थे। भीष्म की माता ने फिर भीष्म से आग्रह किया तो भीष्म ने उनसे कहा कि आप जो कह रही हैं वह भी उचित ही है किन्तु क्षत्रियों के धम को भी तो देखो राजमाता धम की ओर दृष्टि डालो क्षत्रिय का सत्य स विचलित होना किसी भी धम म अच्छा नही माना गया है।'[२७] क्षत्रिय के लिए जो सनातन धम है उसे आप कर सकती हैं।

२६—परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुन ।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथचन॥
आदिपव—अध्याय—१०३, श्लोक १५

२७—राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा न सर्वान् व्यनीनश ।
सत्याच्च्युति क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते।
आदिपव—अध्याय—१०३, श्लोक २४

७— यज्ञ करना तथा याचना न करना क्षत्रिय धर्म है—

प्राचीनकाल में क्षत्रियों का मुख्य धर्म यज्ञ करना तो था ही, ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर बड़े-बड़े यज्ञ कराना भी उनका धर्म था। सूर्य वंशी अनेक राजाओं ने बहुत-सा दान दिया था। प्राचीनकाल में प्रत्येक राजा अपने समय में यज्ञ अवश्य कराया करते थे। यज्ञ कराने से वर्षा अधिक होती थी, जिससे प्रजा धनधान्य से सुखी रहती थी। यज्ञ से वायु शुद्धि होती थी, अनेक व्याधियां दूर भागती थी। यज्ञ करने से मन तथा भाव भी शुद्ध हो जाते थे जिससे लोगों का मन पुण्यकार्यों की ओर झुकता था। यज्ञ कराने से राजा के अनेक मनोरथ पूर्ण होते थे। अनेक राजाओं को यज्ञ के द्वारा सन्तान तक प्राप्त हुई थी। यज्ञ कराने से राजा तथा प्रजा सभी सुखी रहते थे। सबके मन प्रसन्नता से हर समय खिले रहते थे। वैशम्पायन ने क्षत्रिय के लिये यज्ञ करना धर्म के विषय में कहा है कि 'क्षत्रिय लोग बहुत-सी दक्षिणा वाले बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा यजन करते थे। ब्राह्मण अंगों और उपनिषदों सहित सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करते थे।[२८] यज्ञ कराना क्षत्रियों का सनातन धर्म है। धर्मशास्त्रों में यज्ञ करना और कराना क्षत्रियों का प्रधान कर्म माना गया है।

याचना करना धर्मशास्त्रों में केवल ब्राह्मणों का ही धर्म बताया है और किसी वर्ण के लिए याचना करना अधर्म है। याचना करना ब्राह्मणों का धर्म इसलिये बताया है कि वह अध्यापन तथा वेदों के अध्ययन में इतने लीन रहते हैं कि वह अपने लिए धन इकट्ठा नहीं कर सकते। उसकी दीनता तथा गरीबी के कारण ही धर्मशास्त्रों में याचना करना केवल ब्राह्मणों के लिए ही लिखा है। क्षत्रिय और वैश्य धन से समर्थ तथा सम्पन्न होते हैं तथा उन दोनों का धर्म ही धन का संग्रह करना है। केवल ब्राह्मण ही धन के संग्रह से वंचित रहता है। इसलिये वह ही याचना का अधिकारी है। द्रौपदी के लिए कमल लाने के लिए जब भीमसेन कुबेर के जलाशय पर पहुंचे तो वहाँ के रक्षक राक्षसों ने भीमसेन को कमल तोड़ने से रोका और उनसे कहा कि आप कुबेर से आज्ञा लेकर आइये तभी इन कमलों का स्पर्श करो। तब भीमसेन ने कहा कि

२८— ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः।
साङ्गोपनिषदान् वेदान् विप्राश्चाधीयते तदा।
आदिपर्व-अध्याय-६४, श्लोक १६

क्षत्रिय किसी से कुछ माँगते नहीं हैं। यही हमारा सनातन धर्म है। मैं किसी तरह क्षात्र धर्म को छोड़ना नहीं चाहता।[२६] भीमसेन ने अपना पराक्रम से सब पहरेदार राक्षसों को हराकर भगा दिया और कमल तोड़ ही लिये। उनके पराक्रम को देखकर कुबेर भी प्रसन्न हो गये और अपने पहरेदारों को यह कह कर लौटा दिया कि उन्हें कमल ले जाने दो। क्षत्रियों का धर्म सबसे बढ़कर है तथा उनका पराक्रम अद्भुत है।



२६—न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथंचन ॥
वनपर्व—अध्याय-१५४, श्लोक १०

अध्याय—१०

महाभारत में राजधर्म

१—राजधर्म की श्रेष्ठता—

राज धम का अथ राजा का धम है। धार्मिक मान्यता के अनुसार क्षत्रिय को ही राजा होना उचित है। प्रजा की रक्षा और प्रजा का पालन राजा का मुख्य धम है। य क्षत्रियो के ही कत्तव्य है। पुरुष सूक्त मे क्षत्रियो के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षत्रिया का वग एक प्रकार से राजाओ का समूह (राजन्य) ही है। पराक्रम और रक्षा के द्वारा प्रत्येक क्षत्रिय राजधम का ही पालन करता है और वह राजन्य' पद का अधिकारी है। अत व्यापक और सामान्य अथ म क्षत्रिय और राजा एक दूसरे के पयाय के समान हैं। किन्तु विशेष अथ मे दोनो म कुछ भेद किया जा सकता है। राजा क्षत्रिया के सम्पूण वग का प्रतिनिधि होता है और वह एक भूखण्ड का शासक होता है। सामान्य क्षत्रिय धम के अतिरिक्त उसके कुछ विशेष धम होते हैं। रक्षा और युद्ध की व्यवस्था एव उनका नेतृत्व राजा का प्रमुख धम है। राजपद और राजधम का इसी विशेषता की दृष्टि से राजधम का पृथक् वणन किया गया है। शासन न्याय दण्ड, युद्ध प्रजापालन आदि राजा के मुख्य धम हैं। महाभारत राजाओ का चरित है। अत उसमे राजधम और राज नीति का विशद् वणन मिलता है। राजधम को क्षत्रिय धम का ही विशेष रूप मान सकते है। राजा के द्वारा राजधम के पालन के ऊपर ही प्रजा के सभी वर्णो का धमपालन निभर करता है। क्षत्रिया का सामान्य धमपालन भी राजधम पर ही अवलम्बित है। अत राजधम सभी धर्मो मे श्रेष्ठ है। वह समाज के धम प्रासाद की नीव है। प्रजातन्त्र के शासन म भी राजधम का महत्त्व अक्षुण्ण रहता है। प्रजा के प्रतिनिधि होते हुए भी शासको मे प्रजा पालन, धर्माचरण राजनीति आदि के गुण अपेक्षित होते है। शासन का

संचालन राजधर्म के अनुसार ही होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि राजतन्त्र की परम्परा में राजा वंशपरम्परा से शासन का अधिकारी होता था और प्रजातन्त्र में वह जनमत से चुना जाता है।

महाभारत राजाओं का चरित है। अतः राजधर्म की श्रेष्ठता और राजाओं के कर्तव्य का उसमें विशद् वर्णन मिलना स्वाभाविक है। उतथ्य ने राजा मान्धाता से कहा कि "राजा की उपमा सब प्रकार से हजार नेत्रों वाले इन्द्र से दी जाती है। अतः राजा जिस धर्म को भली भाँति समझ कर निश्चित कर देता है वही श्रेष्ठ धर्म माना गया है।"[1] राजा को इन्द्र के समान हजार नेत्र वाला इसलिए कहा गया है कि वह भी अपने देश के समस्त हजारों कार्यों को स्वयं देखता है तथा स्वयं कराता है। श्रेष्ठ राजा वही कहलाता है जो प्रजा तथा देश के समस्त सुखों दुःखों को देखता रहे। राजधर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य सब धर्म इसी धर्म के आश्रय में पलते तथा बढ़ते हैं। यदि राजधर्म हमारा उचित धर्म का पालन न करे और देश के अन्य सब धर्म भी शिथिल पड़ जायेंगे और अपने धर्म से विचलित होने लगेंगे। राजधर्म की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "यदि दण्डनीति नष्ट हो जाय तो तीनों वेद रसातल को चले जायें और वेदों के नष्ट होने से समाज में प्रचलित हुए सारे धर्मों का नाश हो जाय। पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमों के सम्पूर्ण धर्मों का ही लोप हो जायगा।"[2] चारों आश्रमों के धर्म तथा चारों वर्णों के धर्म सब राजधर्म पर

१—सहस्राक्षेण राजा हि सर्वधर्मोपदिश्यते ।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥

शान्तिपर्व—अध्याय ९१ श्लो० ४५

२—मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां
सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः ।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः
क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥

शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लो० २८

ही आश्रित रहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम राजा की नीति के ऊपर ही रहता है क्योंकि ब्रह्मचारी बालक ब्राह्मण के यहां आकर पढते हैं तथा शहर से भिक्षा प्राप्त करके अपना उदर पालन करते हैं। यदि राजा धर्मात्मा होगा तब तो सम्पूर्ण प्रजा भी धर्मात्मा होगी और इन ब्रह्मचारियों को भिक्षा देकर उनका ब्रह्मचर्याश्रम सफल करेगी। ब्राह्मण भी उन ब्रह्मचारियों को ज्ञान की तथा विद्या की शिक्षा तभी दे सकेगा जब राजा की ओर से उसके मन में श्रद्धा आदर तथा धर्मपरायणता का भाव होगा। जंगल में हिंसक पशुओं से रक्षा का भार भी राजा पर ही होता है। यदि राजा ब्राह्मणों की रक्षा की सुविधा का ध्यान रखेगा, तभी ब्राह्मण शिष्यों को उचित शिक्षा का ज्ञान करा सकता था। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहने वाला मनुष्यों को अन्य तीनों आश्रमों के लोगों का ध्यान रखना पड़ता है। अन्य तीनों आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास गृहस्थाश्रम के आश्रय में ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यदि राजा धर्मात्मा तथा दयावान होगा, तभी गृहस्थाश्रम में रहनेवाली प्रजा भी धर्मात्मा और दयावान होगी और अन्य तीनों आश्रमों के जीवन निर्वाह का ध्यान रखेगी। इसलिए राजधर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है।

राजा के धर्म में सम्पूर्ण त्याग का दर्शन बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजा के धर्मों में सारे त्यागों का दर्शन होता है, राजधर्मों में सारी दीक्षाओं का प्रतिपादन हो जाता है। राजधर्म में सम्पूर्ण विद्याओं का संयोग सुलभ है तथा राजधर्म में सम्पूर्ण लोकों का समावेश हो जाता है।"[३] राजा का जीवन दूसरों को सुख पहुंचाने के लिए होता है। जब तक राजा त्यागी नहीं होगा तब तक उसे दूसरों के सुख-दुःख का भान भी नहीं होगा। इसलिए राजा का जीवन त्यागपूर्ण होता था। राजा सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता होता था और इसी ज्ञान के कारण वह सम्पूर्ण विद्याओं जैसे वाग्-विद्या, संगीत विद्या, नृत्य विद्या, कला की विद्या आदि का आदर-सम्मान

३—सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः
सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः
सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६३, श्लो० २९

की रक्षा करने से राजा को नाना प्रकार के यज्ञों की दीक्षा लेने का पुण्य प्राप्त होता है। जो प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करता है, क्षमाभाव रखता है, आचार्य की पूजा करता है, इष्ट मन्त्र का जप और देवताओं का सदा पूजन करता है, जो राजा युद्ध में प्राणों की बाजी लगाकर निश्चय के साथ शत्रुओं का सामना करते करते मर जाता है, जो सदा समस्त प्राणियों के प्रति माया और कुटिलता से रहित यथार्थ व्यवहार करता है उसे संन्यास-आश्रम से प्राप्त होने वाला पुण्य फल प्राप्त होता है।

युगों का प्रवर्तक भी राजा ही होता है, ऐसा धर्मशास्त्रों का कथन है। महाभारत में भी कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा है कि 'अपने सत्कर्मों द्वारा सत्ययुग उपस्थित करने के कारण राजा को अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होती है। त्रेता की प्रवृत्ति करने से भी उसे स्वर्ग प्राप्ति होती है किन्तु वह अक्षय नहीं होता।'[६] इसका मतलब यही है कि राजा जैसी नीतिवाला होगा उसकी प्रजा भी वैसे ही आचरण वाली हो जाती है। इसीलिए राजा को युग का प्रवर्तक कहते हैं। यदि राजा सद्गुणों वाला होगा तो उसकी प्रजा भी सद्गुणों वाली होगी और उस राजा का समय सतयुग जैसा कहलायगा। सद्गुणी राजा देश में ऐसी नीति रखेगा जिससे शहर में चोर डाकू आदि दुष्ट लोगों की कठोर दण्ड से समाप्ति हो जाय तो सब लोग सद्गुणों वाले ही रहेंगे और देश में सुख शान्ति रहेगी। कहते हैं कि चन्द्रगुप्त के राज्य में लोग घरों में ताले भी नहीं लगाते थे और सब निश्चिन्त तथा निर्भय होकर सोते थे किसी को चोरी का डर नहीं था। उस राज्य में सचमुच सतयुग ही लगता होगा। ऐसे ऐसे कठोर नीति वाले राजा हुए हैं जिन्होंने चोर डाकुओं को तथा ऐसे ही बुरे आचरण वाले मनुष्यों को आधा कमर में न देकर सड़क पर गड़वा कर खड़ा कर दिया था जिससे उनकी दुर्गति को समस्त संसार देखे और उससे समझे कि बुरे काम करने से ऐसा होगा। इस डर के कारण बहुत से लोग तो स्वयं ही सुधर जाते थे और देश में शान्ति बनी रहती। राजा को युग का स्रष्टा कहना उचित ही है—

६—कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते।
उद्योग—अध्याय-१३२ श्लोक १८

"यथा राजा तथा प्रजा" वाली कहावत सही ही लगती है। जिस जिस देश मे अवनति हुई है उस देश का इतिहास जानने से ज्ञात होता कि उस देश का राजा स्वयं ऐसा ही था, जो कुछ न तो देश की उन्नति कर सका और न प्रजा को सुख शान्ति दे सका।

सब देवताओं की भांति राजा भी पूजनीय होता है। युधिष्ठिर के यहां अश्वमेध के सहस्रों राजा इकट्ठे हुए थे, उस समय भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था कि यदि राजा एक वर्ष बिताकर अपने यहां आवें, तो उनके लिए अर्घ्य निवेदन करके उनकी पूजा करनी चाहिए ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषों का कथन है ये सभी नरेश दीर्घकाल के बाद आये हैं। ⁹

२—राजा के कर्तव्य—

क्षत्रिय राजा का सबसे पहला धर्म है प्रजा का पालन करना। प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोग करने वाला राजा धर्म का फल पाता है। राजा के प्रधान कर्तव्य बताते हुए शिवजी ने पार्वती को बताया कि 'इन्द्रिय संयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र कर्म दान अध्ययन, यज्ञोपवीत धारण यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण पोषण, आरम्भ किये हुए कर्म को सफल बनाना अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मो का अनुष्ठान करना, व्यवहार में न्याय की रक्षा करना और सत्यभाषण में अनुरक्त होना, ये सभी राजा के लिए धार्मिक कर्म हैं।'[10] राजा को इन्द्रिय-संयम

९—एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान्।
  त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः।
  सभापर्व—अध्याय—३६, श्लोक २४

१०—तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
  अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ।।
  यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मः क्रियास्तथा।
  भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता।।
  सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रिया।
  व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा।।
  अनुशासन पर्व—अध्याय १४१, ४९ ५० ५१

होना चाहिए जिससे उसकी बुद्धि उचित ढंग से सब के अपराधों को देख सके और दूसरों की स्त्रियों के साथ सद्व्यवहार कर सके। स्वाध्याय राजा के लिए नित्य कर्म है जिससे उसका मन नियमों में बँधा रहे और अनुचित बातों की ओर राजा का मन न जाये। जो राजा नित्य कर्म, स्वाध्याय तथा धार्मिक कार्यों में नित्य लगा रहता है उसकी प्रजा सुखी तथा धर्माचरण करने वाली रहती है। श्रेष्ठ राजा का राज्य सदैव सबको सुख देने वाला होता है। संजय से पाण्डवों की बातें करते समय श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ राजा के कर्त्तव्य इस प्रकार बताये कि "राजा सावधानी के साथ इन सब वर्णों का पालन करते हुए इन्हें अपने अपने धर्म में लगावे। वह कामभोग में आसक्त न होकर समस्त प्रजाओं के साथ समान भाव से बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओं का कदापि अनुसरण न करे।"[11] चारों वर्णों की रक्षा करना तथा उन्हें अपने धर्मों में प्रवृत्त बनाये रखना राजा का ही कर्त्तव्य है। यदि राजा स्वयं अपने धर्म में आसक्त रहेगा तो आधे लोग तो स्वयं ही अपने अपने धर्मों के अनुसार आचरण करेंगे और शेष आधे लोग राजा के भय से उचित मार्ग पर चलेंगे। यदि राजा का भाव प्रजा की ओर समानता का रहेगा तो प्रजा भी राजा के बताये हुए मार्ग पर ही चलेगी क्योंकि जो राजा सारी प्रजा को समान दृष्टि से देखता है उसे प्रजा ईश्वर के समान पूजनीय मानती है। इसलिए राजा को अपनी प्रजा से ऐसा व्यवहार रखना चाहिए जिससे प्रजा किसी भी प्रकार असन्तुष्ट होकर राजा की आलोचना न करे और राजा को श्रेष्ठ एवं देव पुरुष समझे। श्रीकृष्ण ने संजय से कहा कि यदि राजा को ज्ञात हो जाय कि उसके राज्य में कोई सर्वधर्म सम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसी को प्रजा के गुण दोष का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्य में कोई पाप कर्म

---

११ एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो।
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे।
अकामात्मा समवृत्ति प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान्।
उद्योगपर्व—अध्याय-२६ श्लोक २७

करने वाला तो नहीं है।' १२ राजा यदि श्रेष्ठ पुरुषो को आदर दगा, तो व श्रेष्ठ पुरुष भी राजा के लिए अपना तन मन, सब कुछ प्रसन्नता स देंगे। श्रेष्ठ पुरुषो क आधिक्य से राजा के सम्पूर्ण काय विश्वास और अपनपन से पूर्ण होंगे। प्रत्यक काय करने वाला राजा के काम को अपना समझ कर ही करेगा और इससे राजा के देश की उन्नति होगी और वह राजा दूर दूर तक प्रसिद्धि पायेगा।

३—राजा के आचरण मे धम की प्रधानता—

राजा का आचरण सदा धम से युक्त होना चाहिए। धम का आचरण करने वाले राजा को ही सद्बुद्धि प्राप्त होती है और सद्बुद्धि से सब सकट दूर होते हैं। जो राजा धम का आचरण नहीं करता है उसके सब कम व्यथ होते हैं तथा सदव सकटो म फँसा रहता है। धम से विमुख राजा का कभी उद्धार नहीं होता और न वह राजा अपना जीवन शान्ति से व्यतीत कर सकता है। उसक राज्य म प्रजा अशान्त रहती है तथा चोर डाकुआ आदि दुष्ट लोगो का आतक बढ जाता है और प्रजा म त्राहि त्राहि मची रहती है। धम स विमुख राजा की प्रजा विद्रोह करने को उद्यत रहती है और समय देखकर विद्रोह हो भी जाता है। इसलिए राजा को सदव धम का आचरण करना चाहिए। राजा धृतराष्ट्र से कणिक न कहा कि 'राजा यदि सकट म हो तो कोमल या भयकर—जिस किसी भी कम के द्वारा उस दुरवस्था से अपना

१२—श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि
दभिजात सव धर्मोपपन्न।
स त द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधु ॥
उद्योगपव—अध्याय २६ श्लोक २८

उद्धार करे फिर समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे।"[१३] धर्म से विमुख राजा भी जब संकट में पड़ जाता है, तभी उसे धर्म का ज्ञान होता है और संकट के छूट जाने पर यदि वह सद्बुद्धि रखे और धर्म का आचरण करना आरम्भ कर दे, तो वह संकट भी उसके मार्ग दर्शन कराने वाला सिद्ध होता है। मनुष्य का प्रायः स्वभाव ऐसा ही देखा जाता है कि जब तक उस पर संकट नहीं पड़ता, तब तक वह बुद्धि को काम में नहीं लाता और आलस्य में रहकर अनुचित कार्य करता रहता है। किन्तु यदि किसी को संकट से ज्ञान हो जाय तो यह सबसे उत्तम मार्ग है। संकट से ज्ञान होने वाले को भी सद्बुद्धि वाला ही समझना चाहिए। धर्म की प्रशंसा करते हुए द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'यदि धर्म की रक्षा की जाय, तो वह धर्म भी स्वयं राजा की रक्षा करता है। किन्तु वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है।"[१४] यदि राजा धर्म का आचरण करने वाला होता है, तो या तो उस पर संकट आते ही नहीं और यदि आते भी हैं, तो धर्म में वह सब टल जाते हैं अर्थात् धर्म ही उन्हें नष्ट कर देता है। धर्मात्मा राजा की सुरक्षित प्रजा यहाँ जिस धर्म का अनुष्ठान करती है उसका चौथाई भाग उस राजा को मिल जाता है। कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा कि तुम युधिष्ठिर से यह संदेश कहना कि 'यदि राजा धर्म का पालन करता है तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधर्म करता है तो नरक में ही पड़ता है।'[१५] इसका मतलब यही है कि यदि राजा धर्मात्मा

१३—कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन वा।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥
आदिपर्व—अध्या० १३६, श्लो० ७२

१४—राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति॥
वनपर्व—अध्या० ३०, श्लो० ८

१५—राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति॥
उद्योगपर्व—अध्या० १३२ श्लो० १३

होगा, तो उसकी प्रजा उसे ईश्वर तुल्य मानने लगेगी और वह इहलोक तथा परलोक मे देवत्व को प्राप्त करता है। अधम करने वाला राजा इहलोक म भी अशान्ति तथा असन्तोष प्राप्त करता है तथा प्रजा द्वारा अपमानित होता है और परलोक भी बिगाड लेता है अर्थात् नरक मे नाना प्रकार के दुख उठाता है। युधिष्ठिर के धममय स्वभाव को देखकर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा कि 'राज्यलाभ की अपेक्षा धम महान् है। धम की वृद्धि के लिए तप को ही प्रधान साधन बताया है। आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणों क साथ साथ स्वधम का पालन करते हैं, अत आपने इहलोक और परलोक दोनो को जीत लिया है।'[१६] आप जसे जो राजा भी कामना से प्रेरित होकर कुछ नही करते है तथा धन के लोभ से धम का त्याग नही करते हैं वे धम के प्रभाव से ही धमराज कहलाते हैं कृष्ण ने युधिष्ठिर से ऐसा कहा। राजा के लिए राज्य की अपेक्षा धम महान् होता है, इसलिए राजा को धम मे रत रहना चाहिए।

अष्टक-ययाति सवाद म अष्टक न अपने सम्पूर्ण लोक राजा ययाति को देते हुए कहा कि तुम मेरे ही लोको मे घूमते रहना और नीचे न उतरना, मैं तुम्हे अपने लोकों को देता हू। इस पर ययाति ने कहा कि दान लेना केवल ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य है, धमशास्त्रों म अन्य और किसी को दान का अधिकारी नही बताया है। इसलिए आपके द्वारा दिये जाने वाले लोको को मैं ग्रहण नही करता हू क्योंकि य मेरे लिए उचित काय नही है। ययाति ने अष्टक स कहा कि "कोई भी राजा समान तेजस्वी होकर दूसरे से पुण्य तथा योग क्षेम की इच्छा न करे। विद्वान् राजा दववश भारी विपत्ति मे पड जाने पर भी कोई

१६—धम पर पाण्डव राज्यलाभात्
तस्यायमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्याजवाभ्यां चरता स्वधर्मं
जितस्त्वयाय च परश्च लोक ॥

वनपव—अध्याय १८३, श्लो० १६

उद्धार करे, फिर समय होने पर धर्म का आचरण करे।"[१३] धर्म से विमुख राजा भी जब संकट में पड़ जाता है, तभी उसे धर्म का ज्ञान होता है और संकट के छूट जाने पर यदि वह सद्बुद्धि रखे और धर्म का आचरण करना आरम्भ कर दे, तो वह संकट भी उसके मार्ग दर्शन कराने वाला सिद्ध होता है। मनुष्य का प्रायः स्वभाव ऐसा ही देखा जाता है कि जब तक उस पर संकट नहीं पड़ता तब तक वह बुद्धि को काम में नहीं लाता और आलस्य में रहकर अनुचित कार्य करता रहता है। किन्तु यदि किसी को संकट से ज्ञान हो जाय तो यह सबसे उत्तम मार्ग है। संकट से ज्ञान होने वाले को भी सद्बुद्धि वाला ही समझना चाहिए। धर्म की प्रशंसा करते हुए द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'यदि धर्म की रक्षा की जाय, तो वह धर्म भी स्वयं राजा की रक्षा करता है। किन्तु वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है।"[१४] यदि राजा धर्म का आचरण करने वाला होता है, तो या तो उस पर संकट आते ही नहीं और यदि आते भी हैं, तो धर्म से वह सब टल जाते हैं अर्थात् धर्म ही उन्हें नष्ट कर देता है। धर्मात्मा राजा की सुरक्षित प्रजा यहाँ जिस धर्म का अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजा को मिल जाता है। कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा कि तुम युधिष्ठिर से यह सन्देश कहना कि 'यदि राजा धर्म का पालन करता है तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधर्म करता है तो नरक में ही पड़ता है।'[१५] इसका मतलब यही है कि यदि राजा धर्मात्मा

१३—कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥
आदिपर्व—अध्या० १३६, श्लो० ७२

१४—राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति॥
वनपर्व—अध्या० ३०, श्लो० ८

१५—राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति॥
उद्योगपर्व—अध्या० १३२, श्लो० १३

ोगा, तो उसकी प्रजा उसे ईश्वर तुल्य मानने लगेगी और वह इहलोक तथा परलोक म देवत्व का प्राप्त करता है। अधम करने वाला राजा इहलोक म भी अशान्ति तथा असन्तोष प्राप्त करता है तथा प्रजा द्वारा अपमानित होता है और परलोक भी बिगाड लेता है अर्थात् नरक म नाना प्रकार के दुख उठाता है। युधिष्ठिर के धममय स्वभाव को देखकर श्रीकृष्ण न उनमे कहा कि 'राज्यलाभ की अपक्षा धम महान् है। धम की वृद्धि क लिए तप को ही प्रधान साधन बताया है। आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणा के साथ साथ स्वधम का पालन करते हैं अत आपने इहलोक और परलोक दोना को जीत लिया है।"[१६] आप जसे जो राजा भी कामना से प्रेरित होकर कुछ नही करते हैं तथा धन के लोभ से धम का त्याग नही करते हैं, वे धम के प्रभाव से ही धमराज कहलाते हैं कृष्ण ने युधिष्ठिर स ऐसा कहा। राजा के लिए राज्य की अपेक्षा धम महान् होता है, इसलिए राजा को धम म रत रहना चाहिए।

अष्टक-ययाति सवाद मे अष्टक न अपने सम्पूण लोक राजा ययाति को देते हुए कहा कि तुम मेरे ही लोका म घूमत रहना और नीचे न उतरना, मैं तुम्हे अपने लोका को देता हू। इस पर ययाति ने कहा कि दान लेना केवल ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य है धमशास्त्राम अन्य और किसी को दान का अधिकारी नही बताया है। इसलिए आपक द्वारा दिये जाने वाले लोका को मैं ग्रहण नही करता हू क्योकि य मेरे लिए उचित काय नही है। ययाति ने अष्टक से कहा कि 'कोई भी राजा समान तजस्वी होकर दूसरे से पुण्य तथा योग क्षेम की इच्छा न करे। विद्वान् राजा दववश भारी विपत्ति मे पड जाने पर भी कोई

१६—धम पर पाण्डव राज्यलाभात्
तस्यायमाहुस्तप एव राजन्।
सत्याजवाभ्या चरता स्वधम
जितस्त्वयाय च परश्च लोक॥

वनपव—अध्याय १८३, श्लो० १६

पापमय काम न करे।'[१७] राजा को महान् सकट पडने पर भी अपना नहीं छोडना चाहिए। राजा को धर्म की रक्षा राज्य से भी बढकर कर चाहिए। राज्य का सुख तो थोडे से समय का ही होता है, वृद्धावस्था आने उसे पुत्र को सौंपना पडता है, किन्तु धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो इहल में तो अन्त समय तक काम आती ही है, मृत्यु के बाद परलोक में भी धर्म सहायक बनता है ऐसा धर्मशास्त्र का मत है। इसलिए राजा को धर्म का पालन कठिन से कठिन समय पडने पर भी करते रहना चाहिए। मृत्यु समय न पुत्र साथ जाता है न बन्धु-बान्धव और न स्त्री ही। केवल धर्म साथ रहता है और उसी से सद्गति मिलती है। धनदौलत, मकान जायदा ठाट बाट सब क्षणिक और ससार में रहने तक के ही साथी हैं। धर्म अम वस्तु है जो मृत्युपर्यन्त तक साथ जाती है। युधिष्ठिर ने भीष्म जी से धर्मात राजा के आचरण के विषय में पूछा तब भीष्मजी ने वसुमना नामक राजा वामदेवजी ने जैसा आचरण बताया था उसका उदाहरण देकर इस प्रक कहा कि वसुमना राजा को वामदेवजी ने यह व्यवहार बताया कि 'जो भूप धर्म को अर्थसिद्धि की अपेक्षा भी बडा मानता है और उसी को (धर्म को बढाने में अपने मन और बुद्धि का उपयोग करता है वह धर्म के कारण ब शोभा पाता है।'[१८] इसके विपरीत जो राजा अधर्म का व्यवहार या आचर करता है उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोडकर चल जाते हैं

१७—धर्म्य मार्ग यतमानो यशस्य
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाण।
न मद्विधो धर्मबुद्धि प्रजानन्
कुर्यादेव कृपण मां यथाऽऽत्थ॥

आदिपर्व—अध्या० ८२, श्लो० १८

१८—अर्थसिद्धे पर धर्म मन्यते यो महीपति।
वृद्धया च कुरुते बुद्धि स धर्मेण विराजते॥

शान्तिपर्व—अध्या० ९२ श्लो० ७

अधम का आचरण करने वाले राजा की शक्ति भी क्षीण हो जाती है और उसका पराक्रम भी लुप्त हो जाता है। अधर्मी राजा के राज्य म सत्पुरुषा का लोप हो जाता है या तो सत्पुरुष स्वय ही धर्मात्मा राजा के राज्य म चले जाते हैं या एकान्तवास करके अपने सत्कम म लगे रहते हैं और ईश्वर से सवदा राजा को सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना करते रहते हैं। भीष्मजी ने युधिष्ठिर स कहा कि अगिरापुत्र उतथ्य ने राजा मान्धाता को क्षत्रियो के धम के विषय म जो बातें बताई थी वह तुम्हें बताता हूँ। भीष्मजी न कहा कि उतथ्य ने इस प्रकार कहा कि "जब राजा व्यापारियो को पुत्र के समान रक्षा करता है और धम की मर्यादा को भग नहीं करता वही राजा का धम कहा जाता है।"[१९] इसी प्रकार जो राजा पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञों द्वारा श्रद्धा पूवक यजन करता है, वह धर्मात्मा राजा कहलाता है। जो भूखे गरीबो को भोजन देकर स्वय भोजन करता है वह राजा धर्मात्मा समझा जाता है। जो गरीबो को धन की सहायता देकर बलवान बनाता है, वह राजा भी धर्मात्मा कहलाता है। वशम्पायन जी न भीष्मजी स राजा के धम के विषय म बताने को कहा तब भीष्मजी न कहा कि "राजा समस्त प्रजाओ को अपने अपने धर्मों म स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मों का धम के अनुसार अनुष्ठान कराव।"[२०] राजा स्वय तो धम का आचरण करे ही किंतु अपनी चारों वर्णों की प्रजा को भी उनके धम के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करें और समय समय पर उन्हें धम का महत्व बताते हुए

१९—यदा शारणिकाम् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादा स राज्ञो धम उच्यते

शान्तिपर्व—अध्या० ९१ श्लो० ३६

२०—स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजा सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० १९

उन्हें धर्म के आचरण की ओर ही सचेत रखे। उतथ्य ने राजा मान्धाता को राजा के धर्माचरण के विषय में इस प्रकार कहा कि 'सम्पूर्णप्राणी धर्म के ही आधार पर स्थित है और धर्म राजा के ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है वही दीर्घकाल तक पृथ्वी का स्वामी बना रहता है।"[२१] सारी प्रजा राजा के व्यवहार पर ही दृष्टि लगाये रहती है। यदि राजा धर्मात्मा होता है तो उसकी प्रजा भी धर्म का आचरण करने वाली होती है। राजा को संसार समुद्र से पार करने वाली नौका के समान बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'राजधर्म एक नौका के समान है। वह नौका धर्म रूपी समुद्र में स्थित है। सत्वगुण ही उस नौका का संचालन करने वाला बल (कर्णधार) है, धर्मशास्त्र ही उसे बाँधने वाली रस्सी है त्यागरूपी वायु का सहारा पाकर वह मार्ग पर शीघ्रतापूर्वक चलती है यह नाव ही राजा को संसार समुद्र से पार कर देगी।'[२२] इस संसार रूपी समुद्र को राजा ही अपने आचरण द्वारा प्रजा से पार कराता है। यहाँ राजा रूपी नौका धर्मशास्त्र रूपी रस्सी से बँधती है अर्थात् राजा धर्म शास्त्र के नियमों से बंधा रहता है और उन्हीं नियमों के आधार पर अपना जीवन श्रेष्ठ बनाता है। राजा में धर्म का पालन करने से जिस सत्वगुण का उदय होता है वही उसका बल अथवा पराक्रम होता है। त्याग से राजा का जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है और त्याग से ही वह अपने सम्मान का ध्यान न रखकर ज्ञानी विद्वानों का सम्मान करता है वही राजा श्रेष्ठ होता है। उत्तम धर्म का उपदेश देते हुए देवस्थान मुनि ने युधिष्ठिर

२१—धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
त राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः

शान्तिपर्व—अध्या० ९०, श्लो० ५

२२—धर्मे स्थिता सत्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्ते संतारयिष्यति ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६६, श्लो० ३७

से यहा कि "धम का अनुसरण करने वाल, सत्य दान और तप म सलग्न रहने वाल, दया आदि गुणा से युक्त, काम-क्रोध आदि दोषा स रहित प्रजा पालन परायण, उत्तम धम सेवी तथा गौओ और ब्राह्मणा की रक्षा क लिए युद्ध करन वाल नरेशा न परम उत्तम गति प्राप्त की है।"[23] सत्य तथा दया आदि गुणा मे प्रेम करने वाल राजा के राज्य म सदव प्रजा सुखी और प्रसन्न रहती है। गौओ और ब्राह्मणो की रक्षा करन वाल तथा धम का सेवन करने वाल राजा को उत्तम गति मिलती है ऐसा धमशास्त्रों का कथन है।

राज धम क पालन स राजा को चारा आश्रमा के धम का फल मिलता है। भीष्मजी ने युधिष्ठिर स राजा के धम पालन क विषय म इस प्रकार कहा कि देश धम और कुल धम का पालन करन वाला राजा सभी आश्रमा क पुण्य फल का भागी होता है।'[24] राजा को धम का पालन करते समय अपन कुल तथा देश के धम का भी ध्यान रखना चाहिए। कुल परम्परा क अनुसार धम का आचरण करन वाल राजा के राज्य की पृथ्वी धन धान्य से पूर्ण होकर उन्नति को प्राप्त होता है तथा राजा के ऐश्वय को बढाती है। जो राजा अधम का अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि अस्थिर तथा विनाश की ओर जाने लगती है। अधम स युक्त राजा का राज्य अधिक समय तक नही ठहरता। उसका राज्य सवदा डाँवाडोल रहता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। राजलक्ष्मी भी धर्मात्मा राजा के साथ ही ठहरती है। विदुरजी ने धमात्मा राजा के गुण

२३—एव धममनुक्रान्ता सत्यदानतप परा ।
आनृशस्यगुणयुक्ता कामक्रोधविवर्जिता ॥
प्रजाना पालने युक्ता धममुत्तममाश्रिता ।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्त प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २१, श्लोक १८–१९

२४—देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथव च ।
पालयन् पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥

शान्तिपव—अध्याय ६६, श्लोक २९

बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि "धर्म से ही राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसकी रक्षा करें क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मी को पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजा को छोड़ती है।"[२५] अधिक समय तक राज्य लक्ष्मी का उपभोग करने वाले राजा को धर्म पूर्वक आचरण करना चाहिए तभी उसकी कामना पूर्ण हो सकती है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि राजा को युद्ध करने में धर्म के अनुरूप किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह बताने की कृपा करें। तब भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि 'जिसके कोई घाव न हो, उस युद्ध में न छोड़े, यह क्षत्रिय का सनातन धर्म है। अतः धर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए, यह स्वायम्भुव मनु का कथन है।[२६] धर्म युद्ध में तत्पर हुआ जो क्षत्रिय अधर्म से विजय पाता है छल कपट को जीविका का साधन बनाता है, वह पापी स्वयं ही अपना नाश करता है। क्षत्रिय के लिए धर्मपूर्वक युद्ध करके मर जाना ही श्रेष्ठ धर्म है, किन्तु छल कपट से विजय प्राप्त करना अधर्म है।

४—राजा के गुण—

जिस प्रकार से ब्राह्मणों में त्याग तप तथा सात्विक जीवन का होना आवश्यक है, उसी प्रकार से क्षत्रियों में भी कुछ विशेष गुणों का होना परमावश्यक है। वे विशेष गुण अहंकार त्यागना अर्थात् अगर्व उद्यमशील होना, ईर्ष्या रहित होना मधुरवाणी का प्रयोग दान देना आदि क्षत्रिय राजा के लिए विशेष गुण हैं। जिस प्रकार से ब्राह्मणों का कार्य अध्यापन ज्ञान की खोज तथा बड़ी-बड़ी रचनाएँ करना आदि है उसी प्रकार से राजा को अपने

२५—धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
　　धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते॥
　　　　　　उद्योग पर्व—अध्याय ३४, श्लोक ३१

२६—निव्रणश्च न मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः
　　तस्माद् धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥
　　　　　　शान्तिपर्व—अध्याय ९५, श्लोक १४

विभाग करके ही तदनुसार उपभोग एवं उद्यम करना चाहिए। इसी प्रकार देश काल के विभागानुसार ही क्रमशः काम तथा धर्म, अर्थ और मोक्ष का सेवन करना चाहिए। धन और काल को भी धर्म के प्रसार हेतु समर्पित करे। यही नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है। [28] लक्ष्मी भी उद्यमशील राजा का ही वरण करती है और उसके साथ जीवनपर्यन्त तक रहती है। उद्यम से रहित होने पर भी भूख बढ़ा करती है किन्तु उद्यम से अन्य वस्तु उसके पास नहीं पहुँचती। जब वह उद्यम करके उसका निवारण करता है तभी मानो भूख को मिटाता है। अतः सब मनुष्यों को उद्यम करना पड़ता है। बिना उद्यम के मनुष्य अकर्मण्य रह कर समय को व्यतीत करके किसी प्रकार अपना जीवन तो व्यतीत कर लेता है किन्तु उसका जीवन असफल हो जाता है और मृत्यु के समय उसे बहुत पश्चात्ताप होता है कि मैंने कुछ नहीं किया। इसलिए राजा को सदा सर्वदा उद्यमशील होना चाहिए और अपना आदर्श जनता के सामने प्रसन्नता से दरसाना चाहिए। भीष्मजी ने राजा युधिष्ठिर को उपदेशार्थ राजा के लिए इस प्रकार कहा कि राजा को सदा ही उद्यमशील होना चाहिए। जो उद्योग छोड़कर स्त्री की भांति व्यवहार करता रहता है उस राजा की प्रशंसा नहीं होती है। [29] भीष्म ने भी उद्यमशील राजा की ही प्रशंसा की है और बिना उद्यमशील राजा की उपमा घर में घुसी स्त्रियों से की है। जिस प्रकार स्त्रियों का जीवन घर के काम काज करके और बच्चों का पालन पोषण करके व्यय ही पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार आलसी राजा का जीवन

२८—उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता।
विभज्य देशकालौ च सह धर्मान्वयम् ।।
■ श्रेयसो तु तौ श्रेयो देशकालावधि स्थिति ।।
आदि पर्व—अध्याय १३६, श्लोक ८२

२९—नित्योद्युक्तेन च राजा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः।।
शान्तिपर्व—अध्याय ५७, श्लोक १

भी स्वयं ही बीत जाता है और वह राज्य की या देश की कुछ भी उन्नति नहीं कर पाता। उन्नति चाहने वाले राजा को उद्यमशील होना चाहिए।

राजा का तीसरा गुण ईर्ष्या का त्याग है। ईर्ष्या से रहित राजा ही निर्मल बुद्धि वाला होगा। उसकी बुद्धि सबको समान रूप से देखेगी और उचित न्याय करेगी। ईर्ष्या से सबके मन और बुद्धि कलुषित हो जाते हैं तथा विवेक नष्ट हो जाता है। इसलिए ईर्ष्या का त्यागना ही श्रेष्ठ राजा तथा विद्वानों के लिए हितकर है। ईर्ष्या के त्याग के लिए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जिस भूपाल के राज्य में कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो, उसी के द्वारा सनातन धर्म का पालन होता है।[30]

चौथा गुण राजा को मधुर भाषी होना चाहिए। जो अपने मधुर भाषण से सबको वश में कर लेता है, उस राजा की सब प्रकार से सब जगह प्रशंसा होती है और राजा को यश कीर्ति मिलती है। पाँचवां गुण राजा की दानशीलता है। दान करना राजा के लिए सबसे बड़ा धर्म है। दान का महत्व बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि 'स्वयं दुष्टों पर प्रहार कर दानशील बने, मन को वश में रखे, सुरम्य साधन से युक्त रहे, समय-समय पर धन का दान और उपयोग भी करे तथा निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे।'[31] दानशील राजा से सब प्रजा प्रसन्न रहती है। गरीबों को धन की सहायता मिलती है और वह उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं। दान से ब्राह्मणों की तो जीविका ही चलती है और ब्राह्मण लोग वन में कुटिया बनाकर शान्त चित्त से शास्त्रों की रचना इसी दान के आश्रय से करते हैं। राजा का दान

३०—न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः ।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ५७, श्लोक ३७

३१—स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः ।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥
शान्ति पर्व—अध्याय ५७, श्लोक २२

मारने से अनेक सुख-सम्पत्ति प्राप्त होती है तथा इहलोक और परलोक भी उत्तम रहता है। राजा को उत्तम दान से उत्तम पुण्य मिलता है और वह यज्ञों म दक्षिणाओ से भी उत्तम गति प्राप्त होती है। इसलिए उत्तम पुण्य प्राप्त करने वाल राजा को उत्तम दान देना चाहिये।

५. प्रजा-पालन राजा का मुख्य धर्म है—

राजा के लिए जिस प्रकार यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा दान देना धम है उसी प्रकार प्रजा का पालन करना भी राजा का धम है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "इस लोक म प्रजावग को प्रसन्न रखना ही राजाओ का सनातन धम है सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता ही राजोचित कर्तव्य है।"[३२] राजा को चाहिए कि धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाजन का पालन करते रहना चाहिए इससे राजा को सुलभ पुण्य और चिरस्थायी यश प्राप्त होगा। सद्भाव और सदाचार से प्रजा का पालन करने वाले राजा को सम्पूर्ण प्रजा ईश्वरतुल्य मानती तथा पूजती है। यदि राजा प्रजा को सुखी नहीं रख पाता है तो उसका राज्य भी अस्थायी ही रहता है। भीष्म जी ने राजा के सनातनधम को बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "राजा जो प्रजा का रक्षा करता है, यही उसका सबसे बडा धम है। समस्त प्राणियो की रक्षा तथा उनके प्रति दया ही महान् धम है।"[३३] जो राजा प्रजा के साथ धर्मानुकूल बर्ताव करता है उस राजा को चिन्ता तथा पश्चाताप कभी नहीं होता है। धम के अनुकूल व्यवहार करने से राजा कभी अनुचित काय करेगा ही नहीं इसलिए उसे पश्चाताप भी नहीं होगा। सब प्रजा को समान

३२—लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धम सनातन।।
सत्यस्य रक्षण चव व्यवहारस्य चार्जवम्।।

शान्तिपर्व—अध्या० ५७, श्लो० ११

३३—एप एव परोधर्मो यद् राजा रक्षति प्रजा।
भूतानां हि यथा धर्मो रक्षण परमा दया।।

शान्तिपर्व—अध्या० ७१, श्लो० २६

दृष्टि से देखेगा तथा सब पर सर्वदा दया का भाव रखेगा, उस राजा को कभी चिन्ता नहीं होगी। सद्‌व्यवहार से राजा स्वयं प्रसन्नचित्त रहेगा और प्रजा को भी प्रसन्न रख सकेगा। भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि अंगिरापुत्र उतथ्य ने मान्धाता राजा को जो क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया था उसमें उन्होंने प्रजा के लिए राजा के कर्त्तव्य बताये वह सुनो "ब्रह्माजी ने प्राणियों के कल्याणार्थ ही धर्म की सृष्टि की है, इसलिए राजा को चाहिए कि अपने देश में प्रजाजनों पर अनुग्रह करने के लिए धर्म का प्रचार करे।"[३४] ब्रह्मा जी ने धर्म की सृष्टि करके धर्म के प्रचार के लिए ही राजा की नियुक्ति की। जिसमें धर्म का भाव विद्यमान है, उसी को राजा कहते हैं। धर्म की वृद्धि होने पर सदा समस्त प्राणियों का अभ्युदय होता है, धर्म का ह्रास होने पर सबका ह्रास हो जाता है। अतः धर्म का लोप नहीं होना चाहिए। जो राजा सत्कर्म के पालनपूर्वक प्रजा का शासन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है। धृतराष्ट्र के पूछने पर कणिक ने राजा के लिए धर्म बताते हुए कहा कि 'जो राजा सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं, इसलिए सब कार्य दण्ड के द्वारा ही सिद्ध करे।"[३५] राजा को दण्ड देने वाला भी होना चाहिए, क्योंकि दुर्जन दण्ड से ही मानते हैं। राजा के दण्ड की नीति कठोर देख कर आधे लोग तो भय से अनुचित कर्मों को स्वयं ही छोड़ देते हैं किन्तु कुछ लोग इतने पक्के होते हैं कि बिना कठोर दण्ड के अपने कार्यों का छोड़ते ही नहीं। ऐसे दुष्ट लोग या तो मरकर ही छोड़ते हैं या कठोर दण्ड से डर कर अनुचित कर्म बन्द करते हैं।

३४—प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात्॥

शान्तिपर्व—अध्या० ९०, श्लो० १९

३५—नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत्॥

आदिपर्व—अध्याय १३९, श्लो० ७

६ चारो वर्णो की रक्षा करना राजा का धर्म—

राजा का चारो वर्णो की रक्षा करना भी धम बताया है। चारो वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यो का पालन तभी उचित ढग से कर सकेंगे, जब उन्हें यह विश्वास होगा कि राजा हमारी रक्षा का ध्यान रखता है। रक्षा का विश्वास हो जाने पर ही ब्राह्मण धम कम म लगे रहेंगे, शिष्यो को शिक्षा देकर अध्यापन का काय सफल करेंगे तथा राजाओ के बडे-बडे यज्ञ मन्त्रो सहित पूर्ण करायेंगे और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करेंगे। क्षत्रिय लोग युद्ध म जाने की हिम्मत तभी करेंगे जब उन्ह भी यह विश्वास होगा कि हमारे पीछे हमारे परिवार की चिन्ता राजा कर लेगा और उन्ह किसी प्रकार के कष्ट न होंगे। इस आशा को लेकर ही क्षत्रिय युद्ध म अपना जीवन समपण कर देते हैं और अपने पराक्रम के द्वारा अमर हो जाते हैं। इसी प्रकार वैश्य भी अपना वाणिज्य, गोरक्षा कृषि सब निश्चिन्तता से करते है कि राजा हमारी रक्षा कर रहा है, और शूद्र भी अपनी सेवा पूर्ण रूप से करते हैं कि राजा की कृपा दृष्टि हम पर है। रक्षा के विषय म बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि राज्य चाहने वाले राजाओ के लिए राज्य म प्रजाओ की भली भाति रक्षा को छोडकर और कोई सनातन धम नही है रक्षा ही जगत् को धारण करने वाली है।"[३६] जिन श्रेष्ठ राजाओ को राज्य चाहने की कामना हो उन्ह सवप्रथम प्रजा की रक्षा का भार उठाना चाहिए और धमपूवक प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। प्रजा की रक्षा करने वाला राजा ही सदैव सुखी, उन्नतिशील तथा अधिक समय तक राज्य करने वाला होता है। मार्कण्डेयजी जनक के राज्य मे पहुच तो उन्हे एक व्याध मिला वह उन्ह अपने घर ले गया। उसके घर म मास देख कर ब्राह्मणदेवता क्रोधित होने लगे तब व्याध ने कुलक्रम से अपने बाप दादो का काय करने म कोई दोष नही होता बताते हुए कहा कि राजा लोग अपने धम का पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पाने की इच्छा

३६—तद्राज्ये राज्यकामाना नान्यो धम सनातन ।
ऋते रक्षा तु विस्पष्टा रक्षा लोकस्य धारिणी ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ५७, श्लो० ४२

रखते हैं और राजा सभी वर्णों का रक्षक होता है।'[३७] इसलिए राजा को धन द्वारा देश का और चारों वर्णों की सदैव रक्षा करनी चाहिए। राजा के धर्म बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो लोग अपने अन्तरङ्ग हों उनसे बाहरी लोगों की रक्षा करो और बाहरी लोगों से सदा अन्तरङ्ग व्यक्तियों को बचाओ। इसी प्रकार बाहरी व्यक्तियों को बाहर के लोगों से और समस्त आत्मीयजनों को आत्मीयों से सदा रक्षा करते रहना चाहिए।"[३८] राजा को चाहिए कि वह अपने साथ रहने वालों की और बाहर से आने वाले लोगों की सब प्रकार से रक्षा करे। राजा के बहुत से गुप्तचर वेष बदले हुए होते हैं उनका ज्ञान राजा को ही होता है इसलिए राजा को उनकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध करना चाहिए और अपने रक्षकों को चेतावनी देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को पहले मेरे पास लाओ तब उसे मेरे कहे अनुसार दण्ड दो। रक्षा के विषय में बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि राजा को चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिए, प्रजा को धर्मसंकरता से बचाना राजाओं का सनातन धर्म है।"[३९] यदि प्रजा धर्म से विमुख हो रही हो, तो उसको धर्म में लगाना राजा का ही धर्म है। सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा करना राजाओं का कर्त्तव्य है। श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहाकि

३७—राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम्।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत॥

वनपर्व—अध्याय २०७, श्लो० ३१

३८—आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान्।
परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालयन् सदा

शान्तिपर्व—अध्याय ८६, श्लो० १२

३९—चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकर च राज्ञो धर्म सनातन॥

शान्तिपर्व—अध्याय, ५७ श्लोक १५

आप इच्छानुसार पृथ्वी का पालन कीजिए और धर्मपूर्वक धुरी को धारण कीजिए। धर्मोपदेश यही है कि ब्राह्मणों की सेवा कीजिए।[४०] ब्राह्मणों के सत्संग से राजाओं की बुद्धि निर्मल रहती है और ज्ञान तथा धर्म में लगी हुई बुद्धि धर्मसंगत ही कार्य करती है। क्षत्रियों का पराक्रम और ब्राह्मणों का ज्ञान दोनों के समन्वय से देश की उन्नति और धन-धान्य बढ़ते हैं। इसलिए राजा को सदैव ही ब्राह्मणों का आदर करना चाहिए। गन्धर्व ने अर्जुन से कहा कि इस पृथ्वी पर एक असाधारण तेजस्वी राजा कल्माषपाद हुए जो वन में भूख प्यास से पीड़ित एक तंग रास्ते पर आ पहुँचे, जहाँ पर से केवल एक ही आदमी जा सकता था। उसी तंग रास्ते पर प्रतापी विश्वामित्र भी आ रहे थे। विश्वामित्र को देखकर राजा ने कहा कि हमारे रास्ते से हट जाओ। तब मधुरवाणी में राजा को समझाते हुए विश्वामित्र मुनि ने कहा कि 'मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिए। यही सनातन धर्म है। सभी धर्मों में राजा के लिए यही उचित है कि वह ब्राह्मण को मार्ग दे।[४१] श्रेष्ठ राजाओं को चाहिए कि वह ब्राह्मणों को उचित आदर दें तथा उन्हें ही प्रथम भाग दें। इसी प्रकार राजा को चारों वर्णों की रक्षा करके अपने सनातन धर्म का पालन करना चाहिए।

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान दुर्बलों की बहू-बेटियों को हर ले जाय और अपने घर-बार की रक्षा के लिए प्रयत्न करने वालों को मार डालें। यदि राजा रक्षा न करे तो जगत में स्त्री पुत्र धन अथवा घरबार का ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता जिसको कह सकें कि यह मेरा है और सबकी सारी सम्पत्ति का लोप हो जाय। अरक्षित प्रजा के वस्त्र आभू

४०—यथेष्टं पालयस्व महीं सदा धर्मधुरं वह।
धर्मोपदेशः सक्षेपाद् ब्राह्मणान् भज कौरव॥
आदिपर्व—अध्याय २०६, श्लोक ५१–५२ के मध्य

४१—मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये॥

आदिपर्व—अध्याय १७५, श्लोक ८

पण वाहन और नाना प्रकार के रत्नो को पापाचारी लुटेरे-लूट ल जायेंगे। अरक्षित धर्मात्म पुरुषा पर भी अस्त्र-शस्त्रो की मार पडे और विवश होकर उन्हे अधम का माग ग्रहण करना पडे। यदि राजा रक्षा न कर तो दुराचारी मनुष्य माता पिता, वृद्ध आचाय, अतिथि और गुरु को क्लेश पहुचावें और मार डालें। धनवानो को रक्षा बिना वध या बन्धन का क्लेश उठाना पडे। देश मे अकाल पड जाय और समस्त जगत डाकुओ के अधीन हो जाय और सारा जगत भयभीत, उद्विग्न चित्त, हाहाकार-परायण तथा अचेत हो क्षण भर म नष्ट हो जाय। इसीलिए प्रजा को राजा की आवश्यकता है। राजा के भय से ही सम्पूर्ण दुष्टात्मा मनुष्य कुछ नही कर पाते हैं और सब वर्णों के लोग अपन अपने धर्मों और कर्तव्यो का शान्ति के साथ पालन करते हैं। अपन समस्त धन को अपना मान कर उसकी रक्षा करते हैं। प्रजा का सुख शान्ति राजा की रक्षा से ही मिलती है।

७—राजनीति और दण्ड—

राजा को सबसे पहले सदा अपने मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उसके बाद शत्रुओ को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए। श्रोत्र आदि पाचो इन्द्रियो को अपने वश म रखना ही मन पर विजय पाना है। जितेन्द्रिय नरेश ही अपन शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। भीष्मजी ने राजनीति बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि राजा को किला मे, राज्य की सीमा पर तथा नगर और गाँव के बगीचो म सेना रखनी चाहिए।[४२] अन्त पुर तथा राजमहल के आस पास भी रक्षक सैनिको की नियुक्ति करनी चाहिए। बुद्धिमान होने पर भी जो गूगे-बहरे से तथा अधे से जान पड़ें, जो भूख प्यास और परिश्रम सहन की शक्ति रखते हो, ऐसे मनुष्यो को गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों म नियुक्त कर दे। राजा को अपने निजी प्रेमी तथा कुटुम्बी मनुष्यो का भी विश्वास नही करना चाहिए। उनके लिए भी गुप्तचर नियुक्त कर, भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजा एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियो नाना प्रकार के मित्रो तथा

४२—न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह॥
शान्तिपर्व–अध्याय ६९, श्लोक ६

पुत्रो पर भी गुप्तचर नियुक्त करे। ४३ कभी-कभी राजा क मन्त्री मित्र तथा पुत्र भी विश्वासघात कर दते हैं, इसलिए उनक भावा का भी पता लगात रहना चाहिए। राजा को अपने गुप्तचरा द्वारा दूसरे राजा क भेज हुए गुप्तचरा का भी पता लगाते रहना चाहिए इसस राजा की नीति ठीक रहगी।

राजा को विद्वान् क्षत्रिय वश्य तथा अनक शास्त्रा के ज्ञाता ब्राह्मण यदि दण्डनीति क ज्ञान म निपुण हा तो इन्ह मन्त्री बनाना चाहिए। बलवान शत्रु के साथ सधि कर लनी चाहिए। अपकारिया को तथा जनता म द्वष रखने वाला को सवथा नष्ट कर दे। दूसर राजा को दुबल और अपन को बलवान जानने पर राजा को आक्रमण कर दना चाहिए। जिस समय अपना युद्ध चल रहा हो उस समय अपने देश म हानि पहुचाने वाल भिखमगा गाडी वानो हीजडा पागला और नाटक करन वाला को बाहर निकाल द क्य यथा युद्ध के समय म ये लोग बडी भारी विपत्ति ला सक्त हैं। युद्ध क समय कोषाका विशप रूप से सग्रह करना चाहिए। राजा को सात वस्तुआ की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। ये सात वस्तुए—(१) राजा का अपना शरीर (२) मन्त्री (३) कोष (४) दण्ड (सेना) (५) मित्र (६) राष्ट्र (७) नगर। य सात राज्य के अग हैं इनका राजा को भली प्रकार पालन करना चाहिए।

धृतराष्ट्र को कणिक ने राजनीति के उपदेश देते हुए कहा कि राजा डरपोक को भय दिखाकर फोड ले तथा जो अपने से शूरवीर हो उसे हाथ जोड कर वश मे कर। लोभी को धन देकर तथा बराबर और कमजोर को पराक्रम से वश म करे। इस प्रकार आपसे नीतियुक्त वर्ताव का वणन किया है।' ४४ महाबाहु भीमसेन स राजनीति की बात बताते हुए हनूमानजी

४३—अमात्येषु च सर्वेषु मित्रषु विविधेषु च।
पुत्रषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहित ॥
शान्ति पर्व—अध्याय ६८, श्लोक ८

४४—भयेन भेदयेद् भीरु शूरमजलिकमणा ॥
लुब्धमथप्रदानेन सम न्यून तथौजसा।
एव ते कथित राजञ्छृणु चाप्यपर तथा ॥
आदि पर्व—अध्याय १३८ श्लोक ५० ५१

ने वहा कि "साम दाम दण्ड, भेद—ये चार उपाय गुप्तचर, उत्तम बुद्धि सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओं के लिए काय सिद्धि क साधन हैं। [४५] साम, दाम, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियों म से एक-दो के द्वारा या सबका एक साथ प्रयोग द्वारा राजाओं को अपने काय सिद्ध करने चाहिए। [४६] राजा के जो स्नेही (सुहृद्) हो, उन्हीं के द्वारा नीति के प्रयोग का काम कराना चाहिए। मूर्खों को तो सभी कार्यों से अलग रखना चाहिए। राजा की नीति का वणन करते हुए हनुमान ने भीम से कहा कि 'राजा को चाहिए कि वह धम के कार्यों म धार्मिक पुरुषों को अथ सम्बन्धी कार्यों म अथ शास्त्र के पण्डितों को, स्त्रियों की देख भाल के लिए नपुंसकों को और कठोर कार्यों म क्रूर स्वभाव वाले मनुष्यों को लगावे। [४७] अपनी शरण म आये हुए श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करनी चाहिए और दुष्ट मनुष्यों को कठोर दण्ड देना चाहिए। द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि राजाओं का परम धम तो यही है कि व दुष्टों को दण्ड दें, सत्पुरुषों का पालन करे और युद्ध म कभी पीठ न दिखावें। [४८] राजा को न्याय म सवदा उचित न्याय ही

४५—राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमा।
निग्रहप्रग्रहौ चव दाक्ष्य व काय साधकम्॥
वनपर्व—अध्याय १५०, श्लोक ४१

४६—साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगत॥
वनपव—अध्याय-१५० श्लोक ४२

४७—धार्मिकान् धमकार्येषु अथकार्येषु पण्डितान्।
स्त्रीषु क्लीवान् नियुञ्जीत क्रूरान क्रूरेषु कमसु॥
वनपव—अध्याय १५०, श्लोक ४६

४८—असता प्रतिषेधश्च सता च परिपालनम्।
एष राज्ञा परो धम समरे चापलायनम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय—१४, श्लोक १६

करना चाहिए । चाहे अपना पुत्र ही अपराधी क्या न हो, उसे भी दण्ड देना चाहिए । उतथ्य ने मान्धाता से कहा कि "जब राजा मन, वाणी और शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्र के भी अपराध को क्षमा नही करता तब उसका बर्ताव भी राजा का धम कहा जाता है ॥ ४९ राजा को स्त्रिया से और मूर्खों स कभी सलाह न लेनी चाहिए । जिनकी बुद्धि दव से मारी गई है तथा जो वेदो के ज्ञान से शून्य है उनकी बात भी राजा न सुने, क्योकि उन लोगो की बुद्धि नीति से विमुख होती है । यदि राजा दण्डनीति का उत्तम रीति से पालन करे तो वह चारो वर्णों को अपने अपने धम मे बलपूवक लगाती है और उन्हें अधम से रोकती है । इस प्रकार दण्डनीति से चारो वण अपने अपने कर्मों म सलग्न रहते है । जिस समय राजा दण्डनीति का पूरा पूरा एव ठीक प्रयोग करता है उस समय पृथ्वी पर सतयुग का आरम्भ हो जाता है । इसीलिए राजा को युगस्रष्टा कहते हैं ।

८—गुप्तचर—

राजा की शक्ति को बनाने वाले गुप्तचर ही होते है । राज्य की सब अनीतिया और अतिचारो की खोज करके गुप्तचर ही राजा को बताते है और उन्हें उचित दण्ड देकर राजा यश को प्राप्त करता है । दूसरे के राज्य का सम्पूर्ण समाचार भी गुप्तचरो से ही ज्ञात करके राजा उस पर आक्रमण करता है तथा विजय प्राप्त करता है । राजनीति म गुप्तचरो का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है । बिना गुप्तचरो के राजा पगु के समान हैं । गुप्तचर ही राजा के कर हैं । इन्ही गुप्तचर रूपी हाथो से राजा अपने राज्य के सम्पूर्ण कठिन से कठिन काय करता है । धृतराष्ट्र से गुप्तचरो के विषय म कणिक ने इस प्रकार कहा कि भलीभांति जांच-परख कर अपने तथा शत्रु के राज्य म

४८—श्रापत

पु

कायेन कमणा ।

े धम उच्यते

—८१ श्लोक

गुप्तचर रखे। शत्रु के राज्य मे ऐसे गुप्तचरो को नियुक्त करे, जो पाखण्ड-वेष धारी अथवा तपस्वी आदि हो।"[५०] राजा को किसी पर विश्वास नही करना चाहिए। विश्वास के विषय मे धृतराष्ट्र से कणिक ने कहा कि "जो विश्वासपात्र नही है उस पर कभी विश्वास न करे, परन्तु जो विश्वासपात्र हैं उस पर भी अतिविश्वास न करे, क्योकि अतिविश्वास से उत्पन्न होने वाला भय राजा की जडमूल का नाश कर डालता है।"[५१] राजा को सदैव धम का पालन करना चाहिए। कुन्ती ने केशव (श्रीकृष्ण) से कहा कि "यदि राजा धम का पालन करता है, तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधम करता है तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधम करता है तो नरक मे ही पडता है।"[५२] इस प्रकार राजा को अपने गुप्तचरो की नियुक्ति करके, किसी का अधिक विश्वास न करके धम-पूर्वक प्रजा का पालन करना चाहिए। यही श्रेष्ठ और पराक्रमी राजा के लक्षण हैं।

६—शत्रु और युद्ध—

राज धम मे राजा को शत्रु के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए युद्ध कला मे निपुणता के लिए बहुत से नियम हैं, जिनका पालन करना श्रेष्ठ राजा का धम है। शत्रु के साथ युद्ध करते समय भी पराक्रमी राजा का

५०—चार सुविहित काय आत्मनश्च परस्य वा।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत्॥
आदिपर्व-अध्याय- १३६, श्लोक ६०

५१—न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्न मूलान्यपि निकृन्तति॥
आदिपर्व अध्याय १३६, श्लोक ६२

५२—राजा चरति चेद् धम देवत्वायव कल्पते।
स चेदधम चरति नरकायव गच्छति॥
उद्योगपर्व-अध्याय १३२, श्लोक ६३

मरना भी उत्तम है। पराक्रमी राजा की प्रशसा करते हुए विदुला ने अपन पुत्र स कहा कि "यदि बढ़े हुए तेज और उत्साह वाला शूरवीर एव सिंह के समान पराक्रमी राजा युद्ध म दववश वीरगति को प्राप्त हो जाय तो भी उसकी प्रजा उसके राज्य म सुखी ही रहती है।'[५३] राजा के पराक्रम के कारण कम स कम प्रजा का मस्तक तो गव से ऊँचा रहता है कि राजा दुर्भाग्य स युद्ध म मारा गया किन्तु था तो बडा पराक्रमी। इसलिए पराक्रमी राजा होना चाहिए। धृतराष्ट्र को राजधम बताते हुए कणिक ने कहा कि राजा को सवदा दण्ड दन के लिए उद्यत रहना चाहिए और सदा ही पुरुषाथ प्रकट करना चाहिए। राजा अपने छिद्र, अपनी दुबलता प्रकट न होने द परन्तु दूसरा के छिद्र या दुबलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं की निबलता का पता चल जाय तो उन पर आक्रमण कर दे।'[५४] राजा को सावधानी स रहना चाहिए जिसस उसकी कमजोरी शत्रु पक्ष को ज्ञात न हो सक। धृतराष्ट्र स कणिक ने कहा कि राजा को अपनी कमजोरी छिपाकर रखनी चाहिए जिसस शत्रु न देख सक और यदि शत्रु की कमजोरी प्रकट हो जाय तो उस पर अवश्य चढाई कर द। जसे कछुआ अपने सब अगो की रक्षा करता है उसी प्रकार राजा अपन सब अगो (राजा अमात्य, राष्ट्र दुग कोष बल और सुहृत्) की रक्षा करे और अपनी कमजोरी को छिपाये रख।[५५]

---

५३ शूरस्योजितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिण ।
दिष्टभाव गतस्यापि विषये मोदते प्रजा ॥

उद्योगपव अध्याय १३३, श्लोक ३६]

५४ - नित्यमुद्यतदण्ड स्यान्नित्य विवृतपौरुष ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुग ॥
आदिपर्व–अध्याय १३८, श्लोक ६

५५—नास्यच्छिद्र पर पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात् ।
गूहेत् कूम इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मन ॥
आदिपर्व–अध्याय १३८ श्लोक ८

शत्रु के वध म नीति का उपदश देते हुए कणिक ने कहा कि 'अपना अनिष्ट करने वाले शत्रुओ का वध कर दिया जाय, इसी का नीतिज्ञ पुरुष प्रशसा करता है। अत्यन्त पराक्रमी शत्रु को भी आपत्ति म पडा देख उसे सुगमता पूवक नष्ट कर दे। इसी प्रकार जो अच्छी तरह युद्ध करने वाला शत्रु है उस भी आपत्ति काल म अनायास ही मार भगाय।'[५६] कणिक न शत्रु के वध करने के नियम बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि 'पहले तो सदा शत्रुपक्ष के मूल का ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायको और शत्रुपक्ष से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोगो का सहार कर दे।'[५७] कणिक ने कहा कि 'यह मेरी शरण म आया है यह सोचकर शत्रु के प्रति दया नही दिखानी चाहिए। शत्रु को मार देने से राजा निर्भय हो सकता है। यदि शत्रु मारा नही गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है।'[५८] शत्रु के वध के नियम बताते हुए कणिक ने धृतराष्ट्र से कहा कि "युद्ध मे अपने धनुष को तिनके के समान बना द अर्थात् शत्रु के समक्ष दीन हीन एव असमर्थ बन जाय, किन्तु सिंह की भांति झूठा बहाना बना कर सोय और शिकार के सामने आते ही उसे नष्ट कर द।

५६—वधमेव प्रशसन्ति शत्रूणामपकारिणाम् ।
सुविदीर्ण सुविक्रान्त सुयुद्ध सुपलायितम् ॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथचन ॥
आदिपर्व-अध्याय १३६, श्लोक १०–११

५७—मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यश ।
तत सहायास्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम् ॥
आदिपर्व—अध्याय १३६, श्लोक १६

५८—दया न तस्मिन् कर्त्तव्या शरणागत इत्युत ।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम् ॥
आदिपर्व-अध्याय १३६, श्लोक १४

उमी प्रकार शत्रु को मारने का अवसर देखते ही अपने स्वरूप और मनोभाव को छिपाकर असमय पुरुषा का मा व्यवहार करे। इस प्रकार कपटपूर्ण व्यवहार से वश म आये हुए शत्रु को साम आदि उपायो से विश्वास उत्पन्न करके मार डाले।[१६] यही नीतिज्ञों का कथन है।

१६—कुर्वीत् [illegible] [illegible] नयीत मृगनादिवाम्।
[illegible] [illegible] हन्यात् [illegible] स्थितम्॥
[illegible]—अध्याय १३६ श्लोक १३

अध्याय—११

महाभारत मे वैश्य-धर्म

१—वैश्यो का स्थान—

धमशास्त्र की वर्ण-व्यवस्था म वश्या को भी द्विजा के अन्तगत माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य य तीन द्विज हैं। इनके उपनयन आदि सस्कार होते हैं। इन सस्कारो को प्राकृतिक जन्म के बाद दूसरा सास्कृतिक जन्म माना जाता है। इस द्वितीय जन्म के कारण ये तीना वर्ण द्विज कहलाते है। इनके अतिरिक्त शूद्र द्विजेतर है अर्थात् वह द्विजो से पृथक है। उनके सस्कार नही होते। सस्कार ही दूसरा जन्म है। द्विजो के अन्तगत ब्राह्मणा और क्षत्रिया का अधिक श्रेष्ठता दी गई है। इसका कारण प्राचीन भारतीय समाज मे विद्या का मान तथा रक्षा का महत्त्व था। रक्षा का महत्त्व तो सभी समाजा म है और सभी समाजो म वीरो का मान था। भारतीय धमशास्त्र म भी क्षत्रियो को विशेष मान दिया गया है, उन्हे समाज का रक्षक और पालक माना गया है। क्षत्रिय कुल म उत्पन्न राम और कृष्ण भगवान के रूपा मे सबसे अधिक लोकप्रिय हुए। ब्राह्मणा की श्रेष्ठता भारतीय समाज की एक अद्भुत विशेषता है, जो किसी अन्य समाज मे नही मिलती। इसका कारण भारतीय समाज म विद्या, धम, साधना सस्कृति आचार, पवित्रता आदि की अतुल महिमा है। इनकी एसी महिमा भी अन्य किसी समाज म नही पाई जाती। ब्राह्मणो का इतना मान होते हुए भी विद्या आदि के लिए सुरक्षा के आवश्यक होने के कारण क्षत्रियो को भी अतिशय मान दिया गया है।

वश्या को धमशास्त्र म ऐसा विशेष मान तो नही दिया गया है फिर भी श्रेष्ठ मानकर ही उनकी गणना द्विजो मे की गई है। वश्य का धम प्रधान रूप से आर्थिक और लौकिक है जिसम अर्थ-लाभ का सहज आकर्षण है। भारतीय समाज और सस्कृति म प्राकृतिक आकर्षण के विपरीत अनुपात म जीवन के मूल्यो को महत्त्व दिया गया है। वश्या के आर्थिक धम म प्राकृतिक

प्रलोभन के प्राकृतिक आकपण बहुत हैं। इमीलिए वश्या को विशेष मान नहा दिया गया है। इा प्रलोभना का प्रभाव इतना है कि घमशास्त्र क अनुराग के बिना भी व य धन वमव के प्रताप से सहज ही श्रेष्ठ (सेठ) बन गय। ब्राह्मणा और क्षत्रिया के धर्मों म ऐसा प्राकृतिक आकपण नही है, वरन् इसके विपरीत इनम सुख वभव के त्याग और प्राणा के निभय उत्सग की अपेक्षा होती है। इन्ही के कारण ब्राह्मणो और क्षत्रिया को अधिक मान दिया गया है।

वश्या का सम्बन्ध मुख्यत आर्थिक जीवन से है। कृषि, गो रक्षा वाणिज्य आदि उनके कतव्य माने गये हैं। ये तीनो आर्थिक जीवन के मुख्य आधार हैं। आर्थिक धम म लाभ और वभव का आकपण अवश्य है फिर भी समाज की आर्थिक व्यवस्था के सचालन क लिए उद्योग भी अपक्षित है। इस उद्योग क कारण वश्यो को 'द्विज पद का मान दिया गया है। आर्थिक व्यवस्था अपन साधना के द्वारा विद्या और रक्षा की सहायक है। भारतीय धम और सस्कृति म अथ का अवय कुछ अधिक है। इसीलिए वश्यो का द्विजाति और द्विज सस्कृति के अन्तगत स्थान दिया गया। अथ साधना म इतनी स्वच्छता और पवित्रता सम्भव हो सकती है जितनी कि भारतीय आचार के लिए अपेक्षित है। इसीलिए वश्या का उच्चवर्णों के साथ सामजस्य हो सका। शूद्रा के सेवा कम मे यह स्वच्छता और पवित्रता सम्भव नही है। इसीलिए वे द्विजेतर मान गय तथा अभिजात समाज और सस्कृति से बहिष्कृत बने रहे। वश्या की अथ साधना मे उद्योग का अधिक मह व है। नीति भी यही मानती है कि उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है (उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैतिलक्ष्मी)। प्राचीन व्यापार म व्यक्तिगत उद्योग का स्थान अधिक था। पूँजीवाद का व्यापक प्रभुत्व प्राचीन अथ—व्यवस्था म सम्भव नही था। कृषि और पशुपालन किसी सीमा तक व्यापार से भी अधिक उद्योग के काय हैं। वश्य धम म उद्योग का अधिक महत्व होने के कारण ही पुरुष सूक्त क रूपक म 'वश्यो का उद्भव विराट पुरुष के उरुओ से माना गया है। [1] मुख विद्या का स्थान है और बाहु पराक्रम के पीठ हैं ता

1—ऊरू तदस्य यद्वश्य ।

ऋग्वेद १० ९० १२

उरु उद्योग के अवलम्ब है। उद्योग की महिमा के कारण ही आधुनिक अर्थ—व्यवसाय को 'उद्योग' का पद मिला और आधुनिक वैश्य उद्योगपति बन गये। महाभारत में 'ऊरु' के स्थान पर विराट पुरुष के 'उदर' से वैश्यों की उत्पत्ति बताई गई है।[२] इस परिवर्तन का कारण वैश्य धर्म और वैश्यवृत्ति के सम्बन्ध में बदलती हुई धारणा है। ऋग्वेद की मौलिक धारणा में 'उद्योग' ही वैश्यों का मुख्य धर्म है। ब्राह्मणों के विद्या धर्म और क्षत्रियों के रक्षा धर्म के बाद समाज के आर्थिक अवलम्ब के लिये उद्योग आवश्यक है। यह उद्योग शूद्रों के सेवा-कर्म से भिन्न है। वह उद्योग का सहकारी है। आर्थिक उद्योग का उद्देश्य उदर पोषण अवश्य है।

आर्थिक उद्योग में लाभ है। अतः यह उद्योग कर्त्ता के लिये भी उदर पोषण है। इसीलिये आगे चलकर महाभारत में पुरुष सूक्त के 'ऊरु' के स्थान पर विराट पुरुष का उदर वैश्यों का उत्पत्ति स्थान बन गया।

धर्मशास्त्रों में कृषि, गो रक्षा, वाणिज्य आदि को वैश्यों का धर्म माना गया है। वैश्यों के इन धर्मों का क्रम सभी धर्मशास्त्रों में समान नहीं है। युग के प्रभाव के कारण विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न क्रम मिलते हैं। मनुस्मृति के अनुसार पशु रक्षा वैश्यों का प्रथम धर्म है। दान, यज्ञ, अध्ययन आदि के बाद वाणिज्य की गणना करके कृषि को उनका अन्तिम कर्म माना गया है।[३] वराह पुराण में स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि को प्रथम मानकर पशुपालन, कृषि और वाणिज्य की गणना क्रम से बाद में की गई है।[४] पाराशरस्मृति में

२—उदरादुद्गता वैश्यास्तस्मात् वार्तोपजीविनः।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक २६ से आगे

३—पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लोक ९०

४—स्वाध्याय यजनं दानं कुसीदं पशुपालनम्।
गोरक्षां कृषिवाणिज्य कुर्याद्वैश्यो यथाविधि॥
वराहपुराण

आकर लाभ कम व या का प्रथम धर्म बताया गया।[५] गीता के क्रम में कृषि प्रथम है तथा पशुपालन द्वितीय है और वाणिज्य की गणना अंत में की गई है।[६] महाभारत में भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न क्रम से वैश्यों के उक्त सभी धर्मों की चर्चा की गई है। इससे विदित होता है कि महाभारत में धर्म शास्त्रों के विभिन्न मत संकलित हैं अथवा कुछ धर्मशास्त्रों में महाभारत के मतों का ग्रहण किया गया है।

वैश्यों के उक्त धर्मों में इतिहास और उद्योग की दृष्टि से कृषि को ही प्रथम मानना होगा। लाभ और उद्योग की दृष्टि से वाणिज्य की गणना पशु पालन के भी बाद होगी। इस दृष्टि से गीता का क्रम ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से सबसे अधिक उचित है। अन्य धर्मशास्त्रों में कृषि का महत्त्व कम होता गया है। समाज के इतिहास में यही दिखाई देता है कि वैश्य धीरे धीरे अधिक उद्योग और कम लाभ के कृषि गोपालन आदि कर्मों को छोड़ते गये और कम उद्योग, अधिक लाभ के वाणिज्य कुसीद आदि कर्मों को अधिक अपनाते गये। अर्थ के क्षेत्र में यह स्वाभाविक था। धर्मशास्त्र की कठिनाई यह थी कि त्याग पर बल देकर अर्थ साधना को प्रेरणा देना कठिन था। इसीलिए वैश्यों के व्यवहार और धर्मशास्त्र के विधानों में प्रवृत्ति के प्रभाव से क्रमशः कुछ परिवर्तन होता गया। यज्ञ, और दान को महत्त्व देकर धर्मशास्त्रों ने वैश्यों की अर्थ साधना को संतुलित और श्रेय समन्वित बनाने का प्रयत्न किया। यज्ञ स्वाध्याय आदि को वैश्य धर्म में सम्मिलित करके उन्होंने आर्थिक जीवन को धर्म और संस्कृति के साथ संगत बनाये रखने का भी प्रयत्न किया।

५—लाभकर्म तथारत्नं गवां च परिपालनम्।
कृषिकर्म च वाणिज्यं वैश्यवृत्तिरुदाहृता॥
पाराशरस्मृति आचार काण्ड १, श्लोक ६३

६—कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्॥
गीता–अध्याय १८, श्लोक ४४

२—वैश्य-धर्म—

महाभारत में वर्ण धर्म का विवरण बहुत कुछ धर्मशास्त्रों के अनुरूप ही मिलता है। विभिन्न धर्मशास्त्रों में वैश्य धर्मों के जो रूप और क्रम मिलते हैं, उन सबका संग्रह महाभारत में मिलता है। महाभारत के ये मत मौलिक भी हो सकते हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों के अभिमतों के साथ इनकी समानता स्पष्ट है। महाभारत में वैश्य की जो परिभाषा मिलती है उसमें वाणिज्य ही वैश्य का प्रथम धर्म है। पशुपालन कृषि और वेदाध्ययन की गणना क्रमशः वाणिज्य के बाद की गई है। भृगु ने भरद्वाज मुनि से वैश्य कर्म को बताते हुए कहा कि 'जो वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन और खेती का काम करके अन्न संग्रह करने की रुचि रखता है और पवित्र रहता है वह वैश्य कहलाता है।'[७] वैश्यों की गणना द्विजों में की गई है इसलिए वेदों का अध्ययन भी नित्य वैश्य को करना चाहिए। उसके पश्चात् ही वैश्य वाणिज्य, कृषि तथा गोपालन आदि कार्य करे। युधिष्ठिर ने वैश्यों के कर्मों के विषय में भीष्म जी से पूछा तब भीष्मजी ने कहा कि दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धन का संग्रह ये वैश्य के कर्म हैं।'[८] वैश्य के लिए दान देना भी प्रधान धर्म है। नित्य अध्ययन तथा यज्ञ करना भी वैश्य के धर्म है। वैश्य के लिए धन का संग्रह करना धर्म है किन्तु वह धन पवित्र कर्म द्वारा संग्रह करना बताया है धोखा देकर या कम तोलकर धन संग्रह वैश्य के लिए निषेध है। वैश्य को व्यापार में सत्य का ध्यान रखना चाहिए सत्य से प्राप्त हुआ धन ही पवित्र होता है। श्रीकृष्ण ने वैश्य के धर्म बताते हुए संजय से कहा कि वैश्य अध्ययन करके कृषि, गो रक्षा तथा व्यापार द्वारा धनोपार्जन

७—वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥
शान्तिपर्व–अध्याय १८६, श्लोक ६

८—वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः॥
शान्तिपर्व–अध्याय ६०, श्लोक २१

करते हुए सावधानी के साथ उसकी (धन की) रक्षा करे। ब्राह्मणो और क्षत्रियो का प्रिय करते हुए धमशील एव पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रम म निवास करे। व य को चाहिए कि वह धमपूवक धन का सग्रह करे और उसकी रक्षा का ध्यान भी रखे। धन पाकर उसे गव नहा करना चाहिए वरन् नम्र रहकर सबसे सद् यवहार करे। ब्राह्मणो का सदा दान दकर उनका प्रिय काय कर और सदा की ही चचा करता रहे। क्षत्रियो का भी सदव प्रिय बना रह जिसस क्षत्रिय उसक व्यापार की उन्नति की सोचत रह और उसका रक्षा का सदव ध्यान रख। उमा ने वैश्यो के धम की विषय म महेश्वर स पूछा कि उनके धम क्या-क्या हाते हैं व कृपाकर मुझे बताइय, तब महेश्वर बोल कि पशुओ का पालन, खेती यापार अग्निहोत्र कम दान, अध्ययन सन्माग का आश्रय लकर सदाचार का पालन अतिथि सत्कार, शम दम ब्राह्मणो का स्वागत और त्याग ये सब वश्यो के सनातन धम हैं।[१] वश्यो को यापार कृषि, गोपालन के साथ साथ सदव अच्छे माग पर चलना चाहिए और सदाचार से जीवन बिताना चाहिए। धन क आधिक्य का देखकर वश्य को कुमाग पर नही जाना चाहिए और एक पत्नीव्रत रहकर ही सदा पवित्र जीवन बिताना चाहिए। धन क मोह म फँस कर अधम कर्मी नही करना चाहिए। वश्य का सदव अतिथियो का सत्कार करना चाहिए। अहकार स रहित होना चाहिए, इद्रियो पर सदव नियत्रण रखना चाहिए। ब्राह्मणो

९—व श्योऽधीय कृषिगोरक्षपण्य—
 वित्त चिन्वन् पालयन्नप्रमत्त ॥
प्रिय कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणा
 धमशील पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥
 उद्योगपर्व–अध्याय २९, श्लोक २५

१०—व श्यस्य सतत धम पाशुपाल्य कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
वाणिज्य सत्पथस्थानमातिथ्य प्रशमो दम।
विप्राणा स्वागत त्यागो व श्यधम सनातन ॥
अनुशासन पर्व अध्याय १४१, श्लोक ५४ ५५

गौओं का एक वर्ष तक पालन करता उनमें से एक गाय का दूध वह स्वयं पीये (यही उसका वेतन है)। यदि दूसरे की एक सौ गायों का साल भर तक पालन करता तो एक गाय और एक बैल मालिक से वेतन के रूप में ले ले। यदि उन पशुओं के दूध आदि बेचने से धन प्राप्त हो तो उसमें से सातवां भाग अपने वेतन के रूप में ग्रहण करे। सींग बेचने से जो धन मिले उसमें से भी सातवाँ भाग ही ले। परन्तु पशु विशेष का बहुमूल्य खुर बेचने से जो धन मिले उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिए।'[14] हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों ने प्रत्येक वर्ण के लिए अनेक नियम बना दिये थे। उनमें से वैश्य के लिए पशुओं के जो नियम बनाये हैं वे उचित ही थे। जो दूसरों की सेवा करेगा तो उसे कुछ मिलना भी तो चाहिए, इसलिए एक साल तक गायें [illegible] से उनका दूध तथा एक बैल तथा गाय को ही उसका वेतन बना दिया था। इस प्रकार वैश्यों ने अपने लाभ की दृष्टि में रखकर ही गाय की सेवा [illegible] रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर देश का बड़ा उपकार किया था। किन्तु आधुनिक युग में गायों को छोड़कर वैश्यों ने केवल व्यापार का ही [illegible] लिया है। शहरों में रहने वाले वैश्यों के घर में एक भी गाय आज [illegible] है वे भी अन्य वर्णों की भाँति दूध खरीद कर ही पीते हैं। वैश्यों के [illegible] आज गाय का सद्भाव समाप्त हो गया है और व्यापार में [illegible] धन की आकांक्षा में डूबे हुए हैं। उनको अपने कर्तव्य का ना ध्यान [illegible] है। आज देश में गायों का रक्षक कोई नहीं रहा है सब धन [illegible] लगे हुए हैं। आज हमारे देश में न जाने कितनी गायें [illegible] किन्तु उनको देखने वाला आज कोई नहीं है। अब किसी [illegible] है कि वह गायों की रक्षा करके अपने मानवीय जीवन को [illegible]। [illegible] हमारे देश में दूध की इतनी कमी इसीलिए दिखाई देती है कि [illegible] गायें जब कहीं आयेंगी तब दूध घी कहाँ से प्राप्त होगा।

१४—षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कला खुरे॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक -२

हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रा के रचयिताओं ने जिस प्रकार वैश्यों के लिए गोपालन कर्तव्य बना दिया था, उसी प्रकार खेती भी उन्हीं का कर्तव्य था। वैश्य कृषि करते थे उसमे से भी उनको कुछ भाग वेतन रूप मे मिलता था। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "दूसरे के अनाज की पकता तथा सब प्रकार के बीजों की रक्षा करने पर वैश्य को उपज का सातवाँ भाग वेतन के रूप म ग्रहण करना चाहिए। यह उसके लिए वार्षिक वेतन है। वैश्य के मन म यह सकल्प कभी नहीं उठना चाहिए कि मैं पशुओं का पालन नहीं करूँगा।"[१५] वैश्य को खेती का वेतन भी वार्षिक मिलता था। सातवाँ भाग तो इसलिए दिया जाता था कि वैश्यों द्वारा उत्पन्न किए हुए अनाज से ही अन्य वर्णों का उदर पोषण होता था। प्राचीनकाल म वैश्य बड़े परोपकारी और धर्मात्मा होते थे। उन्हें धन वैभव का अधिक मोह नहीं था। किन्तु आधुनिक युग म वैश्य वर्ग धन-वैभव के मोह म पड गया है और अपने सब कर्तव्यों को छोड़ता जा रहा है। वैश्य के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए विदुर जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि वैश्य यदि वेद शास्त्रों का अध्ययन करके ब्राह्मण क्षत्रिय तथा आश्रितजनों को समय समय पर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञों द्वारा तीनों अग्नियों के पवित्र धूम्र की सुगन्ध लेता रहे तो वह मरने के पश्चात् स्वर्गलोक म सुख का उपभोग करता है।[१६] धन के प्राप्त करने के कारण वैश्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रित जनों की धन से सहायता करनी चाहिए। इस पुण्यकर्म से वह सबका आशीर्वाद प्राप्त करता था और परलोक म जाकर भी सुख प्राप्त करता था।

१५—सस्याना सर्वबीजानामेषा सावत्सरी भृतिः ।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेय पशूनिति ।

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० २६

१६—वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूत धूममाघ्राय पुण्य
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥

उद्योगपर्व—अध्या० ४०, श्लो० २७

वश्य के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि अपने वर्णधर्म का परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रमों का ग्रहण करे।"[१७] क्षत्रियों के लिए जो वानप्रस्थ आश्रम का विधान है, उसको वश्य भी ग्रहण कर सकते हैं। वानप्रस्थ का अर्थ घर बार पुत्रों को सौंप कर स्वयं जंगल में आकर अपना परलोक सुधारना और देश के लिए मंगल करना है। अर्थ के मोह में फँसा हुआ वश्य कठिनता से वानप्रस्थ का ग्रहण करता है किन्तु कुछ सत्पुरुष वश्यों में भी होते हैं, जो अर्थ का मोह त्यागकर अपनी सम्पूर्ण लक्ष्मी को जीवित ही पुत्र को सौंपकर अपना कर्त्तव्य पूरा करके जंगल की राह लेते हैं। शेष जीवन को चिन्ताओं से मुक्त कर सुखमय बनाकर ईश्वर का ध्यान शान्तिपूर्वक करते हैं और स्वर्ग में जाकर सुख-संतोष प्राप्त करते हैं।

४—वैश्य वर्ण का महत्व—

वर्णों का विभाजन समाज में उनके कर्तव्यों के महत्व की दृष्टि से किया गया है। सभी वर्णों के धर्म समाज के लिये आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। विद्या प्रत्येक समाज का सौपस्य मूल्य है। भारतवासियों ने इसका महत्व जितना माना उतना विद्या का महत्व प्राचीनकाल में ग्रीक लोगों के अतिरिक्त किसी ने नहीं माना। भारतवर्ष के समान प्राचीन विद्या का विशाल भण्डार भी किसी देश में नहीं है। क्षत्रिय धर्म का महत्व सभी समाज मानते रहे हैं क्योंकि वे प्रतिरक्षा और आक्रमण के लिये उद्यत रहे हैं। किन्तु समाज की विशेषतः गौ ब्राह्मण स्त्री आदि समाज के दुर्बल अंगों की रक्षा को क्षत्रियों का विशेष धर्म बनाना भारतीय वर्ण व्यवस्था की विशेषता है। वश्यों के आर्थिक धर्म का विधान वर्ण-व्यवस्था को अधिक सन्तुलित और यथार्थवादी बनाना है। अर्थ व्यवस्था में व्यापार आदि के प्रसंग में लाभ का

१७—कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६३, श्लो० १५

प्रलोभन स्वार्थ को बढा सकता है। अत अर्थ व्यवस्था को अधिक हितकारी तथा सतुलित बनाने के लिये धम शास्त्रो तथा महाभारत म श्रम, दान आदि का प्रतिबन्ध लगाया गया है। उद्योग म श्रम का आधार ही मुख्य है। कृषि और गोरक्षा म भी श्रम की अपेक्षा होती है। श्रम की तुलना म लाभ कम होने के कारण आग चलकर वश्यो ने कृषि और गोपालन को छोड दिया। किन्तु श्रम और अथ के सतुलन के सम्बन्ध म धमशास्त्र की धारणा पूर्णत सगत है। दान, यज्ञ, अध्ययन आदि को वश्यो का कतव्य बनाकर धमशास्त्रो न आर्थिक व्यवस्था को सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि स अधिक सन्तुलित बनाने का प्रयत्न किया। वाणिज्य से अथ सग्रह होता है। दान और यज्ञ के द्वारा सचय की एकपक्षता सतुलित होती है। दान और यज्ञ धार्मिक कम है। आर्थिक दृष्टि से ये सग्रह के विपरीत हैं किन्तु इनम धार्मिकता का भी पुट है। अध्ययन का कम अथ की भौतिकता का सन्तुलन करता है। धमशास्त्रो म वश्यो को धम शील और सदाचारी होने का आदेश दिया गया है। उनक धन सग्रह मे भी पवित्रता और धार्मिकता का प्रतिबन्ध लगाया है। धनोपार्जन म पवित्रता और धार्मिकता की भावना प्राचीनकाल के और मध्यकाल मे अथ के उन अनर्थो स भारतीय समाज का बचाती रही है, जो वतमान समाज म प्रकट हुय है तथा जिनके कारण समाजवाद तथा राष्ट्रीयकरण आदि के आर्थिक अनुशासन आवश्यक हो रहे हैं। धमशास्त्रो क उक्त आदेशो के फल स्वरूप ही भारतवर्ष म इतनी धमशालायें इतने कुयें मन्दिर, सदावत आदि उदार धम-क्षेत्र दिखाई दे रहे हैं। धनोपार्जन और धन सग्रह मे पवित्रता की भावना भी आर्थिक अनीति का बहुत कुछ नियन्त्रण करती रही है। धर्माचार और पवित्रता का अनुरोध भोजन आदि क व्यवसाय म शुद्धता और पवित्रता का सचार करता रहा है। वर्णधर्म की धार्मिक व्यवस्था एक ओर आर्थिक मूल्यो का रक्षण करती रही है तथा दूसरी ओर धार्मिक आचार तथा सास्कृतिक मूल्यो क साथ अथ-नीति का समन्वय करती रही है। धम शास्त्रो का विधान अपने आप म बहुत सगत और सतुलित है। यदि धम शास्त्र क अनुरोधो का उल्लघन करके व य वग कृषि, गोरक्षा आदि की ओर मे विमुख होकर अनुचित धन सग्रह की ओर लग गया तो इसम धमशास्त्रो का दोष नहीं। यह मनुष्य के स्वभाव का दोष है जिसे मर्यादित करने का धमशास्त्र न यथासभव प्रयत्न किया है।

अध्याय—१२

महाभारत में शूद्र-धर्म

१—शूद्रों का स्थान—

शूद्रों की स्थिति भारतीय समाज और धर्मशास्त्र की एक शोचनीय विडम्बना है। चारों वर्णों में शूद्र सबसे अधिक हीन और दयनीय हैं। तीन उच्च वर्णों में कर्तव्य भेद से कुछ अन्तर होते हुए भी वे तीनों श्रेष्ठता के अधिकारी हैं। विद्या, धर्म और संस्कृति के साधक होने के नाते ब्राह्मण पवित्र और पूजनीय हैं। समाज और संस्कृति के रक्षक होने के कारण क्षत्रियों को अनेक स्थानों पर चारों वर्णों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। धन और वैभव की महिमा के कारण वैश्य वर्ग सहज ही श्रेष्ठ (सेठ) बन गया। चारों वर्णों में एक शूद्र ही ऐसे हैं, जो धन, मान, वैभव स्वच्छता पवित्रता आदि समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित होकर कदम के कीटों की भांति मलिन और दलित जीवन बिताते आये हैं। शूद्रों के सभी वर्ग समान रूप से हीन और मलिन नहीं हैं। उनमें माली, नाई, कहार, बर्ई आदि ऐसे अनेक वर्ग हैं जो उच्च वर्णों के समान स्वच्छता से रहते हैं और उनमें मिलने-बैठने के अधिकारी हैं। इनमें कई वर्गों के हाथ का भोजन और जल भी उच्च वर्णों को ग्राह्य होता है। धर्मशास्त्रों के विधान की अपूर्णता के कारण प्रायः कायस्थ, अहीर आदि कुछ ऐसे वर्गों को भी शूद्रों के अन्तर्गत गिना जाता है जिनमें कुछ विद्या की दृष्टि से ब्राह्मणों के समान हैं तथा कुछ पराक्रम की दृष्टि से क्षत्रियों के तुल्य हैं और कुछ व्यवसाय की दृष्टि से वैश्यों के निकट हैं। किन्तु शूद्रों के निम्नवर्ग में भंगी, चमार आदि जैसी अनेक मलिन और दलित जातियाँ हैं जो उच्चवर्णों के द्वारा स्पर्श के योग्य भी नहीं समझी जातीं। इनका कार्य क्षेत्र भी इतना मलिन है कि उच्चवर्ण उसे दृष्टिपात के योग्य भी नहीं समझते। शूद्रों के इस वर्ग की स्थिति ही सबसे अधिक शोचनीय और दयनीय है। सामाजिक विचारकों और सुधारकों की प्रतिक्रियाओं

का आधार शूद्रों का यही वर्ग है। किसी कारण से शूद्रों का यह वर्ग भारतवर्ष में अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक उपेक्षित और पीड़ित रहा है। धर्मशास्त्र समाज की इस स्थिति की रचना के लिए उत्तरदायी न हों किन्तु धर्मशास्त्रों के विधान इस स्थिति के समर्थन और पोषण के लिए तथा इस स्थिति में सुधार की कल्पना एवं चेष्टा न करने के लिए उत्तरदायी अवश्य हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय समाज में शूद्रों के कुछ वर्गों की स्थिति अधिक शोचनीय है तथा इस प्रसंग में शास्त्रकार भी सुगमता से दोष मुक्त नहीं हैं। फिर भी शूद्रों के प्रश्न के सम्बन्ध में नीर-क्षीर विचार करने के लिए सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाना होगा। इस सम्बन्ध में सुधारवादी लोग प्रायः उग्र और एकांगी दृष्टिकोण अपनाते हैं। दूसरे देशों से तुलना करते समय वे प्रायः संस्कृति आचार आदि की दृष्टि से इन देशों के साथ भारतवर्ष का जो अन्तर है और इन देशों में भारतवर्ष की जो अतिरंजित विषमताएँ रही हैं, उनको भूल जाते हैं। जलवायु की परिस्थितियों को भी प्रायः इस प्रसंग में ध्यान नहीं दिया जाता। शूद्रों के वर्ग में जो अनेक श्रेष्ठ और स्वच्छ जातियाँ सम्मिलित हैं उनको भी प्रायः भुला दिया जाता है तथा एक अछूत वर्ग को ही लेकर भारतीय समाज और धर्मशास्त्रों की आलोचना की जाती है। भारतीय समाज और धर्मशास्त्र पूर्णतः निर्दोष नहीं हैं फिर भी प्रत्येक सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाना अपेक्षित है। इस सन्तुलित दृष्टिकोण में ऊपर दिये गये संकेतों को ध्यान में रखना आवश्यक है। संस्कृति के सजीव रूपों की जितनी विपुलता भारतीय परम्परा में मिलती है उतनी कदाचित् ही किसी देश अथवा समाज में मिल सकेगी। इस सांस्कृतिक विपुलता से एक ओर कुछ आचार की पवित्रताओं का महत्त्व अधिक बढ़ गया तथा दूसरी ओर सेवा के विविध व्यवसायों की आवश्यकता दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। स्वच्छता और पवित्रता के कारण समाज में इनके आधार पर एक विभाजन हुआ जिसमें स्वच्छता पवित्रता का साधक वर्ग अपने को श्रेष्ठ समझने लगा और ऊँचे मानदण्ड से कुछ मलिन रहने वाले वर्गों को हीन समझने लगे। दैनिक जीवन की धर्मचर्या में भी बाह्य स्वच्छता और शुद्धता चरम सीमा तक पहुँच गई। जलवायु की उष्णता और स्नान प्रक्षालन का अतिशय महत्त्व इसकी एक धुरी है। बढ़ती हुई कृषि और उसके साथ बढ़ता हुआ अन्नाहार तथा मांसाहार की मलिनता ने भी अपना योग दिया। अमरीका और आस्ट्रेलिया के अत्यन्त अर्वाचीन देशों को छोड़कर

ससार का कोई भी प्राचीन देश भारतवप के समान कृपि म सम्पन्न नहीं है और न किसी देश म अन्नाहार का इतना अधिक प्रचलन था। धार्मिक और सास्कृतिक आचार म स्वच्छता की चरमसीमा ने मलिनता के अनुपात म शूद्रा के विविध वर्गों की हीनता को दृढ बनाया। स्नान और प्रक्षालन का इतना महत्त्व तथा स्वच्छता एव पवित्रता का इतना आग्रह कदाचित् ही किसी देश क धमाचार म होगा। धार्मिक और सास्कृतिक क्रियाआ क व्यावहारिक रूपा की जटिलता एव विपुलता ने सेवा के अनेक कर्मों को अधिक व्यापक माना म आवश्यक बनाया। सेवा के कारण कुछ अपक्षाकृत स्वच्छ और सम्मानित वर्गों को भी शूद्रा म शामिल कर दिया। पशुआ तथा चम के व्यापार की अधिकता तथा बढती हुई नागरिता चमार, भगी जसे अछूता के दुर्भाग्य क कुछ प्राकृतिक कारण हैं। सभ्यता का गव करने वाले पश्चिमी देशा म प्रच लित दास प्रथा जसी अमानुपी परम्पराआ का प्रचलन भारतवप म नही रहा। शूद्रा की अपक्षा क साथ-साथ उनके प्रति व्यवहार और उनके साथ सम्बन्धा म बहुत कुछ मानवीयता रही भारतीय भावना के उस उदार और मानवीय पक्ष को सामाजिक विचारक भूल जाते है। शूद्रो और विशेषकर अछूता का हीन एव दलित स्थिति क प्रसग म धार्मिक एव सास्कृतिक आचार का स्वच्छता का भी प्राय ध्यान नही दिया जाता। इस कारण शूद्रो की स्थिति वस्तुत दयनीय होने हुए भी, उसका सामाजिक विश्लेपण एकागी बन जाता है। अन्य देशा की तुलना म भारतीय धम, सस्कृति आचार जलवायु आदि की भारतीय विशेपताआ को ध्यान मे रखकर ही शूद्रा की समस्या का सन्तु लित विश्लेपण सम्भव हो सकता है।

धमशास्त्रो मे उच्चवर्णों की सेवा को ही शूद्रा का एक मात्र धम माना गया है। उनक उपनयन आदि सस्कार नही होते तथा द्विजा के द्वारा पालित धमकृत्य आदि भी उनक लिए आवश्यक नही हैं। धमशास्त्रा के विधान म तो उन्ह वेद की शिक्षा से हा वचित किया गया है किन्तु अन्य शिक्षा क लिए भी सेवा के कारण उनक जीवन म अवसर नही रहा और न उनके विपय मे विद्या को कोई महत्त्व दिया गया है। शूद्रा की निम्न स्थिति का सकेत पुरुप सूक्त म मिलता है जिसम शूद्रा को विराट पुरुप के चरणा म स्थान दिया गया है।[१] शरीर मे चरण सवस नीचे और मलिन रहते हैं।

१—पद्भ्या शूद्रोऽजायत—ऋग्वेद १० ९० १२
शूद्राश्च पादत सृष्टास्तस्मात् ते परिचारिका ।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लो० २६ से आगे

वे किसी श्रेष्ठ कर्म के अधिकारी नहीं हैं। बाहु पराक्रम के साधन हैं तथा उस अवलम्ब में साथ-साथ भोग के भी साधन हैं किन्तु चरण केवल सेवा के ही अधिकारी हैं। चरणों के द्वारा ही शरीर का संचरण होता है शूद्रों की सेवा भी समाज के संचालन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि शरीर के लिए चरणों की सेवा। इन सेवाओं में कुछ मलिन कर्म भी शामिल होते हैं। शरीर के चरण भी मलिन क्षेत्रों में प्रवेश के लिए विवश होते हैं उसी प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं से विवश होकर शूद्रों के कुछ वर्ग भी मलिन कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए विवश हुए हैं। इन मलिन कर्मों का समाधान ही शूद्रों की समस्या का वास्तविक और अंतिम समाधान होगा।

१—शूद्र के धर्म—

जिस प्रकार अन्य वर्णों के धर्मों के विवरण के प्रसंग में महाभारत की अन्य धर्मशास्त्रों के साथ बहुत कुछ समानता दिखाई देती है उसी प्रकार महाभारत में शूद्रों के धर्म का विवरण बहुत कुछ धर्मशास्त्रों के अनुकूल है।"[२] धर्मशास्त्रों के समान महाभारत में भी उच्चवर्णों की सेवा को ही शूद्रों का प्रमुख कर्म माना गया है तथा सेवा को ही उनके लिए सभी पुण्यों का साधन बताया गया है। भरद्वाज के पूछने पर भृगु जी ने उन्हें शूद्र के लक्षण इस प्रकार बताये कि "जो वेद और सदाचार का परित्याग करके सदा सब कुछ खाने में अनुरक्त रहता है और सब तरह के काम करता है साथ ही बाहर भीतर से अपवित्र रहता है वह शूद्र कहा गया है।"[३] तीनों वर्णों की सेवा

२—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

मनुस्मृति—अध्या० १, श्लो० ९१

३—सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥

शान्तिपर्व—अध्या० १८९ श्लो० ७

के लिए ही शूद्रों की सृष्टि हुई। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि 'प्रजापति ने अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि की है, अत शूद्र के लिए तीनों वर्णों की सेवा ही शास्त्रविहित कर्म है।"[४] जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिए तप त्याग का जीवन, क्षत्रिय के लिए पराक्रम का जीवन तथा वैश्य के लिए आर्थिक व्यवसाय शास्त्रों में विहित है, उसी प्रकार शूद्रों के लिए सेवा कर्म ही सब से श्रेष्ठ धर्म है। शूद्रों के कार्य बताते हुए श्री कृष्ण ने संजय से कहा कि 'शूद्र ब्राह्मणों की सेवा तथा वन्दना करे, वेदों का स्वाध्याय न करे। उसके लिए यज्ञ का भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याण के लिए चेष्टा करे। इस प्रकार शूद्रों का प्राचीन धर्म बताया गया है।"[५] शूद्रों के लिए वेदों का अध्ययन न करना ही लिखा है क्योंकि शूद्र अपवित्र होते थे तथा वेदों को समझने की उनमें बुद्धि भी नहीं होती थी। वेदों का पढ़ना बड़ी तपस्या का काम था। शूद्र सेवा का काम करते थे, यदि शूद्र भी वेद के अध्ययन में लग जाते, तो सेवक का कार्य कौन करता। धर्मज्ञों ने सेवक के कार्य करने के कारण ही शूद्रों को वेद पढ़ने से वंचित रखा। वैसे शूद्रों को विद्या अध्ययन करने की छूट थी तथा और भी धार्मिक कृत्य राजा की आज्ञा से कर सकते थे। शूद्र को कर्मों से सुख प्राप्त होता है ऐसा कहते हुए विदुरजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि शूद्र यदि ब्राह्मण क्षत्रिय

४—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥

शांतिपर्व—अध्याय ६०, श्लो० २८

५—परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या
देष स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ।

उद्योगपर्व—अध्याय २९, श्लो० २६

और वश्य की क्रम से न्यायपूवक सेवा करके इन्ह सन्तुष्ट करता है, तो वह व्यथा से रहित हो पापो से मुक्त होकर देह त्याग के पश्चात् स्वग सुख का उपभोग करता है।[६] शूद्रा के लिए तीनों वर्णों की सेवा ही सब धर्मों से श्रेष्ट है और उनको मोक्ष भी सेवा कम को उचित ढग से करने से प्राप्त हो जाती है। जिसकी सेवा स द्विज लोग जितने अधिक प्रसन्न एव सन्तुष्ट होंगे, उसको उतना ही उत्तम फल प्राप्त होता था। सेवा का महत्त्व बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर स कहा कि 'शूद्र इन तीनो वर्णो की सेवा स ही महान् सुख का भागी हो सकता है। अत शूद्र इन तीनो वर्णों की क्रमश सेवा करे।'[७]

३—शूद्र के कर्त्तव्य—

अन्य वर्णों की भाँति शूद्र के लिए भी कुछ कर्त्तव्य है जिनका पालन उसे सवदा करना चाहिए। शूद्र के कत्तव्य बताते हुए भीष्म जी न युधिष्ठिर स कहा कि 'शूद्र को कभी किसी प्रकार भी धन का सग्रह नही करना चाहिए क्याकि धन पाकर वह महान् पाप म प्रवृत्त हो जाता है और अपने स श्रेष्ठ तम पुरुषो को भी अपने अधीन रखने लगता है।'[८] मनुस्मृति मे भी मनु ने

६—ब्रह्म क्षत्र वश्यवण च शूद्र
क्रमेणतान् न्यायत पूजयान
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप
स्त्यक्त्वा देह स्वगसुखानि भुड क्ते

उद्योगपर्व—अध्याय ४०, श्लो० २८

७—तेषां शुश्रूषणाच्चव महत् सुखमवाप्नुयात्
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूवश ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० २९

८—सचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्र कथचन ।
पापीयान् हि धन लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयस ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लो० ३०

कहा है कि शूद्र को धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। समर्थ होने पर भी धन संचय नहीं करना चाहिए।"[९]

सेवक को छोटा बनकर ही रहना चाहिए, तभी वह सेवा वृत्ति का काम कर सकेंगे। यदि शूद्र धन का संग्रह करने लगेंगे तो फिर वह भी बड़े आदमी अर्थात् धनवान् बन जायेंगे और फिर किसीकी सेवाका काय क्या करेंगे। धनवान् होने पर तो वह स्वयं भी श्रेष्ठ पुरुषों को अपने यहाँ धन के कारण सेवक बना सकेंगे। इसीलिए धर्मशास्त्रों में शूद्रों के लिए धन का संचय करना निषेध किया गया है।

शूद्र को अपने स्वामी की सब प्रकार से सेवा करनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर सन्तान के अभाव में उसे पिण्डदान भी करना चाहिए। शूद्र को स्वामी के प्रति कैसा आचरण करना चाहिए, इस विषय में बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "यदि स्वामी सन्तानहीन हो तो सेवा करने वाले शूद्र को ही उसके लिए पिण्डदान करना। चाहिये यदि स्वामी वृद्ध या दुर्बल हो तो उसका सब प्रकार से भरण पोषण करना चाहिए। किसी आपत्ति में भी शूद्र को अपने स्वामी का परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि स्वामी के धन का नाश हो जाय तो शूद्र को अपने कुटुम्ब के पालन से बचे हुए धन के द्वारा उसका भरण पोषण करना चाहिए।"[१०] सन्तानहीन स्वामी के लिए सेवक

९—शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंग्रहः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥
मनुस्मृति—अध्या० १०, श्लो० १२९

१०—देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ।
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याञ्चिदापदि ।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥
शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३५ ३६

ही सन्तान के समान होता है। इसलिए स्वामी की वृद्धावस्था में सब प्रकार से सेवक को ही सहायता करनी चाहिए। युवावस्था में स्वामी सेवक का भरण पोषण करता है इसलिए वृद्धावस्था में सेवक को उसका भरण-पोषण आवश्यकता हो तो करना चाहिए, सच्चे सेवक के यही मुख्य कर्त्तव्य हैं। चारो वर्णों में ब्राह्मणों में बड़ा वही समझा जाता है जो ज्ञान में सबसे अधिक ज्ञानी हो, क्षत्रियों में वही सबसे महान् समझा जाता है, जो पराक्रम में सबसे वीर हो। इसी प्रकार वैश्य और शूद्रों में किन लक्षणों से बड़ा होता है यह बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि वैश्यों में वही सम्मान्य है जो धन धान्य में बढ़कर हो केवल शूद्रों में ही जन्मकाल को ध्यान में रखकर जो अवस्था में बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है।"[११] शूद्रों में मान उसी का होता है जो उम्र में सबसे बड़ा हो, उम्र में सबसे बड़ा पुरुष ही शूद्रों का मुखिया होता है। सब लोग उसी के बताये हुए आदर्शों पर चलते हैं और सब कामों में उसकी ही आज्ञा का पालन करते हैं।

४—स्वामी द्वारा शूद्रों का भरण पोषण—

द्विजातियों का कर्त्तव्य है कि वह अपने सेवकों के भरण पोषण का प्रबन्ध करें। जो सेवक अपना सारा समय स्वामी की सेवा में लगा देता है, तो उसका पालन भी स्वामी को ही करना चाहिये। शूद्रों को देने योग्य वस्तुओं के विषय में बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि फटे पुराने कपड़े जो अपने धारण के योग्य न रहे वे द्विजातियों द्वारा शूद्र को ही देने योग्य हैं क्योंकि धर्मतः वे सब वस्तुएं शूद्र की ही सम्पत्ति हैं।[१२] शूद्रों को सेवक

११—वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ॥
सभापर्व—अध्या० ३८, श्लो० १८

१२—अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः।
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत्॥
शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३३½

का काय करने के लिए नवीन वस्त्रो की तो आवश्यकता होती नहीं है। वह सेवा का काय पुराने वस्त्रो से ही कर सकता था।

उसके पास नवीन वस्त्रो को खरीदने के लिए धन का भी अभाव रहता है, इसलिए स्वामी द्वारा दिए हुए पुराने वस्त्रा का ही वह उपयोग करता है। वस्त्रो के अतिरिक्त और छोटी छोटी वस्तुएँ भी स्वामी को सेवक के लिए दे देनी चाहिए। छोटी वस्तुओ के विषय म बताते हुए, भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि 'तीनो वर्णों को शूद्र का भरण पोषण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उसको भरण पोषण करने योग्य कहा गया है। अपनी सेवा में रहने वाले शूद्र को उपभाग में लाये हुए छाते, पगडी, अनुलेपन जूते, और पखे देने चाहिए।"[१३] शूद्र को पुरानी वस्तुएँ देने के अतिरिक्त उसकी जीविका का भी प्रबन्ध द्विजातियो को ही करना चाहिए इस विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "द्विजातियो में से जिस किसी की सेवा करने के लिए कोई शूद्र आवे उसीको उसकी जीविका की व्यवस्था करनी चाहिए, ऐसा धर्मज्ञ पुरुषो का कथन है।"[१४] जो सेवक जिसकी सेवा करेगा, वह अपने परिवार के पालन के लिए भी उन्हीं से धन एव वस्तुओ की आशा करेगा। समझदार लोग शूद्रो के भरण पोषण का सम्पूर्ण प्रबन्ध स्वय ही करते हैं, जो नहीं कर पाते हैं उन्हे भी दूसरो के कहने पर करना ही पडता है। सेवक की जीविका का प्रबन्ध करना स्वामी का सहज कर्तव्य है।

१३—अवश्य भरणीयो हि वर्णाना शूद्र उच्यते।
छत्र वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे।

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३२½

१४—य च कश्चिद् द्विजातीना शूद्र शुश्रूषुराव्रजेत्
कल्प्या तेन तु ते प्राहुर्वृत्ति धर्मविदो जना।

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३४½

५—राजा की आज्ञा से धार्मिक कार्य शूद्रों का अधिकार—

शूद्रों में भी कई तरह के लोग होते हैं। बहुत से शूद्र काम तो सेवक का करते हैं किन्तु उनके आचरण श्रेष्ठ पुरुषों जैसे होते हैं। वे सदाचार से रहते हैं और नियम से स्नान आदि करके ईश्वर का ध्यान करते हैं, वे शूद्र होकर भी उच्च वृत्ति के लोग समझे जाते हैं। शूद्रों में ऐसे लोग बहुत कम होते हैं। किन्तु जो भी होते हैं उनके आचार को देखकर राजा उन्हें धार्मिक कार्य करने की अनुमति दे देता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "धर्मात्मा शूद्र राजा की आज्ञा लेकर अपनी इच्छा के अनुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है।"[१५] शूद्रों के लिए प्राचीन काल में केवल वेदों का पढ़ना ही वर्जित था, बाकी सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थ वह पढ़ सकता था तथा धार्मिक कार्य कर सकता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता है। उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार होता है। यज्ञ का अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्र के लिए भी आवश्यक बताया गया है। शूद्र के यज्ञ में स्वाहाकार, वषटकार तथा वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता है।[१६] शूद्रों को अपना यज्ञ वैदिक मन्त्रों रहित करना पड़ता था। वैदिक मन्त्रों को छोड़कर अन्य साधना का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि 'शूद्र स्वयं वैदिक व्रतों की दीक्षा न लेकर पाकयज्ञों (बलि वैश्वदेव आदि) द्वारा यजन करे। पाक यज्ञ की दक्षिणा पूर्णपात्रमयी बतायी गई

१५—राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकम्
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ३१

१६—न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः ।
उत्तरत्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत ।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ३७

है।"[१७] पूर्णपात्र का परिमाण इस प्रकार है—आठ मुट्ठी अन्न को 'किञ्चित' कहते हैं आठ किञ्चित का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कल का एक पूर्णपात्र' होता है। इस प्रकार दो सौ छप्पन मुट्ठी का एक पूर्णपात्र होता है। बस शूद्र को यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तीनों वर्णों के यज्ञ करने से जो पुण्य उन्हें मिलता है, उसमें उनके सेवकों का भी हिस्सा होता है। यज्ञ में पुण्य का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों का जो यज्ञ है, वह सब सेवाकार्य करने के कारण शूद्र का भी है ही (उसे भी उसका फल मिलता ही है, अतः उसे पृथक यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं है)। सम्पूर्ण यज्ञों में पहले श्रद्धारूप यज्ञ का ही विधान है।"[१८] श्रद्धा यज्ञ करने वालों को पवित्र करती है। सभी वर्णों के लोग अपने-अपने कर्म द्वारा एक दूसरे के यज्ञों में सहायक होते हैं। सभी वर्णों को ब्राह्मणों की सन्तान ही माना जाता है। सभी वर्णों की भांति सदाचारी शूद्र भी संन्यास को छोड़कर शेष सभी आश्रमों का पालन कर सकता है। इस विषय में बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके कृतार्थ हो गया है जिसके पुत्र हैं शौच और सदाचार की दृष्टि से जिसमें अन्य त्रैवर्णिकों की अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त दस धर्मों के पालन में तत्पर रहा है, वह शूद्र यदि राजा की अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिए संन्यास को छोड़कर शेष सभी आश्रम विहित हैं।[१९] सदाचार से रहने वाले शूद्र में और उच्च वर्णों में जब

१७—तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ३८

१८—यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते॥
शांतिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ४०

१९—शुश्रूषाकृतकार्यस्य कृतसंतानकर्मणः।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते।
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्॥
शांतिपर्व—अध्याय ६३ श्लोक १२ १३

कोद अन्तर प्रतीत नही होता, तब राजा की आज्ञा से तीनो आश्रमा म उमका प्रवेश भी उचित ही है। जिस शूद्र ने मनु द्वारा बताये हुए दस धर्मों का ग्रहण कर लिया है उसके लिए सब काय करन की अनुमति मिल जाती है। वे दस धम ये है—धृति क्षमा मन का निग्रह, चारी का त्याग, बाहर-भीतर की पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य भाषण और क्रोध का अभाव। उपरोक्त दस धर्मों के पालन करने वाला शूद्र शूद्र नही रहता उसम उच्चवर्णों जसी पवित्रता एव बुद्धिमत्ता प्रकट हो जाती है। उमके इन आचारा के कारण ही राजा उसे सब वर्णों की भाति भिक्षा का भी अधिकारी बना देता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि पूर्वोक्त धर्मों का आचरण करने वाले शूद्र के लिए तथा वश्य और क्षत्रिय के लिए भी भिक्षा मागकर निर्वाह करने का विधान है।[२०] आश्रम चार होत हैं, इनमे सन्यास को छोडकर तीना आश्रमा का उपभोग सदाचारी शूद्र कर सकता है। प्रथम ब्रह्मचय आश्रम मे तथा तृतीय वानप्रस्थ आश्रम मे सबको भिक्षा ग्रहण करके अपना जीवन यापन करना पडता है। यहाँ भिक्षा माग कर निर्वाह करने का आशय यही है कि जब शूद्र वानप्रस्थ आश्रम म प्रवेश करेगा तब उसे भोजन की आवश्यकता होगी यह भिक्षा उसी समय वह मागगा और इसी स अपना वानप्रस्थाश्रम सफल करेगा। सदाचारी शूद्र इन पुण्य कर्मों के प्रभाव स अपना जीवन सुधार लेता है और परलोक मे जाकर सुख प्राप्त करता है।

शूद्रो को जिन कर्मों स स्वग की प्राप्ति हाती है उनके विषय मे श्री भगवान् न युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि शूद्रा म से जो सदा तीनो वर्णों की सेवा करता और विशेषत ब्राह्मणा की सेवा म दास की भाति खडा रहता है जा विना मागे ही दान दता है सत्य और शौच का पालन करता है गुरु और देवताओ की पूजा म प्रेम रखता है परस्त्री के ससग से दूर रहता है दूसरा को कष्ट न पहुचा कर अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करता है और

२०—भक्ष्यचर्या तत प्राहुस्तस्य तद्धमचारिण ।
तथा वश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चर्वाहि ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक १४

सब जीवा का अभयदान कर दता है उस शूद्र को भी स्वग की प्राप्ति होती है।[२१]

महाभारत मे शूद्रा को गौरव देने वाले वचन भी मिलते है। सामान्य रूप स मलिनता के कारण शूद्रो को हीन माना जाता है। प्राचीन काल मे अनक जातियां मलिनता से रहती थी। विवशता से वे उच्च वर्णो के सेवक बन गये। इस प्रकार शूद्र वर्ण की रचना हुई। उच्च वर्णो की सेवा ही उनका मुख्य धम है। वेदा के अध्ययन का अधिकार उनको नही है। ब्राह्मणा न यह प्रतिबन्ध वेदा की शुद्धता की रक्षा के लिय किया। किन्तु वेदा का अध्ययन अन्य कार्यो म लगे लोगो के लिये कठिन भी है। ब्राह्मण वेदा के अध्ययन म ही जीवन लगात थ। क्षत्रियो और वश्यो का वेदाध्ययन का अधिकार था किन्तु वे भी उसका निर्वाह नही कर सके। वेद के अतिरिक्त अन्य शास्त्रा म तथा धार्मिक कर्मो म शूद्रो का भी अधिकार है। ये धार्मिक कम शूद्र को भी पवित्र बनाते हैं। कर्मो की पवित्रता से शूद्र भी पवित्र हो जाता है तथा वह ब्राह्मण के समान वन्दनीय बन जाता है।[२२] ब्रह्माजी का यह वचन शूद्रो के प्रति अन्याय का एक बडा समाधान है। जो शूद्र शुभ कम करता है वह द्विजातियो स भी श्रेष्ठ है।[२३] द्विजत्व का कारण वृत्ति ही है। शुभ वृत्ति

२१—त्रयाणामपि वर्णानां शुश्रूषाभिरत सदा।
विशेषतस्तु विप्राणा वासवद् यस्तु तिष्ठति॥
अयाचितप्रदाता च सत्यशौचसमन्वित।
गुरुदेवाचनरत परदारविवर्जित।
परपीडामकुर्वश्च भत्यवर्ग बिभर्ति य।
शूद्रोऽपि स्वगमाप्नोति जीवानामभयप्रद॥
आश्वमेधिक पर्व-अध्याय ९२ श्लोक ५३ सेआगे

२२—कर्मभि शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रिय।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम्॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ४८

२३—स्वभाव कम च शुभ यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्ट स द्विजातेव विज्ञेय इति मे मति॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१, श्लोक ४९

वाला शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।[२४] इन समाधानो से विदित होता है शूद्रो की हीनता शास्त्रकारो का आग्रह नही थी वरन् वह तत्कालीन समाज की स्थिति से पैदा हुई थी। इन समाधानो के सकेत से शूद्र की स्थिति को सुधारा जा सकता है।



२४--कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥
अनुशासन पर्व-अध्याय १४१,
श्लोक-५०, ५१

अध्याय-१३

महाभारत में आश्रम-धर्म

१—आश्रम व्यवस्था का महत्व—

भारतीय धारणा के अनुसार काल को जीवन का मम माना गया है। काल ही जीवन और काल ही मृत्यु है। श्वेताश्वतर उपनिषद क आरम्भ म प्राचीन ऋषि जीवन के तत्त्व के सम्बध मे विचार करते हैं तो उन्होने काल को ही जीवन के तत्त्वो म प्रथम स्थान दिया है। काल को समय भी कहते है, जो सम्यक् (सम) रूप से व्यतीत होता है (या) उसे समय कहते है। समय ही जीवन है और उसका भले प्रकार बीतना ही जीवन की साथकता है। काल के अनुसार ही जीवन का विकास होता है इसे आयु कहते है। जीवन की कालगत अवस्था अथवा आयु के अनुसार ही जीवन के व्यतीत होने पर जीवन सफल होता है। सम्पूण जीवन को एक रूप मानना जीवन और काल की गति का तिरस्कार करना है। काल की गति के इस तिरस्कार से जीवन का सौन्दय और आनन्द भी नष्ट हो जाता है। जीवन का सौन्दय जीवन की विविधता म सुरक्षित रहता है। काल की गति और विकास के मानने पर जीवन म अधिक स्वाभाविकता आ जाती है दूसरी ओर जीवन का सौन्दय और आनन्द भी बन जाता है। जीवन की यही स्वाभाविकता और जीवन का यही सौन्दय आश्रम व्यवस्था का रहस्य है।

जीवन की एकरूपता मे आयु की अनुकूलता और विविधता क सौन्दय का सन्निवेश करने के लिए ही भारतीय धम शास्त्रो मे मनुष्य क जीवन को चार भागो म विभाजित किया है। ये चार भाग जीवन क आश्रम कहलाते है। इन आश्रमो को ब्रह्मचय गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास कहते है। आश्रम की व्युत्पत्ति श्रम' से होती है। श्रम' जीवन का उद्योग है वही जीवन का धम और कतव्य भी बन जाता है। जीवन के विविध आश्रमो के धम और कतव्य जीवन को सुन्दर और सफल बनाते हैं। मानव की पूर्ण आयु को

सौ वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम के लिए पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम जीवन का प्रथम आश्रम है। यह जीवन के निर्माण और विद्याध्ययन का समय है। यह स्वास्थ्य और चरित्र के बनाने का समय है। इनकी समृद्धि से ही जीवन सफल होता है। गृहस्थ आश्रम में जीवन के सुखों के उपभोग तथा धार्मिक व सामाजिक कर्तव्यों के पालन के लिए अवसर मिलता है। वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य नागरिक जीवन का त्याग कर वनवास करना तथा साधना और विद्यादान में जीवन बिताना है। संन्यास जीवन के समस्त बन्धनों से मुक्त होकर विश्व का भ्रमण तथा मृत्यु के भय से रहित जीवन का स्वच्छन्द विहार है।

जीवन के विभाजन में जीवन के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निहित हैं। इनमें सबसे पहला सिद्धान्त जीवन की 'अनेकरूपता' है। अनेकरूपता में ही जीवन का सौन्दर्य और आनन्द है। आश्रम-व्यवस्था में कई प्रकार से जीवन में अनेकरूपता का समावेश किया गया है। प्रत्येक आश्रम में जीवनयापन का क्षेत्र और स्थान भिन्न होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में अपना गृहत्याग कर गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन करना होता है। गृहस्थाश्रम में नागरिक जीवन के सब सुख और उसकी सुविधायें प्राप्त होती हैं। वानप्रस्थ-आश्रम का वनवास नागरिक जीवन से ऊबे हुए मन को एक नया वातावरण और जीवन को नई दिशा देता है। संन्यास का स्वच्छन्द विहार अपनी स्वतन्त्रता और नवीनता में अलौकिक है। जीवन के स्थान और क्षेत्र के अतिरिक्त इन चारों आश्रमों में रहन सहन भोजन, वस्त्र जीविका कर्त्तव्य आदि की दृष्टि से भी भिन्नता होती है, जो प्रत्येक आश्रम में जीवन को एक नवीनता का सौन्दर्य प्रदान करती है।

आश्रम व्यवस्था में अन्तर्निहित जीवन का दूसरा सिद्धान्त जीवन की पूर्णता है। विभिन्न आश्रमों में विभिन्न कर्त्तव्यों के पालन से मनुष्य जीवन पूर्ण होता है। आश्रम की इस चतुरंग व्यवस्था में जीवन के सभी प्रमुख और महत्वपूर्ण लक्ष्यों का समावेश है। स्वास्थ्य चरित्र विद्या और शक्ति की साधना ब्रह्मचर्य-आश्रम में जीवन की सुदृढ भूमिका बनाती है। गृहस्थ आश्रम में जीवन के लौकिक सुख तथा सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य पूर्ण होते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास में जीवन के वे आध्यात्मिक लक्ष्य पूरे होते हैं जिनकी कल्पना भी अन्य समाजों में नहीं की जा सकी। संन्यास की स्वतन्त्रता जीवन की पूर्णता की ही प्रतीक है। जीवन के सभी मुख्य लक्ष्यों के समावेश

के कारण आश्रम-व्यवस्था परिपूर्ण जीवन का एक उत्तम आदश है। अनेक-रूपता के सौन्दय और जीवन क प्रमुख लक्ष्यो के गौरव से युक्त आश्रम-व्यवस्था कोई अव्यावहारिक आदश नही है। यद्यपि उत्तरकाल म भारतीय समाज में इसका व्यापक व्यवहार नही रहा है फिर भी प्राचीन काल मे सभी आश्रमो का पर्याप्त व्यवहार होता था। राजाओ के भी वानप्रस्थ ग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं। ब्रह्मचारियो तथा वानप्रस्थो के कितने ही आश्रम प्राचीन वनो म थे। धम और दशन की परम्परा म तथा उसम पथक-मत सन्यासी स्वच्छन्द आध्यात्मिक जीवन म लीन रहे। उत्तरकाल म और वतमान काल म भी अधिक सख्या मे ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और सन्यासी मिलते है। तात्पय यह है कि आश्रमो का आदश व्यवहार के योग्य हैं और आज तक भारतीय जीवन मे उसका व्यवहार हो रहा है।

आश्रम-व्यवस्था की इस व्यावहारिकता का मूल स्रोत भारतीय परम्परा की प्रबल प्रेरणा है, जो भारतीय सामाजिक जीवन को उत्तम लक्ष्यो की ओर सचालित करती रही है। किन्तु इसके साथ-साथ इसका एक प्रमुख कारण आश्रम-व्यवस्था में अन्तर्निहित सिद्धान्तो की प्राकृतिक और सास्कृतिक सत्यता है। आश्रम-व्यवस्था का आधार केवल अध्यात्म नही है। इसमे अध्यात्म के आदश प्रकृति की दृढ भूमि पर प्रतिष्ठित हुए हैं। समय, स्वास्थ्य और बल क प्राकृतिक सत्यो को इस व्यवस्था म आधार माना गया है। ब्रह्मचय-आश्रम का उद्देश्य जीवन से वराग्य नही वरन् स्वास्थ्य चरित्र और विद्या की साधना के द्वारा जीवन को ही पूणत सफल और आनन्दमय बनाना है। जीवन के इस आरम्भिक निर्माण में कालक्रम के प्राकृतिक सत्य को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। मानवीय जीवन काल का हो एक क्रम है। समय का यह क्रम एक नसर्गिक गति है। हम इसम किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही कर सकते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से समय के सभी क्षण समान हैं। किन्तु उनके पूर्वापर क्रम की दृष्टि म पूवतर क्षणो का उत्तर क्षणो की अपेक्षा इसलिए अधिक महत्व है कि प्रत्येक पूवतर क्षण उत्तर क्षण की भूमिका बनता है और उसको अधिक मूल्यवान बनाने की सम्भावना रखता है। ब्रह्मचर्याश्रम म ही नही, गृहस्थ और वानप्रस्थ मे भी पूवकाल के महत्व का ध्यान रखा गया है। आयु क विकास की दृष्टि मे प्रत्येक आश्रम म अनुकूल धर्मों का विधान किया गया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पूव आश्रम के धम अन्य आश्रमो को उत्तरोत्तर अधिक सफल बनाते हैं। ब्रह्मचयाश्रम की तप और साधनामयी भूमिका तो सभी आश्रमो की सफलता की नीव है।

अनेकरूपता नवीनता, परिवर्तन, कालक्रम की उपयुक्तता आदि अनेक दृष्टियों से आश्रमों की व्यवस्था मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की अत्यन्त सन्तुलित और सामंजस्यपूर्ण योजना है। तप और त्याग की प्रधानता होते हुए भी प्राकृतिक जीवन के सन्तोष के लिए इसमें समुचित स्थान है। एक प्रकार से ब्रह्मचर्य का यह तप और त्याग ही प्राकृतिक जीवन को भी अधिक सुन्दर एवं सफल और अधिक आनन्दमय बनाता है। प्राकृतिक जीवन में तो मनुष्य की स्वाभाविक रुचि होती है। सामाजिक जीवन बौद्धिक विकास, नैतिक शिक्षा और आध्यात्मिक साधना को महत्त्व देना और इन सबके लिए समुचित आयोजन करना आश्रम व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है। ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यास के त्यागमय जीवन में समाज के नागरिक और प्राकृतिक जीवन के अनेक संघर्ष कम हो सकते हैं अनेक विषमतायें दूर हो सकती है और इसके फलस्वरूप उसमें अधिक सन्तुलन रह सकता है।

मनुष्य के जीवन की पूर्णता और कृतार्थता की दृष्टि से आश्रमों के क्रम का विकास संगीत की रागिनी के समान विविधता पूर्ण तथा व्यवस्थित है। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य की साधना के बाद लौकिक जीवन के सफल होने पर वानप्रस्थ और संन्यास का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अध्यात्म प्राकृतिक दृष्टि से ह्रासमुखी जीवन की एक आनन्दमय परिणति की ओर ले जाता है। संन्यास की पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में मानो मनुष्य का मर्त्य जीवन अमरता का अधिकारी बन जाता है। संन्यास की कृतार्थता और उसके अभय में मनुष्य मृत्युंजय बनकर विश्व में विहार करता है। काल के क्रम से जीवन का मृत्यु में विलय होना उसी प्रकार मनोहारी बन जाता है जिस प्रकार एक मधुर रागिनी अपने अवसान में अन्तरिक्ष में विलीन हो जाती है। ऐसे सुन्दर जीवन की कल्पना धर्मशास्त्रों की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इस व्यवस्था का बाह्य रूप तो युग के अनुसार बनाया जा सकता है किन्तु इसका आन्तरिक अभिप्राय सुन्दर और सफल जीवन का शाश्वत सत्य है।

२—ब्रह्मचर्य-आश्रम के धर्म—

ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन का प्रथम पर्व है। इसे हम जीवन के प्रासाद की नींव कह सकते हैं। समस्त जीवन इसी पर निर्भर है। यह जीवन का

विकास काल है। इसम ही मनुष्य के शारीरिक अवयवा और मानसिक शक्तियो का पूण विकाम होता है। इस विकास की गतिविधि पर ही हमारे जीवन का स्वरूप और उसकी सायकता निभर है। सचेतन और सयत्न निर्माण को भूमिका पर आश्रित ही जीवन का प्रासाद स्थायी और उपयोगी हो सकता है। ब्रह्मचय की साधना द्वारा उपार्जित स्वास्थ्य शक्ति और सदाचार पर प्रतिष्ठित यौवन ही सफल और सायक होता है। इसीलिए ब्रह्मचय को गृहस्थ का द्वार ही नही वरन् उसकी कृतायता की भूमिका माना गया है। कुमार काल म मनुष्य के जीवन म शक्ति के निर्बाध स्रोत फूट पडते हैं। इस समय मनुष्य की उमडती हुई शक्ति के विशृङ्खल होने की बहुत सम्भावना रहती है। इसलिए यौवन की सफलता के लिए इस शक्ति के स्रोत का सयम आवश्यक है। साधारणत ब्रह्मचय का अथ काम का निरोध ही समझा जाता है। वस्तुत ब्रह्मचारी का गुरुसेवा पूवक विद्योपाजन शील सदाचार आदि द्वारा चरित्र का निमाण, वद तथा शास्त्रो का अनुशीलन आदि ब्रह्मचय-आश्रम के मुख्य कर्त्तव्य है।

प्राचीन काल म ब्रह्मचारी की वेषभूषा साधारणजना से भिन्न होती थी। उस वेषभूषा स वे सबको ब्रह्मचारी प्रतीत होते थे और सब गृहस्थ उनका आदर करत थ तथा भिक्षा देत थे। ब्रह्मचारी मूँज की मेखला धारण करता था, जटा धारण करता था यज्ञोपवीत धारण करता था, प्रतिदिन स्नान करता था, वद के स्वाध्याय म लीन रहता था तथा लोभहीन होकर नियमो का पालन करता था। पलास का दण्ड धारण करता था तथा गेरुए रग के वस्त्र या मृगचम पहनता था। दोनो समय अग्नि म यज्ञ करता था जिसस उसका मन प्रसन्न और शान्त रहता था। दिन म गाव म जाकर भिक्षा माँगता था और जो कुछ मिलता था वह गुरु के समक्ष मव रख देता था। उसमे से जो कुछ गुरुजी उसे खाने का देते थे उसे ही वह ग्रहण करता था। ब्रह्मचारी की प्राचीन वेषभूषा का वणन करते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियो से इस प्रकार कहा कि "ब्रह्मचारी मूँज की मेखला पहन जटा धारण करे, प्रति दिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेद के स्वाध्याय म लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूवक व्रत का पालन करे।[1] ब्रह्मचारी

१—मेखली च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रत ॥
आश्वमेधिक पव-अध्याय ४६ श्लोक ६

के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "ब्रह्मचारी के लिए भिक्षाचर्या परम धर्म है। नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, धर्म का रहस्य सुनना वेदोक्त व्रत का पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य आश्रम का धर्म है।"[२] ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा मांगना तथा गुरु सेवा करना सब धर्मों में प्रधान धर्म है। गुरु की भक्ति करना तथा सेवा करना ब्रह्मचारी का प्रमुख धर्म है। गुरु की भक्ति का प्रसाद भी ब्रह्मचारियों को विद्या के रूप में मिलता था। गुरु अपने शिष्यों को पुत्रों के समान प्रेम करते थे तथा उनको ज्ञान सिखाने में बड़ा परिश्रम करते थे। गुरु के प्रेम से ब्रह्मचारी इतने वर्षों तक कठोर परिश्रम करके अपना जीवन सफल और उन्नतिपूर्ण बनाते थे। गुरु की सेवा से विद्यार्थी विनय सीखते थे। विनय से नम्रता आती थी और नम्रता से उनकी बुद्धि का विकास होता था। बुद्धि के विकास से शास्त्रों का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता था। शास्त्रों के ज्ञान से ब्रह्मचारी अपने जीवन में अनेक नये शास्त्रों और सिद्धांतों का लेखन करता था और विद्वानों की श्रेणी में गिना जाता था।

विद्योपार्जन ब्रह्मचर्य का मुख्य लक्ष्य है। विद्या मनुष्य की चेतना का विकास है। विद्या की धारा स्वास्थ्य और चरित्र के दो किनारों के बीच बहती है। विद्या मनुष्य की मानसिक उन्नति है। पशुओं की तुलना में विद्या ही मानव की विशेषता है। मनुष्य का आरम्भिक जीवन विद्योपार्जन का ही समय है क्योंकि यही उसके मानसिक विकास का भी समय है। आगे चलकर भी मनुष्य ज्ञान का संचय कर सकता है किन्तु बुद्धि का विकास और सामान्य मानसिक संस्कारों का निर्माण ब्रह्मचर्यावस्था में ही हो सकता है। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या को महत्त्व देना एक प्राचीन परम्परा होने के साथ-साथ सनातन सत्य भी है।

२—भैक्षचर्या परोधर्मो नित्यं यज्ञोपवीतिता।
　रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
　अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम्॥

　　अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, ३५½–३६

प्राचीन शिक्षा के अनुसार ब्रह्मचारी की शिक्षा के चार चरण बताये गये हैं—[३]

पहला चरण– ब्रह्मचारी शिष्य को चाहिए कि वह नित्य गुरु को प्रणाम कर बाहर भीतर से पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगाये, अभिमान न करे मन में क्रोध को स्थान न दे। जो शिष्य की वृत्ति के क्रम से ही जीवन निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रत का पहला ही पाद कहलाता है।

दूसरा चरण–ब्रह्मचारी अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का प्रिय करे, गुरु के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण व्यवहार करे वैसा ही गुरु की पत्नी और गुरु के पुत्र के साथ भी व्यवहार करे। यह ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद कहलाता है।

तृतीय पाद– आचार्य ने जो अपना उपकार किया उसे ध्यान में रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी ध्यान या विचार करके मन ही मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्था में पहुंचा दिया है—यह ब्रह्मचर्य का तीसरा पाद है।

चौथा पाद– आचार्य के उपकार का बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरु दक्षिणा आदि के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँ से अन्यत्र न जाये। दक्षिणा देते समय कभी मन में ऐसा विचार न लाये कि मैं गुरु का उपकार कर रहा हूं तथा मुँह से भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्य का चौथा चरण है।

प्राचीन धर्म शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के पालन से ईश्वर की प्राप्ति का भी वर्णन मिलता है। धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी ने बताया कि "जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अन्तरंग भक्त हो

३—देखिये अगला अध्याय १४ प्रकरण–४

ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देह त्याग के पश्चात् परम योग रूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।"[४] ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य की आयु बढ़ती है, मुख का तेज बढ़ता है, शरीर में शारीरिक शक्ति बढ़ती है, बुद्धि बढ़ती है, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करता है। भगवान के प्रेम को प्राप्त करके स्वर्ग की प्राप्ति करता है।

३—गृहस्थ धर्म—

गृहस्थ-आश्रम जीवन का दूसरा पद है। ब्रह्मचर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित गृहस्थ-आश्रम ही मानवीय जीवन की कृतार्थता का प्रमुख पीठ है। ब्रह्मचर्य-आश्रम में उपार्जित शक्ति के उपयोग और ज्ञान के व्यवहार का यही अवसर है। विधिपूर्वक विवाह करके काम के मर्यादित उपभोग के द्वारा परिवार और समाज की प्रतिष्ठा गृहस्थ का मुख्य धर्म है। इसके अतिरिक्त विद्या का प्रचार तथा कृषि, व्यवसाय आदि के द्वारा आर्थिक व्यवस्था का संरक्षण ही गृहस्थ का धर्म है। भारतीय शास्त्रों में गृहस्थ आश्रम को अत्यन्त श्रेष्ठ तथा अन्य सभी आश्रमों का उपजीव्य माना गया है। दान, आतिथ्य, भिक्षा आदि के द्वारा वह अन्य तीनों आश्रमों का पोषण करता है। तीनों आश्रमों को धारण करने के कारण गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ अथवा गरिष्ठ कहा है।

गृहस्थाश्रम के धर्म मुख्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक हैं। सामाजिक धर्म मनुष्य के वे धर्म हैं जो दूसरों के प्रति उसके कर्तव्य रूप में बनाये गये हैं। जिनके प्रति गृहस्थ के कुछ कर्तव्य हैं, उनमें संसार के सभी जीव सम्मिलित हैं। निकट के जनों के प्रति उसका कर्तव्य अधिक हो सकता है किन्तु गृहस्थ के उदार सत्कार का द्वार सबके लिए खुला रहता है। एक ओर गृहस्थाश्रम एक सीमित रूप में प्रकृति का उपभोग और परिताप है। किन्तु

४—आचार्य योनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥

उद्योगपर्व—अध्याय ४४ श्लो० ६

दूसरी ओर वह त्याग और उदारता के द्वारा दूसरो का सत्कार और पालन भी है। गृहस्थ के इन कत्त व्यो को भारतीय परम्परा मे एक सु दर सास्कृतिक रूप दिया गया है। इस परम्परा म ये धम जीवन के सुदर पव बन गये है। ज म से मृत्यु तक मनुष्य के अनेक धार्मिक सस्कार इन पर्वो के अवसर हैं। पुत्र ज म उपनयन, विवाह, मृत्यु आदि के रूप में जीवन के य पव सौ दय और आन द का सस्कार करते हैं। उनका सौ दय ज म और विवाह क प्राकृतिक धर्मों को सौ गुना सु दर बना देता है।

गृहस्थ में सबसे अधिक सम्ब ध स्त्री का होता है। इसलिए पुरुषा का स्त्री के प्रति सदा उदार भाव रखने चाहिए। स्त्री को आदर देकर ही गृहस्थ पुरुष शान्ति और प्रेम पा सकता है। पति पत्नी का स्नेह और आदरपूर्ण सम्ब ध कल्याण का माग है। अत स्त्रिया की प्रसन्नता और उनका आदर विशेष रूप से पुरुषा का उत्तरदायित्व है। यद्यपि गृहस्थ जीवन की सफलता स्त्री के सद्भाव सदाचार श्रम आदि पर भी निभर है। मनु ने कहा है कि 'जिस कुल में पति पत्नी एक दूसर से स तुष्ट रहते हैं, उस कुल का सन्व कल्याण होता है, यह निश्चित है।'[५]

अत कल्याण चाहन वाले पुरुषा के द्वारा स्त्रिया सदा पूज्य हैं। उत्सव आदि के अवसर पर उनका विशेष सत्कार करना चाहिये।

गृहस्थ मनुष्य के लिए शास्त्रा में पाँच प्रकार के यज्ञ बताये हैं, जो पञ्चमहायज्ञ क नाम स प्रसिद्ध हैं।[६] मनुस्मृति मे पञ्चयज्ञ इस प्रकार बताये है कि

५—स तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र व ध्रुवम॥

मनुस्मृति—अध्या० ३, श्लो० ६०

६—मनुस्मृति—अध्याय ३, श्लो० ७०

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, जीवों को बलि देना भूतयज्ञ है और अतिथि सत्कार करना मनुष्ययज्ञ है। ये पाँचों महायज्ञ अलौकिक और लौकिक दोनों प्रकार की सत्ताओं के प्रति हमारे कर्तव्य के द्योतक है।

पहला महायज्ञ देवयज्ञ—

इसका सम्बन्ध देवताओं तथा ईश्वर से है। वैदिक धर्म में देवता उस दिव्य शक्ति के प्रतीक हैं, जो विश्व का संचालन करती है। हमारा जीवन देवताओं की कृपा पर निर्भर है। अतः देवताओं की पूजा उपासना आदि करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।

दूसरा महायज्ञ, ऋषियज्ञ—

यह ऋषियों के प्रति हमारे कर्तव्य का सूचक है। वैदिक परम्परा में ऋषि मनुष्य जाति के प्राचीनतम पूर्वज तथा धर्म और संस्कृति के विधायक हैं। उन्होंने ही अपनी दिव्य दृष्टि से तथा अपनी त्यागमयी साधना के द्वारा धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की सुन्दर परम्परा का निर्माण हमारे लिए किया है। इसलिए वे हमारे वन्दनीय हैं। देवताओं की सत्ता सनातन है इसलिए हम सदा उनकी उपासना कर सकते हैं। किन्तु अतीत के ऋषियों का तो केवल हम स्मरण है। स्मरण भी कृतज्ञता का सूचक है। किन्तु स्मरण ही पर्याप्त नहीं। ऋषियों के द्वारा दिये गये ज्ञान, धर्म, संस्कृति आदि की परम्परा को पोषित करना उनके प्रति हमारे कर्तव्य का अधिक सक्रिय भाग है। विद्या, धर्म और संस्कृति के प्रचार में योग देना ऋषि यज्ञ का व्यावहारिक रूप है। धर्म और संस्कृति की परम्परा इसी के द्वारा सुरक्षित रह सकती है।

तीसरा महायज्ञ, पितृयज्ञ—

यह प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब के द्वारा अपने दिवंगत पूर्वजों का तर्पण अथवा पूजन है। हम अपने जन्म और संस्कार के लिए पितरों के ऋणी हैं। उन्होंने हमारे माता पिता आदि का पालन किया है, स्मरण और तर्पण के द्वारा उनका सत्कार करना हमारा (गृहस्थों का) कर्तव्य है। श्राद्ध पितरों के प्रति श्रद्धा का ही सूचक है। पितरों का स्मरण और सत्कार स्मृति के सूत्र को एक दृढ़ अवलम्ब देता है। इस प्रकार पितृयज्ञ एक ओर पितरों की तृप्ति का साधन है तथा दूसरी ओर संतति के सांस्कृतिक वैभव का भाग है।

चौथा महायज्ञ, नृयज्ञ—

नृयज्ञ मानव के प्रति गृहस्थ के सामान्य कर्तव्य का सूचक है। मनुष्यता के नाते मनुष्य के प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है। धर्मशास्त्रों में मनुष्य को सबसे श्रेष्ठ माना है। धर्मशास्त्र का आदेश है कि मनुष्य का निरादर नहीं करना चाहिए। मनुष्य का सत्कार करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। अग्नि पुत्र सुदर्शन ने गृहस्थ को अतिथि सत्कार करना चाहिए, इस विषय में अपनी स्त्री से इस प्रकार कहा कि "जिस गृहस्थ के घर पर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है, उसके लिए उससे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं।[७] गृहस्थ जीवन के पर्व और संस्कारों में भी उक्त तीन यज्ञों की भाँति नृयज्ञ का भी बहुत कुछ समारम्भ है। अनेक आचारों के रूप में सम्बन्धीजनों का तथा सेवकों आदि का सत्कार किया जाता है। नृयज्ञ आश्रम व्यवस्था की व्यापक मानवीय भावना का सूचक है।

पाँचवाँ महायज्ञ, भूतयज्ञ—

मनुष्य को भी भूत कहते हैं, किन्तु नृयज्ञ में विशेष रूप से मनुष्य का ग्रहण होने के कारण भूत का अभिप्राय शेष जीवों से है। इसमें पशु, पक्षी कीट आदि जीव सम्मिलित हैं। इनका पालन पोषण गृहस्थ का कर्तव्य तथा धर्म है। गो-पालन, जीवों को भोजन देना, उन पर दया करना वृक्षों को जल देना ये सब भूतयज्ञ के अंग हैं। भूतयज्ञ आश्रम-व्यवस्था की महती करुणा का सूचक है।

गृहस्थाश्रम में पुत्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना पुत्र के गृहस्थ जीवन सूना है। पुत्र बिना गृहस्थ की मुक्ति भी नहीं होती है। पुत्र की महिमा बताते हुए जरत्कारु से उसके पितरों ने इस प्रकार कहा कि 'तात ! पुत्र वाले मनुष्य इस लोक में जिस उत्तम गति को प्राप्त होते हैं उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल देने वाले भलीभाँति संचित किए हुए तप से भी नहीं

७—अतिथि पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति ।
नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिण ॥
अनुशासन पर्व—अध्याय २, श्लोक ७०

पाते ।[8] पुत्र अपने माता पिता का विधि पूर्वक श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म करके उनकी आत्मा को शांति ही नहीं देता वरन् उनको पितर योनि से मुक्ति भी करता है। इस प्रकार पुत्र अपने पूर्वजों को स्वर्ग तक पहुंचाने वाली सीढ़ी है। गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ यदि व्रतपरायण, धर्मशील, गुरुसेवक तथा अतिथि को निराश न लौटाने वाला पुत्रवान हो तो उसको उत्तम लोक तथा उत्तम गति प्राप्त होती है।

४–वानप्रस्थ-धर्म—

वानप्रस्थ-आश्रम का उद्देश्य गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करके जीवन को एक नया रूप और नयी प्रेरणा देना है। लौकिक और पारलौकिक जीवन की अपनी सीमायें हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ढलती उम्र में जीवन के नवीन विकासों की दिशा आध्यात्मिक ही हो सकती है। वानप्रस्थ जीवन की इसी नई दिशा का निर्माण है। आश्रम व्यवस्था में जहाँ एक ओर मनुष्य की सभी आकांक्षाओं को उचित स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर जीवन के नये-नये रूपों की सम्भावना को पूर्ण महत्व प्रदान किया गया है। चार आश्रमों में उचित समय पर क्रमशः जीवन का रूप पुराना बदलता रहता है और इस परिवर्तन में जीवन का सौन्दर्य निरन्तर नये रूपों में निखरता है। गतिमत्ता के साथ साथ जीवन की इस व्यवस्था में सौन्दर्य का पूर्ण सन्निधान है। आयु के अनुसार ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों में मनुष्य की अन्य कुछ आकांक्षायें पूर्ण हो जाती हैं। गृहस्थाश्रम की कृतकृत्यता के बाद जीवन के नये रूपों की खोज वानप्रस्थाश्रम में प्रकट हुई है।

है। साथ ही समाज के लिए इन व्यक्तियो के ज्ञान और गुणो से लाभ उठाने का भी अवसर है। साहित्य और सस्कृति की परम्परा के पोषण का वानप्रस्थ एक महान माग है। वानप्रस्थ मे विद्यार्थियो की शिक्षा, साहित्य का निर्माण और सस्कृति का पोषण होता था। वानप्रस्थ मनुष्य को परिवार की सकुचित सीमाओ और स्वार्थों से ऊपर उठकर एक विस्तृत सामाजिक क्षेत्र म साधना और सेवा द्वारा जीवन की पूणता का लाभ उठाने का अवसर है। वानप्रस्थ का मूल भाव गृहस्थ जीवन क उपयोग और परितृप्ति के बाद त्यागपूवक प्रेम और सेवा को अधिक व्यापक और लोकोपयोगी बनाना है। व्यावहारिक दृष्टि से वृद्धो का लोकाधिकार प्राय युवको की स्वतन्त्रता अधिकार भावना और उनके आनन्द मे बाधक होता है। इसलिए वानप्रस्थ अथवा वनप्रवास वृद्ध राजाओ और नागरिको को राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र को स्वस्थ और आनन्दमय रखने म सहायक होता था। इस सन्तुलित जीवन विधि म मानवीय जीवन और सस्कृति की पूणता थी।

वानप्रस्थ का जीवन ब्रह्मचय के समान ही सरल सात्विक और साधनामय होता था। एक प्रकार से य दोनो आश्रम एक दूसरे के पूरक है। वानप्रस्थ गुरुओ के आश्रम म ही ब्रह्मचारी विद्या-अध्ययन करते थे। विद्या का प्रसार अथवा दान वानप्रस्थ का मुख्य कत्तव्य था। वानप्रस्थ के योग से ही प्राचीनकाल म भारतवष म विद्या की इतनी समृद्धि हुई थी। इसकी ससार के किसी भी प्राचीन देश म तुलना नही मिलती। विद्या दान और आध्यात्मिक साधना ही वानप्रस्थ के मुख्य धम थे। वानप्रस्थ को घर छोडकर वन म आश्रम बनाकर रहना पडता था। यदि उसकी स्त्री चाहे तो वह उसे भी साथ रख सकता था यदि स्त्री न चाहे तो वह उसको अपने पुत्रो को सौंप कर अकेला ही वन म रहे। वानप्रस्थ के धम बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि वानप्रस्थ को सदा वन म ही रहना, वन मे ही विचरना वन म ही ठहरना, वन के ही माग पर चलना और गुरु की भाँति वन की ही शरण लेकर वन मे ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। प्रतिदिन अग्निहोत्र और पचमहायज्ञो का सवन वानप्रस्थो का धम है।[९] वानप्रस्थो को वन म

९—वननित्य वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचर ।
वन गुरुमिवासाद्य वस्तव्य वनजीविभि ॥
तेषा होमक्रियाधम पचयज्ञनिषेवणम ।
भाग च पचयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम ॥
अनुशासनपर्व अध्याय १४२, श्लोक १३ १४

उत्पन्न वस्तु को ही खाना चाहिए। बिना जोती भूमि मे उगे अन्न का सेव करना चाहिए। वन को ही अपना गुरु मानकर उसी म विचरते रहन चाहिए और शात चित्त से अपने नित्य कर्मों को करना चाहिए। गृहस्थ क भांति वानप्रस्थी को भी पचमहायज्ञ करने चाहिए। अतिथि आ जाय त उसको बठने को आसन दे, जल दे तथा जो कुछ वन्य पदाथ पास हो, उसी क आदर पूवक भोजन के लिए दे। दाढी मूँछ सिर के बाल, नख आदि धार करे इन्द्रिया को वश म रक्खे, सत्य धम का पालन करे, वेदो का स्वाध्या करे तथा समय पर अग्निहोत्र करे, वानप्रस्थी सदा व्रत और उपवास म तत्प रहे दूसरो पर क्षमा का भाव रखे, पृथिवी पर सोये धम का चिन्तन करत रहे। वानप्रस्थी के धम बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि सदा वीरास से बठ वेदी या चबूतरे पर सोये, सर्दी क मौसम म रात को जल म बठे र खडा रहे बरसात मे खुले मदान म सोये ग्रीष्म म पचाग्नि का सेव करे।[१०] शीतऋतु म रात्रि म जल म बठना एक कठोर तप है वर्षा म खु मदान म सोना वर्षाजल से भीगना है तथा गर्मी म चारो ओर अग्नि जलाक तथा ऊपर से सूय की गर्मी म बठे या खडे रहना वानप्रस्थ की घोर तपस्य का द्योतक है। वानप्रस्थ मुनि का जीवन इतना कठोर व्रतो से पूर्ण होता कि अन्य सब धम उसी मे पूर्ण हो जाते हैं।

वानप्रस्थी का जीवन कठोर तपस्याओ से पूर्ण होता है। इसलि उसका शरीर तपस्या के कारण मास हड्डी तथा रक्त से हीन हो जाता है जिसका शरीर कृश और दुबल हो गया है वह वानप्रस्थी मुनि इस लोक क जीतकर परलोक पर भी विजय प्राप्त करता है। जिस वानप्रस्थी मुनि का म सदा शान्त और एकाग्र रहता है वह सदा धम के ही आचरण मे लगा रहत है तथा सब इन्द्रिया को वश म रखता है वही मुनि मोक्ष का अधिकारी होत है। अपनी तपस्या से तथा धमपूर्ण आचरण से वनवासी मुनि अपनी र मोक्ष करते ही हैं साथ म अपने पूवजो का भी उद्धार करते है। इस विषय

---

१० — वीरासनरतन्नित्य स्थण्डिले शयन तथा।
शीततोयाग्नियोगश्च चतव्यो धमबुद्धिभि ॥
अनुशासनपर्व अध्याय १४२ श्लोक १०

अष्टक को वताते हुए ययाति ने कहा कि "जो वनवासी मुनि वन म ही अपन पचभूतात्मक गरीर का त्याग करता है, वह दस पीढी पूव के और दस पीढी बाद के जाति भाइया को तथा इक्कीसवें अपने को भी पुण्य लोका मे पहुँचा देता है।'[11] वानप्रस्थ जीवन मुक्ति का शेप बाधाओ को तथा जीवन के शेप कत्त या को समाप्त करके सन्यास की स्वत त्रता का माग प्रशस्त करता है। वानप्रस्थ का जीवन गृहस्थ और स यास का दि य सेतु है।

५—सन्यास-धम—

वानप्रस्थ क बाद चौथा अ तिम आश्रम स यास है। स यास का अथ सामा य रूप म त्याग है। वानप्रस्थाश्रम तक जीवन के सम्पूण कतव्य पूरे हो जाते हैं और स यासी कम से पूणतया मुक्त हो जाता है। आश्रम धम शास्त्रो द्वारा विहित जीवन के विभाजन पव हैं। अत प्रत्येक आश्रम के लिए शास्त्रो म कतव्या का भी विधान किया गया है। स यास जीवन का मुक्ति पव है। सामाजिक और नागरिक कर्त्तव्य गृहस्थाश्रम म पूण हो जाते हैं किन्तु कुछ विद्या और अध्ययन सम्बधी कर्त्तव्य वानप्रस्थ म शप रह जाते हैं इ ही कत या के पालन क लिए वानप्रस्थी एक स्थान पर कुटी बनाकर रहता है। स यास म कोई कतव्य शेप नही रहता इसी कारण स यासी का एक स्थान पर निवास करना आवश्यक नही है। धमशास्त्रो म स यासी को एक स्थान पर रहना निषिद्ध है। तीन दिन से अधिक वह एक स्थान पर नही रह सकता। वह निरन्तर घूमता रहता है। इसी कारण स यासी का परिव्राजक कहते हैं। स यासी को अनिकेत कहते हैं। क्याकि उसका कोई निवास स्थान नही होता। ससार म घूमता हुआ स यासी कही भी सूर्यास्त होने पर वृक्ष के नीचे, नदी के किनारे तथा पवत की गुफा म सो जाता है।

११—दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च
ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम्।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून्॥
आदिप र्व-अध्याय ८१, श्लोक ७

तीनो आश्रमो मे कर्तव्यानुकूल कुछ चिह्न होते है, जिनमे शिखा और सूत्र मुख्य हैं। धार्मिक कृत्यो मे इनका उपयोग होता है। संन्यासी का कोई कर्तव्य नही होता इसलिए वह इन सभी चिह्नो को त्याग देता है। संन्यासी मुंडित रहता है और यज्ञोपवीत भी त्याग देता है। यज्ञोपवीत तीन ऋणो का सूचक होता है, जिनसे मुक्त होने पर ही सन्यास सम्भव होता है। वे तीन ऋण देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण होते है। यज्ञोपवीत जब तक मनुष्य धारण किये रहता है तब तक ही उसे इन ऋणो को चुकाना पडता है। यज्ञोपवीत के त्याग के बाद संन्यासी इन सभी ऋणो से मुक्त हो जाता है। संन्यासी के पास केवल एक दण्ड और एक कमण्डल रहता है। कमण्डल केवल जल का पात्र है, जो उष्ण देश मे जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है। दण्ड को प्राय संन्यासी का चिह्न माना जाता है इसीलिए कुछ संन्यासी दण्डी संन्यासी कहलाते है।

सन्यासी का जीवन पूर्ण स्वच्छन्द होता है। उसे जगल मे ही अधिक रहना चाहिए, गाँव मे केवल भिक्षा के लिए एक बार जाना चाहिए। स्वच्छन्द होते हुए भी संन्यासी के लिए कुछ नियम हैं, जिनका पालन करना उसके लिए आवश्यक है। संन्यासी के लिए नियम बताते हुए ययाति ने अष्टक से कहा कि 'संन्यासी शिल्पकला से जीवन निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणो से सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियो को वश मे रखे। गृहस्थ के घर न सोये। परिग्रह का भार न ले स्वतन्त्र रहे।[12] संन्यासी किसी से द्वेष न करे उस स्थान से यन मधुहर-न्नि रहे। कुएं से तुरन्त निकाला हुआ जल ही संन्यासी के लिए श्रेष्ठ है। किसी बीती हुई घटना का स्मरण न करे और न भविष्य की चिन्ता करे। केवल काल की प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियो का समाधान करता रहे। तन से वाणी से और मन से कहीं भी दोषदृष्टि न करे। किसी की बुराई न करे। संन्यासी सदा त्याग वृत्ति से तथा सन्तोष से रहे। सन्तोष

१२– अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं
जितेन्द्रिय सर्वतो विप्रमुक्त ।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार–
श्चरन् देशानेकचर स भिक्षु ॥
आदिपर्व–अध्याय ९१, श्लोक ५

हो सन्यासी के सुख का मूल है। सन्यासी के आठ व्रत बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियो से कहा कि "अहिंसा, ब्रह्मचय सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव दोष दृष्टि का त्याग, इन्द्रिय सयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतो का सदा सावधानी स पालन करे।"[13] ब्राह्मणो के सम्मान का सदा ध्यान रखे। निन्दात्मक शब्द सुनकर भी उत्तर न दे, सदा मौन रहे। मौन रहना सन्यासी के लिए ससार से पार होने का माग है। पापो से मुक्त होकर सवदा शत्रुहीन हो जाय। किसी स भय न रहे। सन्यासी न जीवन का अभिनन्दन करे और न मृत्यु का भय करे।

सन्यासी को भोजन की ओर से भी त्यागमयी भावना रखनी चाहिए। दोपहर के समय गाव या नगर म जाकर भिक्षा ग्रहण करे। जो कुछ मिल जाय उसी से जीवन निर्वाह करे। स्वाद की वस्तुओ की इच्छा न करे। कोई सम्मानपूवक भोजन कराये तो वहा भोजन न करे। मान प्रतिष्ठा से उसे घृणा करनी चाहिए। भोजन मिलने पर हष न होना चाहिए और न मिलने पर दुख न होना चाहिए। मनमाना भोजन कभी न करना चाहिए। किसी से परिचय न बढाना चाहिए। किसी पर दया करके उसे दान न देना चाहिए। सब बधनो से मुक्त रहना चाहिए। ग्रीष्मकाल म गाव म एक रात से अधिक न ठहरना चाहिए। वर्षाकाल म किसी एक स्थान पर ही चार मास तक ठहरना चाहिए। उसे अपने धम का प्रदशन न करना चाहिए। चार प्रकार के सन्यासियो मे परमहस सबसे श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए अपने त्याग स परम हस सन्यासी की भाति धम अधम पवित्र-अपवित्र से परे आत्मनिष्ठ रहना चाहिए। आत्मस्वरूप स सबको समान मानने वाला होना चाहिए। चारो वर्णों से भिक्षा लेनी चाहिए। आत्म विभूति और ब्रह्मसाधना म सन्यासी का स्वतन्त्र और गतिशील जीवन व्यतीत होता है। परिव्रजन सन्यासी का बाह्य

१३—अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ॥
अक्रोधश्चानसूयाच दमो नित्यमपैशुनम् ।
अष्टस्वेतेषु युक्त स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रिय ॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक २९ ३०

लक्षण है। कृतकृत्य और मुक्त होकर सन्यासी अभय और अमृत हो जाता है। कृतकृत्यता और स्वतन्त्रता के द्वारा मृत्युजय अवस्था को प्राप्त होकर सन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है। जो सन्यासी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा समय व्यतीत करता है। और आहार की भी चिन्ता छोड़ देता है। केवल वायु भक्षण से या जल से जीवन यापन करता है वह ब्रह्म की साधना म लीन हो जाता है। वही सन्यासी देह के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म म विलीन हो जाता है और सवदा के लिए अजर-अमर हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मचय के अनुशासन से आरम्भ होकर मुक्ति और आनन्द म जीवन का पयवसान होता है। गृहस्थ के कतव्य और वानप्रस्थ के धम इस विकास क्रम की आवश्यक कड़ियाँ हैं। निर्माण और सचय उपभोग और उपयोग त्याग और सेवा तथा मुक्ति और आनन्द से युक्त यह चतुर्विध जीवन व्यवस्था एक अत्यन्त सन्तुलित और सस्कृत दृष्टिकोण का प्रमाण है। जीवन की यह भारतीय व्यवस्था ही समाज के कल्याण का उत्तम माग है।

अध्याय—१४

महाभारत में ब्रह्मचर्य-आश्रम

१—ब्रह्मचारी की परिभाषा—

ब्रह्मचर्य आश्रम चारों आश्रमों में प्रथम आश्रम है। जीवन की नींव ब्रह्मचर्य से ही मजबूत बनती है। इसी नींव पर जीवन का भवन आधारित है। उपनयन से लेकर समावर्तन तक इसकी अवधि है। सामान्यत ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने का समय १० वर्ष से लेकर २५ वर्ष तक का माना जाता था। यह जीवन का निर्माण काल है। स्वास्थ्य और चरित्र का गठन तथा विद्या का उपार्जन इसके मुख्य धर्म हैं। इन्हीं पर जीवन की सफलता और उसका आनन्द निर्भर है। प्राचीन परम्परा में ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहकर गुरुसेवा पूर्वक विद्याध्ययन और सदाचार का पालन करते थे। ब्रह्मचर्य की यह प्राचीन विधि युग की परिस्थिति के अनुरूप थी। उस प्राचीन विधि में ब्रह्मचर्य के अभीष्ट धर्मों का पालन सुविधा से हो सकता था। आज युग के अनुरूप दूसरी विधि बनाई जा सकती है। किन्तु ब्रह्मचर्य के मूलतत्त्व जीवन के सनातन सत्य हैं और सर्वकाल में अनुशीलन के योग्य हैं।

स्वास्थ्य, सुख और जीवन की सफलता की दृष्टि से संयम और ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध शरीर के उन रसों से है, जो देह के विकास और उसके गठन में काम आते हैं। वे रस जीवन के तेज, कान्ति और बल हैं। उन्हीं से संयमी पुरुष का मुख कान्ति से दीप्त होता है। कैशोर काल में जब शरीर का विकास और गठन होता है, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकारी है और स्वास्थ्य के द्वारा सभी क्षेत्रों में सहायक है। चरित्र का लक्षण भी संयम है। चरित्र मनुष्य का नैतिक बल है जो जीवन की सफलता में योग देता है। ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्ति भी बढ़ती है उसी से विद्या सफल और उत्तरोत्तर बढ़ती है। वर्तमान सभ्यता

विलासपूर्ण होने के कारण समाज में भ्रष्टाचार का कारण बन रहा है। उसका बाहरी आडम्बर तथा शान शौकत में किसी को भ्रम हो, किन्तु उसका आंतरिक रूप स्वस्थ और आनन्दपूर्ण नहीं है।

जो मनुष्य व्रत नियम आदि में बंधकर रहता है वही ब्रह्मचारी माना जाता है। ब्रह्मचारी की परिभाषा बताते हुए एक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा कि इन्द्रिय संयम में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है। जो व्रत और कर्मों का त्याग करके केवल ब्रह्म में स्थित है वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसार में विचरता रहता है वही मुख्य ब्रह्मचारी है।[1] जो मनुष्य बचपन से ही ब्रह्मचर्य पालन करता रहता है और विद्याध्ययन द्वारा उसे अधिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तो फिर उस ज्ञान में इतना आनन्द आने लगता है कि वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना आजन्म ब्रह्मचर्य का संकल्प कर लेता है और इन पथों पर ब्रह्मस्वरूप होकर विचरता रहता है। उसे किसी से राग द्वेष, मोह आदि नहीं होता यहाँ तक कि उसे अपने शरीर से भी मोह नहीं रहता। ब्रह्म में लीन ब्रह्मचारी के विषय में बताते हुए ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा कि ब्रह्म ही उसकी समिधा है ब्रह्म ही अग्नि है ब्रह्म से ही वह उत्पन्न हुआ है ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है। उसकी चित्तवृत्तियाँ सदा ब्रह्म में ही लीन रहती हैं। विद्वानों ने इसी को सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है।[2] जिस ब्रह्मचारी की चित्तवृत्तियाँ

१—ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रत ।
अपेतव्रतकर्मा तु केवल ब्रह्मणि स्थित ।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय २६, श्लोक १५ १६

२—ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भव ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहित ॥
एतदेवेदृश सूक्ष्म ब्रह्मचर्य विदुर्बुधा ।
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय २६, श्लोक १७ १८

पूर्णरूप से ब्रह्म म लीन हो जाती हैं वह सब कर्मों को त्याग देता है। इस लिए समिधा लाना यन करना जल लाना गुरु की सेवा करना आदि कार्यों को न करके केवल ब्रह्म को ही जानता है। उसके सम्पूर्ण काय ब्रह्ममय ही हो जाते हैं। विद्वान् लोग इसी को सच्चा ब्रह्मचारी तथा सूक्ष्म ब्रह्मचारी मानते है। एस ब्रह्म म लीन ब्रह्मचारी ससार मे विरल ही हाने ह। ब्रह्म का नान बडा मूश्म है। ससार म जम लेकर मनुष्य ससार के भोगा और सुखा म फस जाता है। यह भी सासारिक प्राणी के लिए उचित है। अध्ययन काल म ही ब्रह्मचय का पालन उचित है, जिससे मानसिक और शारीरिक शक्ति का विकास स्वस्थ हो सके और मनुष्य जीवन सुखी बन सके।

२—ब्रह्मचारी के लक्षण—

प्राचीनकाल म ब्रह्मचारी की वपभूपा साधारण जनो से भिन्न होती थी। उस वपभूपा स व सबको ब्रह्मचारी प्रतीत होते थे और सब गृहस्थ उनका आदर करत थे तथा भिक्षा देते थे। ब्रह्मचारी के लक्षण बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षिगण से इस प्रकार कहा कि "ब्रह्मचारी मूँज की मेखला पहन जटाधारण करे, प्रति दिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेद के स्वाध्याय म लगा रहे तथा लाभहीन होकर नियमपूर्वक व्रत का पालन करे।"[3] प्राचीन काल मे ब्रह्मचारी जटा रखते थे यज्ञोपवीत पहनते थे प्रतिदिन स्नान करते थ स्नान स चित्त प्रसन्न एव स्वस्थ हो जाता है। स्नान भी प्रात काल ही कर लत थ। आजकल के विद्यार्थिया की भाति दस बजे नही नहाते थे और न सर्दी के कारण गम पानी से स्नान करत थे। पूरे वर्ष सदव शीतल जल से स्नान करते थे। नित्य नियम से स्नान करने के कारण उनका स्वास्थ्य ठीक रहता था और जुकाम आदि बीमारिया उन्हे नही सताती थी। उनकी स्मरण शक्ति बडी तीव्र होती थी, जिसस वे अनेक शास्त्रा को सहज ही स्मरण कर लिया करते थे। ब्रह्मचारी क लक्षण बताते हुए ब्रह्माजी न महर्षियो स इस

३—मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रत ॥
आश्वमेधिकपर्व-अध्याय ४६ श्लोक ६

प्रकार कहा कि 'पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनो समय अग्नि म हवन कर। सदा बेल या पलास का दण्ड हाथ मे रहे।[४] रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचम धारण करे अथवा ब्राह्मण के लिए सारा वस्त्र गेरुए रग का होना चाहिए।[५] जो ब्रह्मचारी सदा नियम परायण होकर श्रद्धा के साथ शुद्ध जल से नित्य देवताओ का तपण करता है, उसकी सवत्र प्रशसा होती है।[६] ब्रह्मचारी के लिए बल का दण्ड इसलिए आवश्यक है कि वह प्राचीन काल मे जगलो म रहता था। रास्ते म नदी काँटे तथा कीडे आदि मिलने पर उसकी सहायता लाठी ही करती थी। लाठी से फूल फल भी डाली झुकाकर आसानी से तोडे जाते थे। इसलिए ब्रह्मचारी के लिए लाठी रखना बडा आवश्यक था। वन म लाठी अस्त्र का काम करती है। रेशमी वस्त्र या गेरुए रग के वस्त्र ब्रह्मचारी की पहचान के लिए होत थे। शास्त्रो म तीनो द्विजो के लिए अलग अलग वष का विधान है जिमस सब अलग पहचाने जा सकें। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए गरुए वस्त्रो का ही वणन है। गरुए रग के वस्त्रो से मनुष्य म त्याग और सरलता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस त्याग और सरलता स ही ब्राह्मणो का जीवन पवित्र और ऊचा बनता था। इसी के द्वारा व अपन जीवन म नय नय शास्त्रो की रचना करत थ और देश की उन्नति म सहायता पहुचात थ। आज भी हमारा दश अय दशो क समक्ष ज्ञान म इसीलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ का प्राचीन साहित्य इतना विशाल और ज्ञानवद्धक है कि

४—द्विकालमग्नि जुह्वान शुचिभूत्वा समाहित ।
धारयीत सदा दण्ड बल्म पालाशमेव वा ॥
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६ श्लोक ४

५—क्षौम कार्पासिक चापि मृगाजिनमथापि वा ।
सव काषायरक्त वा वासो वापि द्विजस्य ॥
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६ श्लोक ५

६—कुर्वाणिश्च तपकार्ष सदा स्वजनतपणम् ।
भावेन नियत कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक ७

अय कोई भी देश इससे तुलना नही कर सकता यह सब प्राचीन ब्राह्मणो का ही प्रताप है। उन्ही के त्याग, तपस्या का फल हम लोगो को प्रसन्नता द रहा है। प्राचीन काल म सब लोग सूत की मेखला पहनते थे, किन्तु ब्रह्मचारी को मूँज की मखला पहननी पडती थी। क्योकि सूत की मखला कोमल और सुखदायी होती है, इसलिए कठोर व्रत के पालन करने वाले ब्रह्मचारी की मखला भी कठोर मूँज की होती थी, जो हर समय ब्रह्मचारियो के काँटे के समान चुभती होगी। विद्या का उपाजन एव कठिन तपस्या म होता था। इसलिए विद्या की उत्पत्ति के लिए मूँज की मेखला उस प्राचीन काल म आवश्यक थी। जटा धारण करन का प्रयोजन भी यही था कि ब्रह्मचारी अपने सौन्दर्य से दूर रहे। प्राय युवको को अपने रूप का अहकार हो जाता है। जटा के धारण करन का केवल यही रहस्य था कि ब्रह्मचारी सब प्रकार के अहकार से दूर रह कर केवल विद्या-अध्ययन म ही अपना चित्त एकाग्र करे। एकाग्र चित्त से ब्रह्मचारी को दोनो समय सुबह और शाम अग्नि म हवन करने से उसका मन पवित्र एव प्रसन्न होगा जिससे वह विद्याध्ययन म परिश्रम कर सकेगा। ब्रह्मचारी को दण्ड रखना इसलिए भी आवश्यक था कि वह सुबह चार बजे अँधेरे म उठता था। उस समय बिजली का प्रकाश नही था इसलिए साँप आदि कीडो को लाठी खटखटाकर ही रास्त म से हटाया जा सकता था। सब प्रकार के कीडे आवाज स दूर हट जाते हैं। प्राचीन काल म वैश्य तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी के वस्त्र रेशमी सूती या मृगचम के होते थे। क्योकि क्षत्रिय पुत्र तथा वश्य धनवान होते थे इसलिए उनके वस्त्र रेशमी, सूती होत थ किन्तु ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए गेरुए रग के वस्त्रो का ही वणन है। इसका कारण उनकी गरीबी तो था ही साथ ही यह भी कारण था कि उस जीवन भर विद्या स ही अपना जीवन निर्वाह करना होता था। प्राचीन काल म ब्राह्मण का जीवन विद्या पढाने मे यज्ञ कराने म तथा बड बड ग्रन्थों की रचना करने मे बीतता था। इस कारण उसके वस्त्रो का रग गेरुआ होता था जिसस उस वस्त्रो का मोह न हो और वह विद्या अध्ययन म अन्य ब्रह्मचारियो स भी अधिक एकाग्रचित्त होकर विद्या का ज्ञान प्राप्त करे। ब्रह्मचारी सदा नियमपरायण होता है। यदि अपन नियमो के पालन के साथ साथ वह देवताओ का शुद्ध जल से तपण भी करता रह तो उसकी बडी प्रशसा होती है। प्राय ब्रह्मचारी अपने नित्य के कार्यों म इतना व्यस्त रहता था कि उस अन्य काय करने के लिए अवकाश ही नही मिलता था। इसलिए

इतने व्यस्त समय में से यदि वह देवताओं का तर्पण कर लेता था, तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती थी।

३—ब्रह्मचारी के कर्तव्य—

चारों आश्रमवासियों के लिए अलग-अलग आश्रम के अनुसार पृथक पृथक कर्तव्य होते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी के कर्तव्य अन्य तीनों आश्रम वालों से बिल्कुल भिन्न हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी का मुख्य उद्देश्य गुरु की सेवा करके उनसे विद्या का ज्ञान प्राप्त करना होता है और संयम तथा नियमों का पालन करके अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति का संचय करना होता है। उमा के पूछने पर ब्रह्मचर्य के कर्तव्य बताते हुए महेश्वर ने इस प्रकार कहा कि धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रत का पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य-आश्रम का धर्म है। ब्रह्मचारी के लिए भिक्षाचर्या परम धर्म है। नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करना और ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के पालन में लगे रहना ब्रह्मचारी का प्रधान धर्म है।* ब्रह्मचारी के लिए गाँवों में से भिक्षा माँगकर लाना चाहिए और उस सारी भिक्षा को गुरु को समर्पित कर देना चाहिए। प्राचीन काल में गुरु लोगों की आजकल की भाँति मासिक आमदनी नहीं होती थी। गुरु ब्राह्मण दूसरों के बच्चों को योग्य बनाने में बड़ा परिश्रम करते थे। उसके बदले में उन्हें भिक्षा का अन्न ही प्राप्त होता था या अमावस्या पूर्णिमा को सीधा प्राप्त होता था। इसी में सन्तोष करके गुरु उन ब्रह्मचारियों को अपने पुत्रों से भी अधिक प्रेम करके उन्हें योग्य बनाते थे। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अकेला ही कर्मकाण्डों का चिंतन

७—रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम्॥
भैक्षचर्या परो धर्मो नित्ययज्ञोपवीतिता।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ३५-३६

और अभीष्ट मन्त्रा का जप करत हुए सारे काम सम्पन्न करे। शरीर म मल या कीचड लगे रहने पर भी ब्रह्मचारी को आचाय की परिचर्या म उद्यत रहना चाहिए। ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रिया को वश म रखत हुए व्रत एव दीक्षा के पालन म तत्पर रहे। वदा का स्वाध्याय करते हुए सदव कतव्य कर्मों के पालन म गुरुगह म निवास करे। ८ ब्रह्मचारी का सब कार्यों से बढकर गुरु सेवा ही प्रधान काय होना था। अपने माता पिता का छोडकर आय हुए ब्रह्मचारी गुरु को ही अपना माता पिता समझत थे और उनकी सेवा म हर समय लगे रहते थे। व सारे काय गुरु को प्रसन्न रखन के करत थ और प्रात काल से उठकर रात्रि तक लगातार अपन नियमो के पालन म ही व्यतीत करते थ। उनका मन बडा प्रसन्न एव उदार होता था। वे गुरु को भगवान के समान ऊँचा और बडा समझते थे। तभी तो गुरु की इतनी भक्ति और पूजा करते थे। उसी भक्ति का प्रसाद भी उन्ह गुरु देते थे कि अपन पुत्रा स भी अधिक प्रेम करत थ और जितना ज्ञान उन्ह स्वय होता था वह सब अपने विद्यार्थियो को सिखा देत थ। व अपने शिष्यो से कुछ भी छिपाकर नही रखत थे। उसी प्रेम से ब्रह्मचारी इतन वर्षों तक कठोर परिश्रम करके अपना जीवन सफल बनात थे। आश्रम धम के विषय म जब अष्टक न ययाति से ब्रह्मचय आश्रम के विषय म ब्रह्मचारी के कत्त व्य पूछे तब ययाति ने इस प्रकार कहा कि शिष्य को उचित है कि गुरु के बुलाने पर उसके समीप जाकर पढे। गुरु का सेवा म बिना कहे लगा रहे, रात म गुरुजी के सो जाने के बाद सोवे और सवेरे उनसे पहल ही उठ जाय। वह मृदुल (विनम्र) जितेन्द्रिय धयवान सावधान और स्वाध्यायशील हो। इस नियम

८—स्मरन्ने को जपन्नेव सर्वा नेको युधिष्ठिर ।
एकस्मि नेव चाचार्ये शुश्रूषुमलपङ्कवान् ॥
ब्रह्मचारी व्रती नित्य नित्य दीक्षापरो वशी ।
परिचर्या तथा वेद कृत्य कुर्वन् वसेत् सदा ॥

शान्तिपर्व—अध्याय ६१ श्लोक १८ १९

से रहने वाला ब्रह्मचारी सिद्धि को पाता है।"[९] ब्रह्मचारी को विनम्र होना चाहिए क्योंकि विद्या का ज्ञान नम्रता से ही प्राप्त हो सकता है। जब तक हम दूसरों के प्रति विनम्र नहीं बनेंगे, तब तक हम विद्या का सार भी नहीं समझ सकेंगे। विद्या भी तो दूसरों के द्वारा लिखे हुए सिद्धांत हैं। जब तक हम अपने अहंकार में डूबे रहेंगे तब तक हमारी बुद्धि भी निर्मल नहीं होगी और हम विद्या के सिद्धांतों को समझने में अपने को असमर्थ पायेंगे। इसलिए विद्यार्थियों का सबसे पहला धर्म विनम्र बनना है। अहंकार से पीड़ित आज का विद्यार्थी इसीलिए ज्ञान को समझने में असमर्थ है और नित्य फेल होता है। प्राचीन काल में विद्यार्थी की विनम्रता ही उसके शास्त्र ज्ञान में सहायक होती थी। विनम्रता से उसकी बुद्धि स्वच्छ रहती थी और गुरु जो कुछ भी ज्ञान पढ़ाते थे वह सब सहज ही याद हो जाता था। ब्रह्मचर्य के पालन से उनकी मानसिक शक्ति भी बड़ी शक्तिवान थी इसलिए उनकी स्मरण शक्ति भी बड़ी तीव्र थी। बड़े बड़े ग्रन्थ उन्हें स्मरण से ही याद रहते थे। उस समय कापी कागज, पुस्तकें नहीं था। सम्पूर्ण पढ़ाई स्मरण से ही होती थी। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए व्यासजी ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा कि "गुरु के घर में एक शिष्य या दास के करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो उसे वह स्वयं पूरा करे। गुरुजी जो भी आज्ञा दें उसके लिए सदैव उद्यत रहे। एक आज्ञाकारी सेवक की भांति गुरु का सारा कार्य करने के लिए तैयार रहे और सभी कर्मों के सम्पादन में कुशल हो।"[१०] गुरु के रहने

९—आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः
पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः
स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी॥
आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लोक २

१०—यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः॥
कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः।
किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४२ श्लोक १७ १८

वाला ब्रह्मचारी अपने को कुछ न माने तभी उसका कल्याण हो सकता था। गुरु को अपना स्वामी समझ कर उसके यहाँ एक सेवक की भांति रहे तथा गुरु के घर में जो कुछ भी काय हो उसे शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक करे। आज्ञाकारी सेवक की भाँति सदा गुरु से कार्य करने की आज्ञा प्राप्त करता रहे। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि 'अपनी उन्नति चाहने वाले शिष्य को गुरु की सेवा टहल का सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन करना चाहिए। सबके प्रति उदार रहे, किसी पर कलंक न लगावे। गुरु के बुलाने पर झट उनकी सेवा में उपस्थित हो जाय। कार्य में कुशल हो, गुणवान् बने, बाहर भीतर से पवित्र रहे। गुरु को प्रिय लगने वाली बात बोले, इन्द्रियों को वश में रखे, शान्त भाव से भक्ति भरी दृष्टि से गुरु की ओर देखे।[११] गुरु के यहाँ रहते समय विद्यार्थी को किसी के दोषों का न देखना चाहिए यदि किसी का दोष दिखाई भी दे जाय, तब भी उसके विषय में किसी से भी कुछ न कहना चाहिए सदैव उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। सब कार्यों में कुशलता प्राप्त करनी चाहिए और गुणों को सीखने में रुचि रखनी चाहिए तथा दोषों को कभी भी ग्रहण न करना चाहिए वरन् अपने में भी कोई दोष हो तो उन्हें भी धीरे धीरे छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। गुणों को सीखने से और दोषों को छोड़ने से ब्रह्मचारी गुणवान् बनता है। गुरु की ओर विद्यार्थी को सदा शान्त भाव से तथा भक्ति और श्रद्धा भरी दृष्टि से देखना चाहिए इस दृष्टि से गुरु को भी विद्यार्थी के प्रति प्रेम बढ़ता है, और वह विद्यार्थी को अधिक से अधिक ज्ञान सिखाने का प्रयत्न करता है। प्रेम से बढ़ कर उन्नति करने वाली संसार में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। सर्वत्र सब काम प्रेम से अच्छे और दृढ़ होते हैं। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए व्यास जी ने फिर इस प्रकार कहा कि 'आचार्य जब तक भोजन न कर लें तब तक स्वयं भी न करे। वे जलपान न करें तो स्वयं भी न करे। उनके बैठने से पहले स्वयं भी न बैठे तथा उनके

११—कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत् ॥
शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक १९-२०

सोने से पहले स्वयं भी न सोये। दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बायें हाथ से उनका बायाँ चरण धीरे धीरे छूकर प्रणाम करे।"[१२] ब्रह्मचारी अपने को सेवक मानकर गुरु के घर में रहता था, तभी उसकी भावना ऐसी रहती थी कि वह गुरु से पहले न खाता था न पीता था, न सोता था और न उनकी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन करता था। अभिवादन तथा चरण छूने का भी एक दूसरा ही नियम था जिससे प्रतीत होता है कि विद्यार्थी को नियमों का कितना ध्यान रखना पड़ता था। चरण छूने के लिए दाहिने हाथ से दायाँ पैर तथा बायें हाथ से बायाँ पैर छूना चाहिए। इस नियम के पालन करने वाला ब्रह्मचारी बड़ा नियमों का पालक बन जाता था और फिर उसे पुस्तकों तथा शास्त्रों का ज्ञान भी नियमानुसार सहज ही प्राप्त हो जाता था। ब्रह्मचारी के ये जो बाहरी नियम आज सबको व्यर्थ प्रतीत होते हैं उनमें बड़ा गूढ़ रहस्य छिपा था। जब तक ब्रह्मचारी इन बाहरी नियमों को समझने में अपनी बुद्धि नहीं लगा सकता था तब तक उसे शास्त्र ज्ञान भी नहीं हो सकता था। ये बाहरी नियम तो शास्त्र ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आरम्भ की कक्षा के ज्ञान के समान बारह खड़ी थे। जिस ब्रह्मचारी की बुद्धि तीव्र और प्रखर होती थी वह उतनी ही शीघ्र गति से इन बाहरी नियमों को ग्रहण कर लेता होगा और फिर उसको शास्त्रीय ज्ञान सीखने में विलम्ब न लगता होगा। ब्रह्मचर्य आश्रम के विषय में जब भरद्वाज ऋषि ने भृगुजी से पूछा तो उन्होंने इस प्रकार कहा कि "ब्रह्मचारी को बाहर भीतर की शुद्धि वैदिक संस्कार तथा व्रतनियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना चाहिए। दोनों समय सन्ध्योपासन सूर्योपस्थान और अग्निहोत्र के द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिए।

१२—नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत्।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च॥
उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत्।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत्॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक २१ २२

प्रकार कहा कि 'ब्रह्मन्! इसके अतिरिक्त और भी जिन कार्यों के लिए आप आज्ञा देंगे, उन्हें मैं शीघ्र ही पूर्ण करूँगा।' इस प्रकार निवेदन करके गुरु की आज्ञा लेकर फिर दूसरा कार्य करे और उसे पूरा करके सारा समाचार गुरुजी को बताये। शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए जो कोई भी नियम बताये हैं उन सबका पालन करके सदा गुरु के समीप रहे।[15] ब्रह्मचारी के लिए गुरु की आज्ञा मानना सबसे बड़ा धर्म एवं कर्तव्य है। प्रत्येक कार्य करने में पहले गुरु की आज्ञा ले लेनी चाहिए और एक कार्य पूर्ण होने पर उसकी सूचना गुरु को देनी चाहिए और तब दूसरा कार्य करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचारी का सम्पूर्ण समय गुरु की सेवा तथा आज्ञा में पूर्ण हो जायगा और वह गुणवान् विद्यावान् तथा चरित्रवान् बनकर आगे अपने जीवन में यश और सफलता प्राप्त करेगा।

४–ब्रह्मचर्य के चार चरण–

वैसे तो ब्रह्मचारी के लिए पालन करने योग्य अनेक नियम शास्त्रों में बताये हैं। किन्तु धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात ने ब्रह्मचारी के लिए चार चरण ही मुख्य रूप से बताये हैं। उनमें से पहला चरण यह है कि 'ब्रह्मचारी शिष्य को चाहिए कि वह नित्य गुरु को प्रणाम करे, बाहर भीतर से पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगाये, अभिमान न करे, मन में क्रोध को स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्य का पहला चरण है। जो शिष्य की वृत्ति के क्रम से ही जीवन निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका

१५—ब्रह्मन् एतदपि कर्तास्मि यद् भवान् वक्ष्यते पुनः ।
इति सर्वमनुज्ञाप्य निवेद्य च यथाविधि ॥
कुर्यात् कृत्वा च तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः ।
ये केचिद् विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ॥
तान् सर्वानाचरेन्नित्यमभवेच्चानपगो गुरोः ।
शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक २४-२६

यह नियम भी ब्रह्मचर्य व्रत का पहला ही पाद कहलाता है।'[१६] गुरु के घर में रह कर जो ब्रह्मचारी गुरु के वचनों से सदैव प्रेम करता है उनमें क्रोध या अभिमान नहीं करता है, वही कुछ उन्नति कर पाता है। जो ब्रह्मचारी गुरु के घर में रह कर किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता तथा शिष्य के अनुरूप हो जो जीवन व्यतीत करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। जो ब्रह्मचारी स्वाध्याय में मन लगाता है पवित्र होकर विद्या अध्ययन करता है, नित्य गुरु की सेवा करता है वही ब्रह्मचारी श्रेष्ठ और महान होता है। ब्रह्मचारी का दूसरा चरण बताते हुए सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र से इस प्रकार कहा कि 'अपने प्राण और धन लगा कर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का प्रिय करे। गुरु के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण व्यवहार करे वैसा ही गुरु की पत्नी और गुरु के पुत्र के साथ भी व्यवहार करे। यह ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद कहलाता है।'[१७] यदि कभी आचार्य के साथ कोई कठिन समस्या आ जाय और आचार्य उससे दुःखी हों तो अपने तन, मन धन सर्वस्व जिस प्रकार भी उनका

१६—गुरोः शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीतरोषमेष
प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥
शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते॥
उद्योगपर्व अध्याय ४४, श्लोक १० ११

१७—आचार्यस्यप्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते॥
समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते॥
उद्योगपर्व—अध्याय ४४, श्लोक १२ १३

दुःख दूर हो सके करे। सबका आचार्य का प्रिय कार्य करता रहे अपनी वाणी से, मन से तथा कर्म से जैसे भी हो सके। ब्रह्मचारी जैसा सम्मानपूर्ण व्यवहार अपने गुरु के साथ करे, वैसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार गुरु की पत्नी तथा पुत्र के साथ करे। गुरु की पत्नी को सगी माता के समान समझे तथा गुरु पुत्र को भाई के समान प्रेम करे। आचार्य के उपकार का सदैव स्मरण करता रहे, उपकार को भूलकर आचार्य से कभी द्रोह नहीं करना चाहिए। आचार्य के उपदेश से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह परम पवित्र और अजर अमर होता है। ज्ञान का उपदेश आत्मा में हमेशा के लिए बना रहता है, चाहे वह नश्वर शरीर साथ छोड़ देता है किन्तु आत्मा का ज्ञान प्रत्येक जन्म में बढ़ता ही जाता है। आत्मा अमर होने के कारण गुरु के द्वारा सिखाया हुआ ज्ञान भी अमर ही रहता है। क्योंकि ज्ञान का ग्रहण आत्मा ही करती है और आत्मा सदैव अमर होती है। तृतीय चरण का वर्णन करते हुए सनत्सुजात जी ने इस प्रकार कहा कि 'आचार्य ने जो अपना उपकार किया उसका ध्यान में रख कर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ उसका भी विचार करके मन ही मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्था में पहुंचा दिया है—यह ब्रह्मचर्य का तीसरा पाद है।[१८] ब्रह्मचारी को सदा अपने मन में गुरु के प्रति उदार और श्रद्धा भाव रखने चाहिए क्योंकि पढ़ लिख कर जो ज्ञान आज उसे प्राप्त है और जिस ज्ञान को प्राप्त कर वह अब एक उच्चश्रेणी का मनुष्य बन गया है यह सब गुरु की कृपा का ही फल है। गुरु के इस उपकार को किसी भी धन या वस्तु से नहीं चुकाया जा सकता है। इसके बदले में तो गुरु को सदैव आदर सम्मान श्रद्धा भक्ति तथा प्रेम ही दिया जा सकता है। गुरु शिष्य से कुछ

१८—आचार्येणात्मकृतं विजानन्
	ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
	स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥
		उद्योगपर्व—अध्याय ४४, श्लोक १४

बदला नहीं चाहता, वरन् वह तो केवल यही चाहता है कि शिष्य बडा आदमी बनकर धन के अहकार से अपने जीवन म ही गुरु को न भूल जाये। गुरु जिस परिश्रम से एक अबोध बालक को पढाता है वह ऋण कभी न तो चुकाया जा सकता है और न भूला जा सकता है। अबोध बालक को उँगली पकड कर लिखना सिखाना तथा पढना सिखाना कितना कठिन काम है इसको आजकल के पढ़े लिखे माता पिता स्वय करके देख रहे हैं। उन गुरुओ मे कितना प्रेम और उदारता थी कि दूसरो के बच्चों को पढाने म अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देते थे और स्वय एक साधारण जीवन व्यतीत करते थे। पढाने के बदले में उन्हे मिलता क्या था, केवल भिक्षा का अन्न जिससे वे अपना और अपने परिवार का पालन करते थे। धन्य थे वे ब्राह्मण गुरु जिनकी कठिन तपस्या का फल देश ने आज तक प्राप्त किया है। ब्रह्मचर्य का चौथा चरण बताते हुए सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "आचार्य के उपकार का बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरु दक्षिणा आदि के द्वारा उन्हे सन्तुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहा से अन्यत्र न जाय। दक्षिणा देते समय कभी मन म ऐसा विचार न लाये कि मैं गुरु का उपकार कर रहा हू तथा मुँह से भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्य का चौथा चरण है।[१६] ब्रह्मचारी जब अपनी वह समस्त विद्या समाप्त कर लेता था, तब उसके घर वाले आकर गुरु को कुछ दक्षिणा देकर अपने पुत्र को ले जाते थे। शास्त्रो मे ऐसा लिखा है कि गुरु-दक्षिणा देते समय विद्यार्थी को अपने मन मे यह विचार कभी न लाना चाहिए कि हमने दक्षिणा देकर गुरु का उपकार चुका दिया, गुरु का उपकार तो किसी भी वस्तु से नही चुकाया जा सकता। इसलिए ब्रह्मचारी को गुरु का उपकार कभी नही भूलना चाहिए।

५—जीवन निर्वाह के छ कर्मों से दूर रहे—

ब्रह्मचारी को गुरु के घर रह कर सदा गुरु की सेवा करनी चाहिए

१६—नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवास
प्राज्ञ कुर्वीत नतदह करोमि।
इतीवमन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्यपाद ॥
उद्योगपर्व-अध्याय ४४, श्लोक १५

और ब्रह्मचारी के लिए जो धम तथा कर्त्तव्य उचित हो, उन्ही म अपना मन लगाये। ब्रह्मचय के विपरीत जो जीवन निर्वाह के छ कम हैं, उन्हें कभी न करे। इन छ कर्मों के विषय म बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "निरतर गुरु की सेवा म सलग्न रहकर उन्हें प्रणाम करे। जीवन निर्वाह के उद्देश्य स किय जाने वाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह इन छ कर्मों स अलग रहे और किसी भी असत् कम म वह कभी प्रवृत्त न हो।[20] शास्त्रों म इन छ कर्मों का करना का कर्तव्य गृहस्थ के लिए बताया है, ब्रह्मचारी के लिए इन कर्मों का करना वर्जित है। ये छ कम तो गृहस्थी के पालन के लिए आवश्यक हैं ब्रह्मचारी को इन कर्मों से क्या प्रयोजन है। ब्रह्मचारी को तो जब तक गुरु के घर रहे सदा गुरु की आज्ञा माननी चाहिए तन, मन से उनकी सेवा करनी चाहिए तथा भिक्षावृत्ति को ही अपना जीवन निर्वाह का साधन समझना चाहिए। नित्य गाँवों म जाकर गुरु के लिए भिक्षा लानी चाहिए और ब्रह्मचारी के लिए जो काम उचित हो उन्ही म सदा लगा रहना चाहिए।

६—ब्रह्मचर्य से ईश्वर प्राप्ति तथा सद्गति—

ब्रह्मचय के पालन से ईश्वर प्राप्ति भी सहज ही हो जाती है, ऐसा प्राचीन शास्त्रों म वर्णन है। धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी ने बताया कि 'जो लोग आचार्य के आश्रम म प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अतरग भक्त हो ब्रह्मचय का पालन करते हैं वे यही शास्त्रकार हो जाते हैं और देह त्याग के पश्चात् परम योग रूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।'[21] जो ब्रह्मचारी

२०—शुश्रूषा सतत कुवन् गुरो सम्प्रणमेत च।
पटकर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सवश ॥
शान्ति पर्व—अध्या० ६१, श्लो० २०

२१—आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचय चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देह परम यान्ति योगम् ॥
उद्योगपर्व—अध्या० ४४, श्लो० ६

अपने गुरु को अपनी सेवा और भक्ति से बहुत प्रसन्न कर लेते थे, उन शिष्यों को गुरु भी अपना सम्पूर्ण ज्ञान सिखा देते थे और वे शिष्य शिक्षा ग्रहण के बाद बड़े-बड़े शास्त्रकार बन जाते थे। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मविद्या सुगमता से सीखी जा सकती है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व पूछने पर भृगु जी ने भरद्वाज से इस प्रकार कहा कि "जो द्विज गुरु की आराधना करके वेदाध्ययन करता है उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और उसका मानसिक संकल्प सिद्ध होता है।"[२२] गुरु की भक्ति का बड़ा महत्त्व है। गुरु की भक्ति से ब्रह्मचारी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उसकी सब कामनायें भी पूर्ण हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य से स्वर्ग प्राप्ति की प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा से अभिमन्यु की स्वर्ग प्राप्ति के विषय में इस प्रकार कहा कि "तपस्या ब्रह्मचर्य शास्त्रज्ञान और सद्‌बुद्धि के द्वारा साधु पुरुष जिस गति को पाना चाहते हैं वही गति तुम्हारे पुत्र को प्राप्त हुई है।"[२३] जिस सद्‌गति को साधु पुरुष या तो तपस्या से प्राप्त करते हैं, या ब्रह्मचर्य के पालन से या शास्त्रों के ज्ञान से प्राप्त करते हैं उस सद्‌गति को अभिमन्यु ने अपनी वीरता से प्राप्त किया है। युधिष्ठिर के द्वारा पूछने पर श्रीकृष्ण ने ब्रह्मचर्य के पालन के गुण इस प्रकार बताये कि "ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और मेरे प्रेम को प्राप्त करता है।"[२४] ब्रह्मचर्य

२२—गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात्।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति॥

शान्तिपर्व—अध्या० १९१, श्लो० ६

२३—तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रक॥

द्रोणपर्व—अध्या० ७० श्लो० १६

२४—आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्या० ९२, वर्णधर्म

के पालन से मनुष्य की आयु बढती है, मुख का तेज बढता है, शरीर म शारीरिक शक्ति बढती है। ब्रह्मचारी मनुष्य के शरीर म इतनी ताक्त होती है कि वह किसी से हार नही सकता। साधारण मनुष्या को तो उसस हार माननी पडती है, अधिक ज्ञान के कारण उसक पास धन की भी कमी नही रहती, शास्त्रो के रचयिता होने के कारण चारो ओर उनका यश फलता है अनेक पुण्यो का फल प्राप्त होता है तथा अ त मे भगवान के प्रेम को प्राप्त हो कर स्वग का प्राप्ति करता है। ब्रह्मचय से मृत्यु को भी जीता जा सकता है इस विषय मे धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी ने इस प्रकार कहा कि "राजन्! जो इस ब्रह्मचय का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम नियमादि तप का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालक की भाँति राग द्वेष से शून्य हो जाता है और अन्त समय म वह मृत्यु को भी जीत लेता है।"[२५] यम नियमादि तप के आचरण स ब्रह्मचारी अपने शरीर को पवित्र कर लेता है और ससार के राग द्वेषा से शून्य हो जाता है और उसकी बुद्धि एक अबोध बालक की भाँति निमल हो जाती है। वह ब्रह्मचय के पालन स ही अ त समय म मृत्यु को भी जीत लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्मचारी बहुत काल तक तपस्या म लीन रहता है और उस [illegible] रीर भी अमर हो

है, उसी प्रकार उसको अपने पूज्य माता पिता तथा गुरु की आज्ञा मानना भी महान धर्म है। जो मनुष्य अपने से बड़ों का आदर करते हैं उन्हें सर्वत्र यश और मान मिलता है। बड़ों तथा पूज्यों की आज्ञा के पालन से मनुष्य के दोनों लोक, इहलोक और परलोक सुधर जाते हैं। युधिष्ठिर ने दोनों लोकों में परम धर्म प्राप्त करने के लिए पूछा तो भीष्म ने इस प्रकार कहा कि "ये माता पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं।"[२६] 'यदि तुम इन तीनों की सेवा में कोई भूल नहीं करोगे, तो तीनों लोकों को जीत लोगे। पिता की सेवा से इस लोक को, माता की सेवा से परलोक को तथा नियमपूर्वक गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक को भी लाँघ जाओगे।'[२७] इन तीनों गुरुजनों की सेवा तथा आज्ञा का पालन सब लोकों से बढ़कर है। यदि कोई मनुष्य और कोई धर्म-काम न कर सके, केवल माता पिता तथा गुरु की सेवा में ही लगा रहे तो उसके लिए सब धर्मों का पुण्य स्वयं प्राप्त हो जाएगा। यदि वह धार्मिक कार्य में लगा रहे और इन तीनों की सेवा न करे तथा न आज्ञा माने तो उसके सब धार्मिक कार्य निष्फल हो जाते हैं। इसलिए माता पिता और गुरु की आज्ञा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। माता पिता तथा गुरु की आज्ञा उल्लंघन न करना चाहिए इस विषय में भीष्मजी ने कहा कि "इन तीनों की आज्ञा का कभी उल्लंघन न

२६—एतएव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।
एतएव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १०८, श्लो० ६

२७—त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकाश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्या त्विमं लोकं मातृवृत्या तथा परम् ।।
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्या नियमेन तरिष्यसि ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १०८, श्लो० ८½

क पालन से मनुष्य की आयु बढती है, मुख का तेज बढता है, शरीर म शारीरिक शक्ति बढती है। ब्रह्मचारी मनुष्य के शरीर म इतनी ताकत होती है कि वह किसी से हार नही सकता। साधारण मनुष्यो को तो उसमे हार माननी पडती है, अधिक ज्ञान के कारण उसके पास धन की भी कमी नही रहती, शास्त्रो के रचयिता होने के कारण चारो ओर उनका यश फैलता है अनेक पुण्यो का फल प्राप्त होता है तथा अन्त मे भगवान के प्रेम को प्राप्त हो कर स्वग को प्राप्ति करता है। ब्रह्मचय स मृत्यु को भी जीता जा सकता है इस विषय मे धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी न इस प्रकार कहा कि 'राजन्! जो इस ब्रह्मचय का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम नियमादि तप का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालक की भाँति राग द्वेष स शून्य हो जाता है और अन्त समय मे वह मृत्यु को भी जीत लेता है।"[२५] यम नियमादि तप के आचरण स ब्रह्मचारी अपने शरीर को पवित्र कर लेता है और ससार के राग द्वेषो स शून्य हो जाता है और उसकी बुद्धि एक अबोध बालक की भाति निमल हो जाती है। वह ब्रह्मचय के पालन से ही अन्त समय मे मृत्यु को भी जीत लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्मचारी बहुत काल तक तपस्या मे लीन रहता है और उसका शरीर भी अमर हो जाता है। ब्रह्मचय के पालन से मनुष्य बडे बडे काम कर जाता है और स्वय तो अमर हो ही जाता है साथ म अपन दो चार शिष्य और बना जाता है जिसस इस परम्परा की पक्ति समाप्त नही होती है।

७--माता-पिता और गुरु की आज्ञा पालन का धर्म—

मनुष्य के लिए जिस प्रकार से अनेक धर्मों का पालन करना आवश्यक

२५—य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सव शरीर तपसा तप्यमान ।
एतेन व बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्यु तथा स जयत्यन्तकाले ॥

उद्योगपव—अध्या० ४४, श्लो० २३

है, उसी प्रकार उसको अपने पूज्य माता पिता तथा गुरु की आज्ञा मानना भी महान धर्म है। जो मनुष्य अपने से बडो का आदर करते है उन्ह सवत्र यश और मान मिलता है। बडो तथा पूज्यो की आज्ञा के पालन से मनुष्य के दोनो लोक, इहलोक और परलोक सुधर जाते हैं। युधिष्ठिर ने दोनो लोको म परम धर्म प्राप्त करने के लिए पूछा तो भीष्म ने इस प्रकार कहा कि 'य माता पिता और गुरजन ही तीनो लोक हैं, य ही तीनो आश्रम हैं ये ही तीनो वेद हैं तथा ये ही तीनो अग्नियाँ हैं।'[२६] 'यदि तुम इन तीनो की सेवा म कोई भूल नही करोगे, तो तीनो लोको को जीत लोगे। पिता की सेवा से इस लोक को माता की सेवा से परलोक को तथा नियमपूर्वक गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक को भी लाघ जाओगे।'[२७] इन तीनो गुरजनो की सेवा तथा आज्ञा का पालन सब लोको से बढकर है। यदि कोई मनुष्य और कोई धर्म-काय न कर सके, केवल माता पिता तथा गुरु की सेवा म ही लगा रहे तो उसके लिए सब धर्मो का पुण्य स्वय प्राप्त हो जाएगा। यदि वह धार्मिक काय म लगा रह और इन तीनो की सेवा न करे तथा न आज्ञा माने तो उसके सब धार्मिक काय निष्फल हो जाते हैं। इसलिए माता पिता और गुरु की आज्ञा स बढकर अन्य कोई धर्म नही है। माता पिता तथा गुरु की आज्ञा उल्लघन न करना चाहिए इस विषय म भीष्मजी ने कहा कि "इन तीनो की आज्ञा का कभी उल्लघन न

२६—एतएव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रय ।
एतएव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नय ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १०८, श्लो० ६

२७—त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्त्या त्विम लोक मातृवृत्त्या तथा परम् ।।
ब्रह्मलोक गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १०८, श्लो० ८½

करे, इनको भोजन कराने के पहले स्वय भोजन न करे, इन पर कोई दोषा रोपण न करे और सदा इनकी सेवा म सलग्न रहे। यही सबसे उत्तम पुण्य कर्म है। नृपश्रेष्ठ ! (युधिष्ठिर से) इनकी सेवा से तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब कुछ प्राप्त कर लोगे।"[२८] जिसने इन तीनो का आदर कर लिया, उसने सम्पूर्ण लोको का आदर कर लिया। जिसने इन तीनो गुरुजनो का सदा अपमान ही किया है उसके लिए न तो यह लोक ही सुख दायी है और न परलोक ही अच्छा है। माता पिता तथा गुरु जिस काय को करने की आज्ञा दें वह चाहे धर्म के अनुकूल हो या विरुद्ध, उसका पालन अवश्य करना चाहिए। इन तीनो की आज्ञा पालन से तथा सेवा से मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है तथा मृत्यु के बाद परलोक म भी सुख प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के लिए तीनो गुरुजन पूज्य है, इसलिए सदव उनका ध्यान रखना चाहिए। इन तीनो मे माता के समान दूसरा कोई गुरु नही है।

८--माता-पिता से अधिक पूजनीय गुरु--

मनुष्य के लिए माता पिता बहुत माननीय तथा पूज्य है और इन दोनो म माता का स्थान पिता से भी अधिक माननीय है क्योकि वह मनुष्य की जन्मदात्री है, किन्तु गुरु का स्थान इन दोनो स भी बढ़कर ह एसा शास्त्रो म कहा गया है। गुरु की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी न युधिष्ठिर से कहा कि भारत ! पिता और माता केवल शरीर को ही जन्म देते हैं, किन्तु आचार्य का उपदेश प्राप्त करके जो द्वितीय जन्म उपलब्ध होता है वह दिव्य है,अजर अमर है।"[२९] जो गुरु सत्यस्वरूप वेद का उपदेश देता है और असत्य की

२८—मतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत्।
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम्।
कीर्ति पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम॥
शान्तिपर्व—अध्याय १०८ श्लो० १० ११

२९—शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा॥
शान्तिपर्व—अध्याय १०८ श्लो० १६-१७

रोक्याम करता है, उस गुरु को ही पिता और माता समझना चाहिये। उसके उपकार को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए और गुरु से कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए। मन, वाणी तथा क्रिया द्वारा सदा गुरु की सेवा करनी चाहिए। गुरु सेवा से पुरातन धर्म की प्राप्ति हो सकती है, इस विषय में भीष्म जी ने इस प्रकार कहा कि 'जो पुरातन धर्म का फल पाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे गुरुओं की पूजा-अर्चा करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें।'[३०] गुरु को जिस वस्तु की आवश्यकता हो,उस वस्तु को कठिन परिश्रम से प्राप्त होती हो तो भी लाकर दे। गुरु जिस कार्य को करने की आज्ञा दे चाहे वह कितना ही दुष्कर क्यों न हो पूर्ण करके दिखाये। ब्रह्मचारी के लिए संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं होती है। अपने कठिन तप और संयम के बल से वह असम्भव को भी सम्भव बना सकता है। पिता को प्रसन्न करने से मानो प्रजापति प्रसन्न होते हैं तथा माता के प्रसन्न करने से मानो सम्पूर्ण पृथ्वी की पूजा हो जाती है किन्तु गुरु की पूजा इन तीनों से श्रेष्ठ है बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जिस कर्म से शिष्य उपाध्याय (विद्यागुरु) को प्रसन्न करता है, उसी के द्वारा परब्रह्म परमात्मा की पूजा सम्पन्न हो जाती है, अतः गुरु माता पिता से भी अधिक पूजनीय है।"[३१] गुरु की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने फिर कहा कि "गुरुओं के पूजित होने पर पितरों सहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं इसलिए

३०—तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०८, श्लो० २४

३१—येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०८, श्लो० २६

गुरु परम पूजनीय है।"[३२] किसी भी व्यवहार के कारण गुरु अपमान के योग्य नही होता। इसी तरह माता पिता भी अनादर के योग्य नहीं हैं। जसे गुरु माननीय हैं, उसी प्रकार माता पिता भी माननीय हैं। अत सब मनुष्यो को इन तीनो का आदर मान करना चाहिये।

६--ब्रह्मचर्य का प्रताप--

ब्रह्मचर्य के पालन म बडा अद्भुत प्रताप होता है। ब्रह्मचर्य से ऐसे धर्मों और लोको को प्राप्त किया जा सकता है जिनको अन्य किन्ही कारणो स नही प्राप्त किया जा सकता। ब्रह्मचर्य का प्रताप बताते हुए सनत्सुजात जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि इस ब्रह्मचर्य के पालन स ही देवताओ ने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियो ने ब्रह्मलोक को प्राप्त किया।[३३] '*इसी के प्रभाव से गन्धर्वों और अप्सराओ को दिव्य रूप प्राप्त* हुआ। इस ब्रह्मचर्य के ही प्रताप से सूर्यदेव समस्त लोको को प्रकाशित करने म समर्थ होते है।"[३४] ब्रह्मचर्य मनोवाञ्छित वस्तुप्रदान करने वाला है। ऐसा समझकर ही ऋषि देवता आदि बडे भाव को प्राप्त हुए। ब्रह्मचर्य के

३२--ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभि सह।
पूज्यमानेषु गुरुषु तस्मात् पूज्यतमो गुरु।

शान्तिपर्व--अध्याय १०८ श्लो० २७

३३--एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोक मनीषिण॥

उद्योगपर्व--अध्याय ४४, श्लो० २०

३४--गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत्।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते॥
उद्योगपर्व--अध्याय ४४, श्लो० २१

पालन से गन्धर्वों और अप्सराओ को एसा अद्वितीय रूप, और सौन्दय मिला है कि जो अन्य किसी को प्राप्त नही हुआ। ब्रह्मचय के पालन से ही ऋपियो को ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ तथा देवताओ को देवत्व प्राप्त हुआ। ब्रह्मचय के प्रताप से ही सूय को इतना प्रकाश प्राप्त हुआ है कि वे सूय देव समस्त लोको को प्रकाशित कर रहे हैं। ब्रह्मचय के प्रताप की प्रशसा करते हुए गन्धव ने अपनी हार का कारण बताते हुए अजुन से कहा कि 'ब्रह्मचय सबसे बडा धम है और वह तुम म निश्चितरूप से विद्यमान है। कुन्तीनन्दन! इसी लिए युद्ध म मैं तुमसे हार गया हू। जिस गन्धव से युद्ध मे कोई नही जीत सकता था उस गन्धव को अजुन ने अपने ब्रह्मचय के द्वारा हरा दिया। हारने पर गन्धव को आश्चय हुआ कि इस हार का क्या कारण है नही तो मुझे कोई मनुष्य हरा ही नही सकता। तब ब्रह्मचय ही सबसे बडा धम है एसा सोचकर गन्धव को अजुन से अपनी हार माननी पडी। ब्रह्मचय के पालन से ही अरुणि कल्याण का भागी सम्पूण वेदो का ज्ञाता तथा समस्त धमशास्त्र का ज्ञाता हो गया है। सचमुच ब्रह्मचय की महिमा अवणनीय है।

अध्याय—१५

महाभारत में गृहस्थ-धर्म

१—गृहस्थाश्रम सब धर्मो का मूल—

गृहस्थ आश्रम सब आश्रमो का मूल है। गुरुकुल म ब्रह्मचारी और वन म रहकर सकल्प के अनुसार व्रत नियम एव धर्मों का पालन करन वाले वानप्रस्थी तथा सब कुछ त्याग कर सवत्र विचरण करने वाले सन्यासी भी गृहस्थाश्रम से ही भिक्षा भेट उपहार दान आदि पाकर अपने धर्म का पालन करते है। इस प्रकार हम कह सकते है कि अन्य तीनो आश्रमो का निर्वाह गृहस्थ से ही होता है। गृहस्थाश्रम सब आश्रमो का आश्रय है। अत वह सब म श्रेष्ठ आश्रम है। गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता बताते हुए मनु ने कहा है जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सब जीव जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रमवासी धर्मों का निर्वाह करते है। तीनो ही आश्रम वाले गृहस्थ से ज्ञान और अन्न का दान पाते हैं। गृहस्थ गुरु ही ब्रह्मचारियो और विद्यार्थियो को विद्यादान करते है। गृहस्थ ही उन्हे भिक्षा दान देते हैं। तीनो आश्रमो को धारण करने के कारण गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ अथवा सबसे बडा है। [१]

१—यथा वायु समाश्रित्य वर्त्त ते सवजन्तव।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्त ते सर्व आश्रमा॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
मनुस्मृति अध्याय-३ श्लोक ७७ ७८

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और सन्यासी समाज के सभी उत्तरदायित्वो से मुक्त है। उन सबका निर्वाह गृहस्थ ही करता है। गृहस्थ तीनो आश्रमो के अतिरिक्त बालक वृद्ध, स्त्री, पगु जन्तु, रोगी आदि को शरण देता है तथा उनका पालन करता है। यदि ब्रह्मचर्य निर्माण का काल हैं तो गृहस्थ कर्तव्य का समय है। गृहस्थी वाले पुरुष को अनेक कर्तव्यो का पालन करना पडता है।

गृहस्थाश्रम को सब धर्मों का मूल बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा— गृहस्थाश्रम सब धर्मों का मूल कहा जाता है। इसमे रह कर अन्त करण के रागादि दोष पक जाने पर जितेन्द्रिय पुरुष को सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है।[२] अन्य तीनो आश्रमो के पालन करने वाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा सन्यासी लोग अपने-अपने धर्मों का पालन गृहस्थाश्रम पर निर्भर रहकर ही कर सकते हैं। यदि गृहस्थी किसी कारण से इन तीनो आश्रमवासियो को दान भिक्षा तथा मान न दे, तो वे बेचारे अपने धर्मों का पालन शान्ति मे न कर सकेंगे। उनका सम्पूर्ण समय भोजन की चिन्ता तथा भोजन की खोज मे ही व्यतीत होगा, तब वे अपने धर्मों का पालन किस प्रकार कर सकेंगे अर्थात् गृहस्थाश्रम की सहायता से ही वे अपने अपने धर्मों का पालन उचित नियमो से कर सकेंगे। इसलिए गृहस्थ पुरुष को दानी तथा धर्मात्मा होना चाहिए। गृहस्थ पुरुष को अपने अन्त करण को शुद्ध रखना चाहिए। राग द्वेष क्रोध आदि दोषो को गृहस्थ पुरुष जीतकर ही उदार बन सकता हैं। इसलिए गृहस्थ पुरुष को सद्भाव वाला सद्गुणो वाला तथा परोपकारी होना चाहिए। इन्ही गुणो से युक्त गृहस्थ सच्चा और सफल गृहस्थ पुरुष बन सकेगा तथा अन्य आश्रम वालो को सुख-सुविधा दे सकेगा। इन गुणो के न होने पर स्वय तो दु खी रहेगा ही तथा दूसरो को भी सुख न दे सकेगा। उसके ऊपर निर्भर रहने वाले स्त्री बालक वृद्ध पगु सभी परिवार के लोगो का जीवन दु खमय हो जायेगा। इसलिए गृहस्थ सद्विचारो वाला अपने सुखो को त्यागने वाला तथा परोपकारी होना चाहिए तभी सबका कल्याण सम्भव हो सकेगा।

२—गृहस्थस्त्वेष धर्माणा सर्वेषा मूलमुच्यते।
यत्र पक्वकषायो हि दान्त सर्वत्र सिध्यति॥
शान्तिपर्व—अध्याय २३४, श्लोक ६

२—गृहस्थाश्रम की महिमा—

गृहस्थ आश्रम शास्त्र और समाज की दृष्टि से अय सब आश्रमो का पालन करता है। अत वह सवम श्रेष्ठ है। गृहस्थ का जीवन प्राकृतिक सामाजिक और सास्कृतिक सभी दृष्टियो से जीवन की पूणता का माग है। विधिपूवक ब्रह्मचय के पालन स जीवन की सुदृढ भूमिका बनाकर गृहस्थाश्रम म प्रवश करन वाला मनुष्य जीवन को साथक बनाता है। भारतीय आचार शास्त्र ने मनुष्य की प्राकृतिक आकाक्षाओ को उचित स्थान दिया है। गृह स्थाश्रम म ऐसे अनेक कर्त्तव्य हैं जो प्रकृति क स्वाथमय भोग नही हैं वरन् पराथ और सास्कृतिक कम है।

मनु और याज्ञवल्क्य दोना ने विधिपूवक ब्रह्मचय का पालन करन के बाद गृहस्थाश्रम म प्रवश और विवाह करने का विधान किया है। मनुस्मृति मे विवाह के लिए इस प्रकार कहा है कि "अखण्डित ब्रह्मचय के पालन के बाद गृहस्थाश्रम म प्रवेश करना चाहिए। [3] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा है कि 'अखडित ब्रह्मचय क पालन के बाद सद्गुणा वाली स्त्री का वरण करना चाहिए। [4] महाभारत म भी ब्रह्मचर्याश्रम पूण होने पर गृहस्थाश्रम के प्रवेश क विषय म शुकदेवजी न व्यासजी से पूछा तो उन्होंने इस प्रकार कहा कि धमत पत्नी का पाणिग्रहण करक उसक साथ यत्न पूवक अग्नि की स्थापना करे और आयु क द्वितीय भाग अर्थात् पचास वष तक उत्तम व्रत का पालन

३—"अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्'
मनुस्मृति—अध्याय ३, श्लोक २

४—' अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्
याज्ञवल्क्य स्मृति-अध्याय १, श्लोक ५२

करते हुए गृहस्थ बना रहे।'[५] अखण्डित ब्रह्मचर्य मनुष्य के शारीरिक विकास के लिए उत्तम है। शारीरिक दृढ़ता से ही मनुष्य का गृहस्थ जीवन सफल हो सकता है। गृहस्थ जीवन में सुख और सामाजिक कर्त्तव्य दोनों के सफल निर्वाह के लिए जिस स्वास्थ्य और चरित्र की आवश्यकता है वह ब्रह्मचर्य के पालन से ही मिल सकते हैं। मनु ने कहा है कि जिनका चरित्र दुर्बल है वे गृहस्थाश्रम का धारण नहीं कर सकते अर्थात् वे गृहस्थ के सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकते।'[६] जिस प्रकार अर्थ और काम की मर्यादा धर्म है उसी प्रकार गृहस्थ का आधार ब्रह्मचर्य है। आरम्भिक यौवन में ब्रह्मचर्य के पालन से जीवन परिपक्व होता है। ब्रह्मचर्य संचय का काल है। गृहस्थाश्रम विस्तार और वितरण का समय है। विवाह, आतिथ्य, दान, अध्यापन, महायज्ञ आदि के द्वारा गृहस्थ मनुष्य अपने प्राकृतिक धर्म और सामाजिक कर्तव्य को पूरा करता है। यदि ब्रह्मचर्य जीवन रूपी वृक्ष का मूल और स्तम्भ है तो गृहस्थाश्रम उसकी पल्लवित पुष्पित तथा फलित होने वाली शाखाओं का वसन्त-पर्व है। तप, संयम आदि का अपने आप में भी महत्व हो किन्तु वे गृहस्थ के प्राकृतिक और सामाजिक धर्मों की मर्यादाओं में भी सफल होते हैं।

३—गृहस्थ से धर्म प्राप्ति—

भारतीय आचार शास्त्र में गृहस्थ के अनेक कर्त्तव्य एवं धर्म बताये गये हैं। अपने कर्त्तव्यों का पूरा पूरा पालन करने वाला गृहस्थ बड़ा पुण्यवान् होता है। सदाचारी गृहस्थ केवल एक पत्नी व्रत होता है। एक स्त्री से ही प्रेम करने

५—धर्मलब्धेषु तो दारेष्वग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद् व्रती ।।
शान्तिपर्व-अध्याय २४२, श्लोक ३०

६— यो्ऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः
मनुस्मृति

वाला गृहस्थ धर्म के कार्य करने का अधिकारी माना जाता है। गृहस्थ पुरुष सत्यता से सरलता से तथा अतिथि सत्कार आदि गुणों से परम सुख प्राप्त करता है। सदाचारी गृहस्थ अपने गुणों से इस लोक में प्रशंसा प्राप्त करता है तथा परलोक में भी उसे सुख मिलता है ऐसा हमारे धार्मिक ग्रन्थों में वर्णन है। आश्रम धर्म का वर्णन करते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से गृहस्थ की सद्गति के विषय में इस प्रकार कहा कि गृहस्थ पुरुष इस लोक में सत्य, सरलता, अतिथि सत्कार धर्म, अर्थ अपनी पत्नी के प्रति अनुराग तथा सुख का सेवन करे। ऐसा होने पर ही उसे परलोक में भी सुख प्राप्त होते हैं यह मेरा मत है।"[७] गृहस्थ के पुण्य के विषय में जब युधिष्ठिर ने व्यास से पूछा तब व्यास जी ने मनु और सिद्ध पुरुषों के संवाद रूप इस प्रकार इतिहास के उदाहरण को इस प्रकार कहा कि "जैसे गृहत्यागी संन्यासी घर के प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घर में रहना चाहिए। जो इस प्रकार सदाचार का पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नी के साथ घर में निवास करता है वह धर्म का पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेता है।"[८] जो गृहस्थ पुरुष ममता तथा अनुराग को छोड़कर अपने गृहस्थ धर्मों का पालन करते हैं वे ही धर्म का पूरा पूरा फल प्राप्त करते हैं अर्थात् ममता और अनुराग के न होने पर ही गृहस्थ पुरुष पचास वर्ष की अवस्था पर वानप्रस्थ ले सकते हैं और भगवान् के ध्यान के साथ साथ दान का भी कुछ कार्य कर सकते हैं। सद्गति की इच्छा रखने वाले गृहस्थ पुरुष अपने

७—सत्यार्जवे चातिथिपूजनं च
धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारे।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके
ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत्॥
शान्तिपर्व–अध्याय ६१, श्लोक १४

८—यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथा स्वे गृहे वसेत्।
एवं वृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात्॥
शान्तिपर्व–अध्याय ३६ श्लोक ३५?

अपने पुत्रो को गृहस्थ का भार सौंप कर ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने कल्याण का मार्ग बनाते हैं।

४—गृहस्थाश्रम मे पुत्र प्राप्ति महान पुण्य—

भारतीय धर्मशास्त्रो के मतानुसार गृहस्थ जीवन मे पुत्र का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। प्राचीन इतिहास मे देखने से ज्ञात होता है कि जिन गृहस्थों के पुत्र नही होता था, वे बडे चिंतित तथा दुःखी रहा करते थे। पुत्र प्राप्ति के लिए राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया था तथा राजा दिलीप ने तथा उनकी रानी इन्दुमती ने पुत्र प्राप्ति के लिए गाय की सेवा की थी। इस प्रकार पुत्र प्राप्ति के लिए मनुष्य बडे बडे तप किया करते थे और उनके त्याग का फल उन्हे प्राप्त भी होता था। ऐसा भी कहा जाता है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी मुक्ति नही होती। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य को जब तक अपना उत्तराधिकारी नही प्राप्त होता तब तक उसे अशान्ति बनी रहती है। पुत्र के समान हितकारी सुखकारी तथा सेवा करने वाला मनुष्य के लिए अन्य कोई नही हो सकता। अपने जीवन मे जितनी भी सम्पत्ति वस्तुएँ तथा जायदाद आदि जो भी मनुष्य संग्रह करता है उसे अपने अन्तकाल मे किसी को सौंपना चाहता है। बस तो वह दूसरों को भी सौंप सकता है। किन्तु मनुष्य की ममता और मोह सांसारिक वस्तुओं के संग्रह मे इतनी प्रबल होती है कि वह अपने पुत्र के सिवाय और किसी को नही सौंप सकता। पुत्र उसकी आत्मा होता है, इसीलिए पुत्र को आत्मज कहते है। ससार मे मनुष्य के लिए पुत्र से बढकर अन्य कोई वस्तु प्रिय नही होती। इसीलिए भारतीय शास्त्रो मे पुत्र के बिना जीवन व्यर्थ बताया गया है।

भारतीय धर्म के अनुसार मनुष्य के लिए जो आश्रम बताये है वे भी पुत्र की प्राप्ति के पश्चात ही पूर्ण हो सकते हैं अन्यथा उनका जीवन अपूर्ण ही रह जाता है। गृहस्थ का समय ५० वर्ष तक का इसीलिये माना गया है कि मनुष्य २५ वर्ष मे विवाह करके २५ वर्ष तक गृहस्थ मे रहे और जब उसके पुत्र का विवाह आदि सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो जाय और उस पुत्र के भी पुत्र हो जाये तब मनुष्य को वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करना चाहिए। उसका यही अभिप्राय है कि पुत्र को गृहस्थ का भार सौंप कर ही मनुष्य अन्य अन्य आश्रमो मे शांति से प्रवेश कर सकता है। इसीलिए पुत्र प्राप्ति

को महान पुण्यो का फल माना जाता है। महाभारत म जव जरत्का६ न अपन पितरो से दु ख का कारण पूछा तव उन्होंन इस प्रकार कहा कि "तात! पुत्र वाले मनुष्य इस लोक म जिस उत्तम गति को प्राप्त होते हैं उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल दने वाले भलीभाति सचित किए हुए तप स भी नही पाते। ९ भारतीय धम म मनुष्यो की ऐसी धारणा है कि मृत्यु क बाद भी आत्मा अपने पुत्रो से श्राद्ध आदि कर्मों की आशा रखती है और जिस के पुत्र नही होते उनकी आत्मा इधर उधर भटकती फिरती है। पुत्र अपने माता पिता का विधिपूर्वक श्राद्ध तपण आदि कम करके उनकी आत्मा को शान्ति ही नही देता वरन् उनकी पितर योनि स मुक्ति भी कराता है। इस प्रकार पुत्र अपने पूवजो को स्वग तक पहुँचाने वाली सीढ़ी है। बिना पुत्र के मनुष्य का जीवन अपूण है तथा उसके जीवन की मुक्ति सम्भव नही है। इस लिए मनुष्य के उद्धार का माग शुभ तथा श्रेष्ठ कम तो हैं ही इसके अतिरिक्त पुत्र इन कर्मों से भी बढकर उद्धार करने वाला है। पुत्र की प्राप्ति सब तपस्याओ से सब श्रेष्ठ कर्मों से तथा सब प्रकार के पुण्यो से भी श्रेष्ठतम है।

५—अतिथि पूजन गृहस्थ का सर्वोच्च धर्म—

गृहस्थ आश्रम म रहने वाले मनुष्यो के लिए वसे अनेक कतव्य है जिनका उस पालन करना आवश्यक है। उन कत यो म स अतिथि सत्कार करना भी बडा महत्त्वपूण कतव्य है। अग्नि पुत्र सुदशन नाम के गृहस्थ ने अतिथि सत्कार से मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। उसने अपनी पत्नी ओघवती से इस प्रकार कहा कि जिस गृहस्थ के घर पर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है उसके लिए उससे बढकर दूसरा कोई धम नही है—

९—न हि धमफलस्तात न तपोभि सुसचित
तां गति प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो या व्रजन्ति व॥

आदिपव—अध्याय १३, श्लोक २५

ऐसा मनीषी कहते हैं।"[१०] अग्निपुत्र सुदशन न मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा कि जिस जिस वस्तु मे अतिथि सन्तुष्ट हो वह वस्तु तुम्हारे द्वारा सदा ही देनी चाहिए। यदि अतिथि के सन्तोष के लिए तुम्हे अपना शरीर भी देना पड़े तो मन मे कभी अन्यथा विचार न करना।"[११] "सुन्दरी! अतिथि सेवा का यह व्रत मेरे हृदय में सदा स्थित रहता है। गृहस्थो के लिए अतिथि सेवा स बढ़कर दूसरा कोई धम नहीं है।"[१२] जिस प्रकार सावित्री न यमराज से वर मागकर तथा अपने पतिव्रत धम के पुण्यो स सत्यवान् को पुनर्जीवित किया था उसी प्रकार अग्निपुत्र सुदशन की उसकी पत्नी ओघवती न अतिथि सेवा म अपना शरीर तक देकर अपने पति का मृत्यु स बचाया था। अग्निपुत्र की उम्र भी कम थी, इसलिए मृत्यु हमेशा उसका पीछा किये रहती थी। एक बार धम स्वय ही ब्राह्मण का रूप रखकर उस सती ओघवती के घर पर पधारे उस समय उसका पति घर से बाहर समिधा लेने गया था। इसलिए उन ब्राह्मण का अतिथि पूजन उस ओघवती को ही करना पड़ा। उसन उनको बैठने को आसन दिया तथा चरण धोने को जल दिया और वस्तुजा के लिए उनस निवेदन किया। किन्तु उन्होंने और कोई वस्तु न मागकर केवल उसके शरीर

१०–अतिथि पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
 नान्यस्तस्मात् परो धम इति प्राहुर्मनीषिण ॥
 अनुशासनपर्व—अध्याय २, श्लोक ७०

११–येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथि।
 अप्यात्मन प्रदानेन न ते कार्या विचारणा ॥ ४३

१२–एतद् व्रत मम सदा हृदि सम्परिवर्तते।
 गृहस्थाना च सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम् ॥
 अनुशासन पर्व—अध्याय २, श्लोक ४३ ४४

का ही दान मागा। अपने पति की आज्ञा का स्मरण करके उसने उन ब्राह्मण को अपना शरीर अपण कर दिया। उसी समय उसका पति आ गया और मृत्यु उसक पीछे पीछे लोहदण्ड लिए आ गई। मृत्यु ने सोचा कि अब यह अपनी पत्नी से नाराज होगा बस तभी मैं इसके प्राण ले जाऊँगी किन्तु उसन यह जानकर कि मेरी पत्नी एक ब्राह्मण अतिथि की सेवा म लगी हुई है कुछ न कहा और हसकर ब्राह्मण देवता स इस प्रकार कहा कि 'विप्रवर! आपकी सुरत कामनापूण हो। इससे मुझे बडी प्रसन्नता है, क्योकि घर पर आय हुए अतिथि का पूजन करना गृहस्थ के लिए सबसे बडा धम है।[13] यह सुनकर मृत्यु को वापिस जाना पडा और ब्राह्मण वेषधारी धम प्रसन होकर बोला कि तुमने अपन धय से मृत्यु को वश म कर लिया है। भीष्म जी ने युधिष्ठिर से अतिथि सेवा का महत्व बताते हुए इस प्रकार कहा कि सुदशन न अतिथि सत्कार क पुण्य से मृत्यु आत्मा लोक पञ्चभूत बुद्धि काल मन, आकाश काम और क्रोध को भी जीत लिया।[14] इस प्रकार गृहस्थ पुरुष के लिए अतिथि को छोडकर दूसरा कोई देवता नही है। इसलिए प्राचीन काल म अतिथि सेवा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक धम माना जाता था। हमार प्राचीन धार्मिक ग्र थो का आचरण करन वाल लोग आज भी अतिथि सेवा करना अपना कतव्य मानत हैं। अतिथि सेवा करने स मन बडा प्रसन्न तथा चित्त बडा शात रहता है। गृहस्थ म अपने ही जना क साथ रहते रहते मानव मन कुछ उदास रहन लगता है अतिथि के आ जाने स घर म एक नया वातावरण छा जाता

१३–सुरत तेऽस्तु विप्राय प्रीतिर्हि परमा मम।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्य सम्प्राप्तातिथि पूजनम्॥ ६६

१४–मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च।
बुद्धि कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथव च॥
अनुशासनपव—अध्याय २ श्लोक ६९ ८०

है और घर म चारो ओर चहल पहल सी लगन लगती है। बच्चे क्या बढे सभी लोग प्रसन्न मन दिखाई दने लगते है। कुछ दिन के लिए घर म स उदासी बिल्कुल दूर हो जाती है और सबका मन प्रसन्नता से भर उठता है। इसलिए भारतीय सभ्यता म अतिथि सत्कार करना गृहस्थ का धम माना गया है। वशम्पायनजी से बातें करत समय अतिथि क प्रति गृहस्थ के क्या कत य हैं बताते हुए युधिष्ठिरजी न इस प्रकार अतिथि के कत य बताय कि 'जो अपने घर पर आ जाय उस प्रेमभरी दृष्टि स दखे मन म उसके प्रति उत्तम भाव रखे उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसक लिए आसन द। यह गृहस्थ का सनातन धम है। अतिथि को आते दख उठकर उसकी अग वानी और यथोचित रीति से उसका आदर सत्कार कर।'[१५] अतिथि क प्रति गृहस्थ के कतव्य बताते हुए युधिष्ठिर न पाच प्रकार की दक्षिणाओ से युक्त अतिथि-यन रूपी अतिथि सेवा का वणन इस प्रकार किया है कि अतिथि को नेत्र द (उसे प्रेमभरी दृष्टि से दखे), मन दे (मन मे हित चितन कर) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय हित की बात कह)। जब वह जान लगे, तब कुछ दूर तक उसके पीछे पीछे जाय और जब तक वह घर पर रहे, तब तक उसके पास बठे (उसकी सेवा म लगा रहे)। यह पाच प्रकार की दक्षिणाओ से युक्त अतिथि-यन है।[१६]

मनुस्मृति म मनु ने गृहस्थ के लिए अतिथि का सत्कार भी एक प्रमुख कत य बताया है 'अतिथि को आता देखकर उसे बठने को आसन दे

१५–चक्षुदद्यान्मनो दद्याद् वाच दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासन दद्यादेष धम सनातन ।
प्रत्युद्गम्याभिगमन कुर्यान्न्यायेन चाचनम् ॥

१६–चक्षुदद्यान्मनो दद्याद् वाच दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञ पञ्चदक्षिण ॥
वनपवणि अरण्यपर्व—अध्याय २, श्लोक ५६ ६६

गृहस्थाश्रम म प्रवेश करने के पश्चात् पुरुष को स्त्री से प्रेम करने के अतिरिक्त अपा मुनि लोगा जसे उचित कार्यो भी न भूलना चाहिए। इन्द्रिया का सयम भी गृहस्थ के लिए परमावश्यक है। इस विषय म व्यासजी न अपन पुत्र स गृहस्थ पुरुष के धम बतात हुए इस प्रकार कहा कि 'गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रेम करे। इन्द्रिया का सयम करके जितेन्द्रिय बन। किसी न गुणा म दोष न ढूँढे। वह ऋत्विज पुरोहित, आचाय, मामा, अतिथि, शरणागत वृद्ध, बालक, रोगी, वद्य, जाति भाई, सम्बन्धी बन्धु-बान्धव माता पिता, कुटुम्ब की स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक समूह क साथ कभी विवाद न कर। जो इन सबक साथ कलह त्याग देता है, वह सब पापा स मुक्त हो जाता है।'[२०,२१,२२] गृहस्थ पुरुष को शास्त्रो की आज्ञा क अनुसार अपन सब पारिवारिक लोगा का तथा पूज्य आचार्यों का आदर करना चाहिए। किसी के साथ कभी भी कलह न करनी चाहिए। क्रोध का पूर्णरूप स जीत लेना चाहिए, तभी वह सच्चे रूप स गृहस्थ कहलायेगा और क्रोध के शान्त हो जाने पर ही वह दूसरा के दोषा को न ढूँढ सकगा। शान्तचित्त वाला मनुष्य ही उदार बन सकता है और सबका सम्मान कर सकता है। गृहस्थ म सबसे अधिक सम्बन्ध स्त्री का होता है। इसलिए पुरुषा को स्त्री के प्रति सदा उदार भाव रखने चाहिए। स्त्री को छोटा नही समझना चाहिए। उस

२०—स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रिय ।
ऋत्विक पुरोहिताचार्यं मातुलातिथिसंश्रित ॥ १४

२१—वृद्धबालातुरवैद्य ज्ञाति सम्बन्धिबान्धव ।
मातापित भ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया॥ १५

२२—दुहित्रा दासवर्गेण विवाद न समाचरेत् ।
एतान् विमुच्य सवादान् सवपापविमुच्यते ॥
शान्तिपव—अध्याय २४३, श्लोक १४ १५ १६

आदर देकर ही गृहस्थ पुरुष शाति और प्रेम पा सकता है। पति पत्नी का स्नेह और आदरपूर्ण सम्बध कल्याण का माग है। अत स्त्रिया की प्रसन्नता और उनका आदर विशेष रूप से पुरुषो का उत्तरदायित्व है। यद्यपि गृहस्थ जीवन की सफलता स्त्री के सद्भाव सदाचार, श्रम आदि पर भी निभर है। मनु ने कहा कि जिस कुल म पति पत्नी एक दूसरे से सन्तुष्ट रहते हैं, उस कुल का सदव कल्याण होता है यह निश्चित है।" अत कल्याण चाहन वाले पुरुषो के द्वारा स्त्रिया सदा पूज्य हैं। उत्सव आदि के अवसर पर उनका विशेष सत्कार करना चाहिए। गृहस्थ के भोजन के विषय म भी शास्त्रो म अनेक श्रेष्ठ नियम है। गृहस्थ के भोजन के विषय म बताते हुए व्यासजी ने अपने पुत्र से इस प्रकार कहा कि वह केवल अपने ही भोजन के लिए रसोई न बनावे (अपितु देवता पितर और अतिथियो के उद्देश्य से ही भोजन बनाये) और पशुहिंसा न करे क्योकि यह अनथ मूलक है। २४ व्यासजी ने गृहस्थ के भोजन के विषय म इस प्रकार कहा कि गृहस्थ सुबह और शाम दो ही समय भोजन करे बीच म न खाये। ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय म स्त्री को अपनी शय्या पर न सुलाय। उसके घर पर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाये।'२५ गृहस्थ पुरुष को दिन म दो बार से अधिक खाना

२३—सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथव च।
यस्मिनेव कुले नित्य कल्याण तत्र व ध्रुवम् ॥

मनुस्मृति—अध्याय ३ ६०

२४—गृहमेधिव्रता यत्र महान्तीह प्रचक्षते।
नात्मार्थं पाचयेदन्न न वृथा घातयेत् पशून् ॥४

२५—न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम्।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजित ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४३ श्लोक ५ ७

इसलिए वजित है जिसस उसे आलस्य न आये और परिश्रम करने म उसे कोई दु ख न हो। अधिक भोजन करन स मनुष्य को आलस्य आता है और वह दिन म सोना चाहता है। दिन मे सोना गृहस्थ के लिय वजित है। व्यासजी ने गृहस्थ के लिए अधिक सोना वजित बताया है उन्होने न गृहस्थ के लिए सान के नियम बतात हुए इस प्रकार कहा कि 'गृहस्थ पुरुष दिन मे कभी न सोये। रात के पहले और पिछले भाग म भी नीद न ले।'[२६] कुटुम्ब के लागो को भोजन कराने के बाद जो भोजन शेष रहे, गृहस्थ को उसी भोजन को करना चाहिए उस विघसाशी बताया गया है। पचमहायज्ञ एव बलिवश्वदेव से बचे हुए अन्न को अमृत कहा गया है। व्यासजी ने गृहस्थ के खाने योग्य विघस तथा अमृत अन्न बताते हुए कहा है कि "गृहस्थ को सदा विघस और अमृत अन्न का भोजन करना चाहिए। यज्ञ से बचा हुआ भोजन हविष्य के समान और अमृत माना गया है।"[२७] गृहस्थ को भोजन कब करना चाहिए इस विषय म युधिष्ठिर के पूछने पर व्यास जी ने कहा कि 'गृहस्थ को चाहिए कि वह पहल देवताओ, ऋषियो, मनुष्यो (अतिथियो) पितरो और घर के देवताओ का पूजन करके पीछे स्वय भोजन करे।[२८] गृहस्थ मनुष्य के भोजन म देवता पितर आदि समस्त प्राणियो का हिस्सा होता है उनम से अपने हाथ से भोजन न बनाने वाले सन्यासी आदि को भी भोजन देना गृहस्थ का धम

---

२६ – न दिवा प्रस्वपञ्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥६

२७—विघसाशी भवेन्नित्य नित्य चामृत भोजन ।
अमृत यज्ञशेष स्याद् भोजन हविषा समम् ॥

शातिपर्व—अध्याय २४३, श्लो० ६ १२

३८—देवानृषीन् मनुष्याश्चपितृन् गृह्याश्च देवता ।
पूजयित्वा तत पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति ॥

शातिपर्व—अध्या० ३६ श्लो० ३४]

है । गृहस्थ के लिए पुण्य प्राप्ति का माग बताते हुए युधिष्ठिर ने श्री शौनक जी से इस प्रकार कहा कि 'जो गृहस्थ अपरिचित थके मांदे पथिक को प्रसन्नता पूवक भोजन दता है उसे महान् पुण्य फल की प्राप्ति होती है।'[२९] गृहस्थ के लिए परोपकार करना बडा उत्तम काय है। परोपकार मे गृहस्थ के मन को भा शांति मिलती है तथा शास्त्रों के कथनानुसार उसका पर लोक भी उत्तम हो जाता है।

७—गृहस्थ के कर्त्तव्य—

गृहस्थाश्रम म प्रवेश करने के बाद मनुष्य को अनेक धर्मों और अनेक कर्त्तव्यो का पालन करना पडता है। धर्मों और कत्तव्या का उचित प्रकार से पालन करने वाले गृहस्थ को सद्गति प्राप्ति होती है। गृहस्थाश्रम के द्वारा मनुष्य उत्तम उत्तम कर्मों को पूरा करता है और इस पृथ्वी पर अनेक जीवो को सुख पहुचाता है। गृहस्थ के साथ अनक माश्रम वासी, ब्रह्मचारी तथा अ य मनुष्यो का भरण पोषण हो जाता है। इसलिए गृहस्थाश्रम बहुत से दु खी जीवो को सहायता पहुचाने वाला माग है। गृहस्थ मनुष्य के लिए शास्त्रो म पाँच प्रकार के यज्ञ बताये हैं जो पचमहायज्ञ क नाम से प्रसिद्ध है। मनुस्मृति म पचयज्ञ इस प्रकार कहे हैं कि "अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है तपण पितृ यज्ञ है होम देवयज्ञ है जीवो को बलि दना भूतयज्ञ है और अतिथि सत्कार मनुष्य यज्ञ है।"[३०] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति म गृहस्थ के लिए पाच

२९—यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफल महत् ॥

वनपव—अध्याय २, श्लो० ६२

३०—अध्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञ स्तुतपणम् ।
होमो दवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

मनुस्मृति ३, ७०

मुख्य कर्म बताये हैं कि 'बलिकर्म तर्पण, होम, स्वाध्याय तथा अतिथि सत्कार य मनुष्यों के लिए सबसे बडे धन हैं।"[३१]

भृगु ने गृहस्थ के कर्त्तव्य बताते हुए भरद्वाज मुनि से कहा कि— 'गृहस्थाश्रम में रह कर यज्ञ करने से देवता श्राद्ध-तर्पण करने से पितर, वेद शास्त्रों के श्रवण अभ्यास और धारण से ऋषि तथा सन्तानोत्पादन से प्रजापति प्रसन्न होते हैं।"[३२] शास्त्रों के मतानुसार गृहस्थ पुरुष को चार ऋणों को चुकाना पड़ता है। वह चार ऋण हैं— पितृऋण देवऋण, ऋषिऋण और मनुष्य ऋण। पुत्र प्राप्ति से पितृऋण पूर्ण होता है यज्ञों द्वारा देवताओं को तृप्त करके गृहस्थ देवऋण से उऋण होता है स्वाध्याय और तपस्या द्वारा गृहस्थ ऋषियों को सन्तोष देता है और ऋषि ऋण पूर्ण करता है तथा अतिथि सत्कार द्वारा तथा दयापूर्ण व्यवहार द्वारा गृहस्थ मनुष्यों को प्रसन्न करता है और अपने मनुष्य नामक ऋण को पूर्ण करता है। जो गृहस्थ यथा समय इन ऋणों का पूर्ण नहीं कर पाते हैं, उनको पुण्यलोक मुश्किल से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा शास्त्रों में लिखा है। इन चार ऋणों में से तीन ऋण तो मनुष्य के हाथ में हैं और वह उन्हें अपनी इच्छानुसार पूर्ण भी कर सकता है किन्तु पितृ ऋण ईश्वराधीन है। यदि किसी पुरुष के पुत्र न हो तो उसे पितृऋण का भार बना रहता है और वह पुत्र प्राप्ति के चिंतन में लगा रहता है। बिना पुत्र वाले लिए स्वर्ग का द्वार बन्द रहता है तथा पितर असंतुष्ट रहते हैं। इन्हीं चार ऋणों को मनुस्मृति में मनु ने यज्ञ कहा है। गृहस्थ के कर्त्तव्य बताते हुए भृगुजी ने भरद्वाज ऋषि से इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ आश्रम में धर्म अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है। इसलिए त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर गृहस्थ को उत्तम कर्म के द्वारा धन-संग्रह करना चाहिए। अर्थात्

३१— बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रिया।
भूत पितृमर-ब्रह्म-मनुष्याणां महामखा॥
याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १, १०२

३२— यज्ञक्रियाभिर्देवता प्रीयन्ते, निवापेन पितरोविद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति॥

का प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है।[३५] प्राचीनकाल में गृहस्थ पुरुष को धन या तो अध्यापन से प्राप्त होता था या देवताओं की प्रसन्नता से अथवा किसी पर्वत के नीचे सोने, चाँदी या रत्नों की खानों के निकल आने पर धन प्राप्त होता था। इस धन को प्राचीनकाल में न्यायपूर्ण समझा जाता था और इस धन में से किया हुआ दान, यज्ञ, अतिथि सत्कार आदि ही श्रेष्ठ समझा जाता था। शास्त्रों के मतानुसार इस धन का दान पुण्यदायक माना जाता था तथा इसके श्रेष्ठ उपयोग से गृहस्थ का परलोक भी सुधर जाता था। गृहस्थ की आजीविका बताते हुए व्यासजी ने भीष्म से इस प्रकार कहा कि 'गृहस्थ ब्राह्मण के विद्वानों ने चार प्रकार की आजीविका बतायी है--कोठे भर अनाज का संग्रह करके रखना यह पहली जीविकावृत्ति है। कुंडेभर अन्न का संग्रह करना, यह दूसरी वृत्ति है तथा इतने ही अन्न का संग्रह करना जो दूसरे दिन के लिए शेष न रहे यह तीसरी वृत्ति है अथवा 'कापोती वृत्ति' (उञ्छवृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करे, वह चौथी वृत्ति है।"[३६] इन चारों में पहली वृत्ति की अपेक्षा दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है। अंतिम वृत्ति का आश्रय लेने वाला धर्म की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। कापोती वृत्ति की विशेषता तथा श्रेष्ठता बताते हुए व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि कुंडेभर अनाज का संग्रह करके अथवा उञ्छशिल के द्वारा अन्न का संग्रह करके 'कापोती वृत्ति' का आश्रय लेने वाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देश में निवास करते हैं उस राष्ट्र की वृद्धि

३५—धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत्,
दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं
सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी॥

आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लो० ३

३६—गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम्॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत्॥

होता है।"³⁷ उञ्छशिल अर्थात् अनाज के एक-एक दाने बीनने । जो अनाज इकट्ठा हो जाता है उसे उञ्छशिल कहते हैं । इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में अनाज का एक एक दाना बडे परिश्रम से बीनकर इकट्ठा किया जाता था और उस बिने हुए अनाज के संग्रह करने वाले को सबसे श्रेष्ठ माना जाता था । जो गृहस्थ अपनी आजीविका इस बीनकर संग्रह किये हुए अनाज से चलाता था, उसको लोग बडे आदर की दृष्टि से देखते थे । इससे यही प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में परिश्रम करने वाले को उत्तम समझा जाता था । इन चारों वृत्तियों के द्वारा जो गृहस्थ अपना जीवन बिताता था उसको परलोक में तो सुख मिलता ही था साथ-साथ ही उसकी दस पीढी भी पवित्र हो जाती थी । इस विषय में व्यास जी ने इन वृत्तियों का फल बताते हुए भीष्म जी से इस प्रकार कहा कि जो मन में तनिक भी क्लेश का अनुभव न करके गृहस्थ की इन वृत्तियों के सहारे जीवन निभाता है, वह अपनी दस पीढी के पूर्वजों को तथा दस पीढी तक आगे होने वाली सन्तानों को पवित्र कर देता है।'³⁸ गृहस्थ के लिए अपने ही लोगों के विषय में बताते हुए व्यासजी ने भीष्म जी से कहा कि 'बडा भाई पिता के समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवकगण अपनी छाया के समान हैं। बेटी तो बहुत ही दयनीय है। अतः इनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार भी हो जाय तो भी सदा क्रोधित रहकर सहन कर लेना चाहिए। गृहस्थपुरुष

३७—कुम्भधान्यश्चोञ्छशिलः कापोतीं चास्थितास्तथा
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४३, श्लो० २४, २५

३८—पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान् ।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद् यो गतव्यथः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४३ श्लो० २५

कलश और थकावट को जीतकर धमका निरन्तर पालन करत रहना चाहिये।"[३]
गहस्थ पुरुष को अपने बडे भाई का पिता के समान आदर सम्मान करना चाहिये तथा पिता की ही भांति उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। बड़े भाई से प्रेम रखने से परिवार मे प्रेम बढेगा और गहस्थ क सब लोग प्रसन्न एव सुखी रहग। अधिकतर परिवारो म बडे भाइ का सम्मान न करने क कारण ही छोटेभाई आपस में झगडाकर उठते हैं और इसका परिणाम परिवार को भोगना पडता है। भाई भाई के झगड़े के कारण न जाने कितने परिवार नष्ट हो चुके हैं और हा रह हैं। इसी झगडे की शान्त के लिए हमारे ऋषियो न शास्त्रा म एस नियम लिखे थे जिसको मानकर लोग सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकें। समझदार लोग शास्त्रा की बाता को मानकर सुख स अपना जीवन बिताते है तथा देश की उन्नति म कुछ योग द सकत हैं। किन्तु दूसरी ओर कम समझदार लोग शास्त्रो की बाता को न मानकर बडे भाई से झगडा करके स्वय अपना जीवन तो दुखी बनात ही हैं, साथ म देश की भी अवनति ही करते है। शास्त्रकारो ने बड़ भाइ को पिता के समान मानने के लिए इसालिए लिखा है जिसस भाई भाइयो म प्रेम बना रहे और अपनी तथा अपने देश की उन्नति कर सक। पुत्र और स्त्री को गहस्थ के लिए अपना ही शरीर समझना चाहिए। इसका भी यही अथ है कि पिता को पुत्र से प्रेम करना चाहिए क्योकि वह उनके कुल का उद्धार करने वाला है। प्रेम से ही पुत्र विद्वान् और योग्य पुरुष बन सकेगा, ताडने से नही। जो लोग अपने पुत्र को प्रेम नही करते उनका जीवन तो निष्फल हो ही जाता है साथ म कुल का भी नाम ऊँचा होना असम्भव हो जाता है। पिता से प्रेम न मिलने पर पुत्र घर छोडकर परदेश चला जाता है और वहाँ बिना छाया के दुखी रहकर जीवन को ऊँचा बनाने म असफल रह जाता है। स्त्री का भी पुरुष का

३६—भ्राता ज्येष्ठ सम पित्रा भार्या पुत्र स्वका तनु।
छाया स्वा दासवगश्च दुहिता कृपण परम्॥
तस्मादेत रधिक्षिप्त सहेन्नित्यमसज्वर।
गृहधमपरो विद्वान् धमशीलो जितक्लम॥

शान्तिपव –अध्याय २४३, श्लो० २० २१

अपना ही नरीर समझना चाहिए। इसका अभिप्राय भी यही है कि स्त्री पुरुष की अर्द्धांगनी माना जाती है। बिना स्त्री के गहस्थी अधूरी है। स्त्री के बिना घर सूना है। पुरुष को हर काम मे सहायता देने वाला स्त्री के समान दूसरा कोई नही है। स्त्री ही ससार म एक एसा है जो पुरुष क दुख मे, गरीबी म हर प्रकार के सकट मे उसका साथ देती है। इसलिए स्त्रिया का आदर करना उनसे प्रेम रखना पुरुष क लिए बहुत ही आवश्यक हैं। बिना प्रेम क गहस्थी म सुख नहा मिल सकता। इसीलिए सुखी जीवन बिताने के लिए पुरुषा को अपनी गहस्थी म स्त्री और पुत्रा से प्रेम रखना चाहिए। सेवको को छाया बताने का अभिप्राय भी यही है कि सेवक भी अपन स्वामी का काय भली प्रकार तब ही कर सकेंगे जबकि स्वामी का भाव तथा प्रेम उनकी तरफ स अच्छा होगा। स्वामी का यश फलाने वाल सेवक ही होते हैं इसलिए सेवको को अपनी छाया समझकर सदव उनका हित करना चाहिए जिसस वे लोग मन प्रसन्न रह। पुत्री का दयनीय इसलिए बताया है कि उनका जीवन तो सन्य दूसरो के ही ऊपर आनता है। जो जिस प्रकार उन्ह रखता है वे उसी प्रकार रहती हैं चाहे दुखी रहें या सुखी। इसका कारण है कि स्त्रिया को स्वतन्त्रता नही है वे कभी अकेली रह ही नहा सकती हैं। बचपन म माता पिता उनकी देख भाल करते हैं तथा युवावस्था आन पर माता पिता ही अच्छा वर देख कर पुत्री का विवाह कर देते हैं। पुत्री तो घर म बन्द रहने के कारण अधिक कुछ समझता नहो। माता पिता जसा भा घर-वर ढूढकर उसका विवाह कर देते है, वह उसा के साथ प्रसन्न रह कर अपना गहस्थ जीवन सुखी बनाती है। पुत्री स्वतन्त्र न होन क कारण दयनीय मानी जाती है। पुत्र के साथ यदि अच्छा व्यवहार नही होता तो वह घर छोडकर चला जाता है किन्तु पुत्री क साथ कसा भी बुरा व्यवहार क्या न हो वह घर छोडकर नही जा सकती है। इसलिए सबको लडकिया के साथ अच्छा व्यवहार तथा प्रेम करना चाहिए।

८—शुभकर्मों से गृहस्थ को सद्गति मिलती है—

शास्त्रो म बताए हुए नियमो पर चलने वाल गहस्थ को स्वगलोक तथा सद्गति प्राप्त होता है। स्वग की प्राप्ति का कारण ब्रह्माजा न गृहस्था श्रम का ही बताया है। गहस्थाश्रम म रहन वाला गहस्थ यदि व्रतपरायण, धर्माचार, गुरुसेवक तथा अतिथि का निरादर न लौटने वाला होता है ता

उसको उत्तम लोक तथा उत्तम गति प्राप्ति होती है। गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ यदि प्रसन्नता पूर्वक चार प्रकार की वृत्तियों से जो ऊपर बताई जा चुकी हैं अपना जीवन व्यतीत करता है तो व्यासजी ने भीष्म से इस प्रकार उसको क्या गति मिलती है कहा कि "उसे चक्रधारी श्रीविष्णु के लोक के सदृश उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है अथवा वह जितेंद्रिय पुरुष को मिलने वाली श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है।"[४०] गृहस्थ के उत्तम कर्मों से जो गति प्राप्त होती है उसका वर्णन करते हुए व्यास जी ने भीष्मजी से इस प्रकार कहा कि 'उदार चित्तवाले गृहस्थों का हितकारक स्वर्गलोक प्राप्त होता है ऐसा वेदों में वर्णन है। ब्रह्माजी ने गार्हस्थ्य-आश्रम को स्वर्ग की प्राप्ति का कारण बताया है। इसलिए इसके पालन का विधान किया गया है। मन और इंद्रियों को संयम में रखने वाले गृहस्थों के लिए स्वर्ग लोक के ही प्रतिष्ठा का स्थान नियत किया है।"[४१] गृहस्थाश्रम से ही धर्म का पालन पूर्ण होता है। ब्रह्मचारी वानप्रस्थी, संन्यासी सब का धर्म गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर रहता है। सब प्रकार के धर्मों का पालन गृहस्थाश्रम में रहकर ही पूर्ण हो पाता है। अतिथि सत्कार, यज्ञ दान, भिक्षा तथा अन्य धार्मिक कृत्य सब गृहस्थाश्रम से ही पूर्ण होते हैं। इसीलिए गृहस्थाश्रम स्वर्ग तक पहुँचाने वाला कल्याण का मार्ग कहा जाता है। इसीलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को ही उसकी विशेषताओं के कारण श्रेष्ठ कहा गया है।

४०—स चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद् गतिम्।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते॥

४१—स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः॥
स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम्।
ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४३, श्लो० २६ २७ २८

अध्याय—१६

महाभारत में स्त्री-धर्म

१—स्त्री का महत्त्व—

भारतीय संस्कृति में स्त्री का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। माता, पत्नी, पुत्री आदि रूप में स्त्री को भारतीय संस्कृति की परम्परा में बहुत आदर मिला है। भारतीय साहित्य में भी स्त्री के चरित्र का गौरवपूर्ण चित्रण किया गया है। महाभारत भारतीय साहित्य का एक महिमामय ग्रन्थ है। महाभारत में भी स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। महाभारत की कथा में गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी आदि स्त्री पात्र अपना विशेष स्थान रखते हैं। महाभारत में अनेक स्थलों पर स्त्री के महत्व और उसके धर्म का वर्णन किया गया है।

शान्ति पर्व में युधिष्ठिर को नीति का उपदेश देते हुए पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि संसार में स्त्री के समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्री के समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्री के समान धर्म संग्रह में सहायक और दूसरा कोई नहीं है।[1] पुरुष की जीवन साधना में पत्नी उसकी सबसे बड़ी सहायक है। चतुर्वर्ग में मोक्ष की साधना तो कदाचित् मनुष्य का एकान्त धर्म है। स्त्री का सम्बन्ध और बन्धन मोक्ष में बाधक भी हो सकता है किन्तु शेष तीनों पुरुषार्थों की साधना में स्त्री का सहयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पितामह

१—नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे॥
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक १६

वे शब्दा म "धम, अथ और काम की साधना के समय पत्नी पुरुष की सहायक होती है।'[२] वदिक अनुशासन के अनुसार गृहस्थ पुरुषो के धार्मिक कृत्य स्त्री को साथ लेकर ही होते हैं। वदिक काल म स्त्रियाँ पुरुषो के साथ बठकर यज्ञ करती थीं। सीता के द्वितीय निर्वासन के बाद राज्याभिषेक के समय रामचन्द्र को सीता की सोने की प्रतिमा बनवानी पडी थी। भारतीय धम कृत्यो म उपकरण और उपचार बहुत होते हैं उनकी व्यवस्था म भी स्त्री का अपूर्व सहयोग रहता है। अथ की साधना म भी स्त्री की प्रेरणा, उसका परामश और उसका सहयोग पुरुष का सहायक होता है। काम की साधना म स्त्री का सहयोग सृष्टि की अद्भुत विभूति है। पत्नी के सहयोग से धम सम्मत काम भगवत् गीता के अनुसार मनुष्य का दिव्य धम बन जाता है।[३]

धमशास्त्रों की परम्परा के अनुरूप महाभारत म भी स्त्री को रक्षणीया माना गया है। शारीरिक और सामाजिक दोनो ही दृष्टियो से स्त्री की स्थिति एसी है कि अनेक रूपो म स्त्री के साथ पुरुष के अतिचार की आशका हो सकती है। जनतन्त्र और स्वतन्त्रता के विकास के आधुनिक युग मे भी प्रति दिन ऐसे अतिचारों के समाचार मिलते हैं। इसीलिए भारतीय धमशास्त्र के आचार्यों ने स्त्री की रक्षा का भार पुरुष को सौंपा है। पुरुषो के द्वारा रक्षित होने पर ही इस पुरुष-तन्त्र समाज म नारी का शील और जीवन सुरक्षित रह सकता है। इस सुरक्षा के ही प्रसग म धमशास्त्रकारो ने स्त्री को स्वतन्त्रता के योग्य नहीं माना है। स्वतन्त्रता के अन्य रूपो से स्त्री को वचित नहीं किया

२—धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुस सहायिनी।
विदेशगमने चास्य सव विश्वासकारिका॥
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक १३

३—बल बलवता चाह कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतषभ॥
श्री भगवद्गीता-अध्याय ७, श्लोक ११

गया है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में नारी को अनेक अधिकार प्राप्त है। धर्मशास्त्रकारों का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुरुष के अतिचारों से अपने शील और जीवन की रक्षा स्त्री स्वयं नहीं कर सकती। अतः उसकी रक्षा पुरुषों का उत्तरदायित्व है। धर्मशास्त्रों में स्त्री की रक्षा का यह भार आयु और सम्बन्ध के अनुसार क्रमशः पिता, पति, और पुत्र को सौंपा गया है। इस प्रसंग में महाभारतकार ने शास्त्र[४] मनु[५] और याज्ञवल्क्य[६] के वचनों का स्मरण दिलाया है।

रक्षणीया होने के साथ साथ स्त्री अवध्य भी है। स्त्री की अवध्यता भी उसकी रक्षणीयता का ही एक अंग है। महाभारत में अनेक प्रसंगों में स्त्री को अवध्य माना गया है। एक तपस्वी ब्राह्मण के शाप से पीड़ित वर्गा आदि अप्सराओं ने ब्राह्मण से क्षमा की याचना करते हुए यह प्रमाण उपस्थित किया था कि धर्मात्मा पुरुष स्त्रियों को अवध्य मानते हैं।[७] इसी प्रकार

४—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
विराटपर्व—अध्याय १६, श्लोक ४२ ४३ के बीच का

५—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लोक ३

६—रक्षेत्कन्या पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्द्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां स्वातन्त्र्यं न क्वचित्स्त्रियाः॥
याज्ञवल्क्य स्मृति—अध्याय १ श्लोक ८५

७—अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिणः।
तस्माद् धर्मेण वध त्वं नास्मान् हिंसितुमर्हसि॥
आदिपर्व—अध्याय २१६, श्लोक ४

जब कस ने देवकी के पुत्र के हाथो अपनी मृत्यु की आकाशवाणी सुनी और देवकी के वध का प्रयत्न करना चाहा तब वसुदेव ने कस से कहा कि पृथ्वीपते ! प्राय सभी धर्मों म नारी को अवध्य कहा है।[८] हिडिम्बासुर को मारकर जब भीमसेन न उसकी बहिन हिडिम्बा को मारना चाहा तब युधिष्ठिर ने भी भीमसेन को समझाया कि 'क्रोध म स्त्री का वध नहीं करना चाहिए। शरीर की रक्षा की अपेक्षा धम की रक्षा श्रेष्ठ है।[९] बकासुर की कथा के प्रसग मे जब असुर के भोजन के लिए एक ब्राह्मण की बारी आई तो पति की रक्षा के लिए उसकी स्त्री ने स्वय असुर के पास जाने का प्रस्ताव रक्खा। उस समय ब्राह्मणी ने ब्राह्मण से कहा कि धर्मज्ञ विद्वानो ने धर्म निर्णय के प्रसग म नारी को अवध्य बताया है। राक्षसो को भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं। (राक्षस ने धर्म का विचार किया तो मेरे बच जाने की आशा है)'[१०] राक्षस मे भी स्त्री की अवध्यता का आदर करने की आशा यह प्रमाणित करती है कि कितनी गम्भीरता के साथ भारतीय परम्परा म इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

८—अहिंस्या प्रमदामाहु सर्वधर्मेषु पार्थिव ।
अकस्मादबला नारीं हतासीमामनागसीम् ॥
सभापर्व—अध्याय २२, श्लोक ३६ से आगे

९—क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः ।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्म गोपाय पाण्डव ॥
आदिपर्व-अध्याय १५४, श्लोक २

१० अवध्या स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥
आदिपर्व-अध्याय १५७, श्लोक ३१

भारतीय सस्कृति म स्त्रिया क लिए पातिव्रत धम का भी बडा महत्व है। प्राचीन काल म लडके लडकिया क विवाह सम्बन्ध उनके कुल का ध्यान कर किय जाते थे, क्योकि कुल का प्रभाव बच्चो क पालन पोषण म प्रधान रूप स रहता है। यदि कन्या की माँ शीलवती गुणवती तथा धम परायणा होगी तो उसकी पुत्री भी वस ही गुणो से सम्पन्न अवश्य होगी। इसीलिए विवाह सम्बन्ध कुलीन परिवार म होते थ। महाभारत म स्त्रियो क धम पातिव्रत धम तथा स्त्रियो क कतव्यो क विषय म अनक स्थलो पर वणन मिलत है। महाभारत म बकासुर वृत्त के प्रसग म जब एक ब्राह्मण की बारी उस बकासुर के भोजन क लिए आती है तब वह बडा दु खी होता है और उसकी स्त्री स्वय अपने पति क स्थान पर भक्षण के लिए जान को उद्यत होती है तब ब्राह्मण अपनी स्त्री क गुणो को देखकर कहता है कि कुलीन सन्तानवती सती साध्वी नित्य पति क अनुकूल चलने वाली धमपत्नी हो य स्त्री का धम है।[11] स्त्री के पातिव्रत धम क विषय म महाभारत म कण्व ऋषि न पुत्री शकुन्तला की विदा के समय स्त्रियो के कतव्य तथा पतिव्रता क लक्षणो का भी बताया है। कण्वऋषि ने कहा है कि 'भार्या वही है जो घर के कामकाज म कुशल हो सन्तानवती हो पति को प्राणो क समान प्रिय मानती हो तथा जो पतिव्रता हो।[12] भारतीय सस्कृति म स्त्रियो के लिए पति की सेवा से बढकर कोई काय श्रेष्ठ नही है। स्त्री के लिए पतिसेवा ही सब धम, यज्ञ तीर्थों तथा दानो का फल प्राप्त करा देती है। बकासुरवृत्त म ब्राह्मणी ने अपने पति स कहा है कि 'जो स्त्री सदा अपन पति के प्रिय और हित कार्यों म लगी रहती है यह उसके लिए बडे बडे यज्ञो तपस्याओ नियमो

११-कुलीना शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि।
त्वामह जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम्॥
आदिपर्व—अध्याय १५६, श्लोक ३

१२—सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
आदिपर्व—अध्याय ७४, श्लोक ४०

और नाना प्रकार के दाना से भी बढ़कर है। [13] महाभारत म कण्व ऋषि न अपनी पुत्री शकुन्तला का स्त्रिया के धम के विषय म बताया है कि 'सती स्त्रियो को मन, वाणी शरीर और चेष्टाओ द्वारा निरन्तर पति की सेवा करनी चाहिए तथा पतिव्रताचित आचार-व्यवहार से ही विशिष्ट शोभा प्राप्त करनी चाहिए।' [14] पतिव्रता स्त्री के कर्तव्या का वणन करत समय महाभारत म भीष्म पितामह न भी युधिष्ठिर स कहा है कि 'पतिव्रता स्त्री वहा है जा उत्तमव्रत का पालन करती है, बिना पति को भोजन कराये भोजन नही करती पति को नहलाये बिना स्नान नही करती, पति के सो जान पर शयन करती है यही पतिव्रता के धम हैं।' [15] एक बार पावतीजी न शिव से अध्यात्म ज्ञान जानन की अपनी इच्छा प्रकट का तब शिवजी ने उन्ह सम्पूण अध्यात्म ज्ञान बता दिया। फिर शिवजी न पावती से कहा कि अब मैं तुम स स्त्री धम विषयक बातें जानना चाहता हू क्योंकि विशेषत स्त्रियाँ ही स्त्रिया की परम गति हैं। ब्रह्माजी की पत्नी सावित्री साध्वी हैं इन्द्र-पत्नी शची भी सती हैं विष्णु की प्यारी पत्नी लक्ष्मी पतिव्रता हैं आदि इन समस्त पतिव्रता दवियो का तुमन सदा सग किया है इसलिए तुम्हार मुख स वर्णित नारी धम सुनना चाहता हू। तब पावतीजी न पतिव्रता नारी के लक्षण इस प्रकार बताये कि 'जो हृदय के अनुराग के कारण स्वामी के आधीन रहती है चित्त को प्रसन्न रखती है देवता क समान पति की सेवा और परिचया करती है, पति

१३—यज्ञस्तपोभिर्नियमर्दानैश्च विविधस्तथा।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तु नित्य प्रियहिते स्थिति ॥
आदिपव—अध्याय १५७, श्लोक २४

१४—पतिशुश्रूषण पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टित ।
अनुज्ञाता मया पूव पूजयतद् व्रत तव ॥
आदिपव—अध्याय ७४, श्लोक ९ १० के मध्य का

१५—न भुड्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि ॥८॥
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक ८

के लिए सुदर वेष धारण करती है, प्रसन्नवदन रहती है तथा जो स्वामी क कठोर वचन कहने या दोषपूर्ण दृष्टि दखन पर भी प्रसन्नता स मुस्कराती रहती है वही स्त्री पतिव्रता है।[१६] उमा ने फिर पतिव्रता क लक्षण इस प्रकार कहे कि पति पत्नी को एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिए, जो स्त्री मगलमय दाम्पत्य धम को सुनकर धमपरायण हा जाती है वही पतिव्रता है।[१७] स्त्रियो के लिए पति का महत्त्व बताते हुए सत्यभामा ने द्रौपदी स कहा है कि पति के साथ रहना स्त्री का सनातन धम है पति ही उनका देवता है पति ही उनकी गति है तथा पति के सिवा स्त्री का दूसरा कोई सहारा नही है।[१८] भारतीय सस्कृति म पति की सेवा के साथ अपन सास ससुर की सवा तथा बडो का आदर करन की भावना रखना भी सती साध्वी स्त्रियो का कत्त य है। वन जाते समय रामचन्द्र जी ने भी सीताजी से अनुरोध किया था कि तुम घर पर रहो और अपन सास ससुर की सेवा करना इससे बढ कर दूसरा धम नही है। महाभारत म सास ससुर की सेवा के सम्बध म भीष्म जी न

१६–शुश्रूषा परिचार च देवतुल्य प्रकुवती।
कन्या भावेन सुमना सुव्रता सुखदशना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भतु सा धमचारिणी॥
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भतु र्या नारी सा पतिव्रता॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४६ श्लोक ४१, ४२

१७–श्रुत्वा दम्पतिधम व सहधम कृत शुभम्।
या भवेद् धमपरमा नारी भतसमव्रता॥
अनुशासनपव—अध्याय १४६, श्लोक ३६

१८–पत्याश्रयो हि मे धर्मो मत स्त्रीणां सनातन।
स देव सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत्॥
वनपव—अध्याय २३३, श्लोक २७

युधिष्ठिर जी से कहा है कि "सदा सास ससुर की आना म रहने वाली देवता पितर तथा ब्राह्मणा की पूजा म सदा सावधान होकर सलग्न रहन वाली स्त्री ही पतिव्रता है।"[१९] प्राचीन काल म पतिव्रता स्त्रिया अपन पति की प्रसन्नता के लिए धम के प्रतिकूल कार्यो को करने के लिए भी उद्यत रहती थी, क्याकि वह पति को दवता तुल्य मानती थी और उनक कहे हुए वचना का वह उल्लघन नही कर सकती थी। एक बार पाण्डु न कुन्ती से इसी प्रकार के धम के प्रतिकूल वचन कहे और कुन्ती न उन वचनो का पालन स्त्री धम समझकर किया। पाण्डु ने कहा कि 'प्राचीन धम यही है कि पति अपनी पत्नी से जो बात कहे, वह धम क अनुकूल हो या प्रतिकूल, उस अवश्य पूरा करना चाहिए।'[२०] एक बार सत्यभामा ने द्रौपदी से कहा कि आपन ऐसी कौनसी जडी बूटी इन पाडवा को खिला रक्खी है जिससे य सबके सब आपको बहुत प्रेम करत है। मैं भी उस औषधि से अपने श्यामसुन्दर को सदा अपने अधीन करना चाहती हू। तब द्रौपदी ने कहा कि ऐसी कोई जडी-बूटी या औषधि नही है जिसस कि पुरुषा को अपने अधीन किया जा सक। पुरुषा को अपन वश म करने का एक मात्र साधन सच्चा प्रेम, त्याग तथा सेवा है। मैंने सब पाण्डवा की सदा सेवा तथा उनके साथ जीवन भर त्याग किया है, उसी से प्रभावित होकर य लाग मुझम इतना प्रेम करते है तथा मुझको ऐसा लगता है कि सब मरे वश म हैं। पुरुषा को प्रसन्न करन के लिए स्त्रियो को चाहिए कि वे उनक माता पिता आदि बड लोगा का सदा आदर सम्मान करें तथा उनका प्रेम से सेवा कर और उनकी आना का पालन कर, जिससे घर मे सुख शान्ति की वृद्धि हो और सब लोग आपस मे प्रेम भाव मे रहे। अपने बडो की प्रसन्नता से पुरुष बडे प्रसन्न रहत

१९—दवताना पितृणा च ब्राह्मणाना च पूजने।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रू श्वशुरवर्तिनी॥
अनुशासन पव—अध्याय १२३, श्लोक १०

२०—धममेव जना सन्त पुराण परिचक्षते।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्य वाधर्म्यमेव च॥
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति वेद विदा विदु।
आदिपव—अध्याय १२१, श्लोक ४½

और वह अपनी स्त्री की गन्य प्रशंसा करेंगे तथा उ / पर स्वर्ग मान न्त और उनके मन के शांत हुए गारे काम पूर्ण होंगे। इस प्रकार सत्यभामा के पूछने पर द्रौपदी ने उन स्त्रियों के कर्तव्य के बारे में इस प्रकार बताया कि पतिव्रता स्त्रियाँ पति के नाथ के बाद भोजन करती हैं भोजन आदि सारे काम पति के बाद करती हैं पति की इच्छा के विरुद्ध आभूषण नहीं पहनती, कभी किसी की निन्दा नहीं करतीं। यही उत्तम बताया है।[21] पतिव्रता स्त्रियों का भारतीय शास्त्रों में नाना गुण एवं सबसे श्रेष्ठ गुण है। शील एक प्रकार से नारी का आभूषण है। शीलवती स्त्रियाँ ही अपना तथा अपने परिवार का कल्याण करने वाली मानी जाती हैं। जिस परिवार में शीलवती स्त्रियाँ होती हैं सुख शांति उसी परिवार में निवास करती है। प्राचीन काल में विवाह सम्बन्ध के समय कन्याओं का शील गुण ही प्रायः देखा—पूछा जाता था। प्राचीन काल में विवाह में दहेज प्रथा नहीं थी और न शिक्षा की डिग्रियाँ थीं इसलिए कन्याओं का कुल और उनका शीलगुण ही अधिकतर देखा जाता था। शीलगुण के विषय में धृतराष्ट्र ने महाभारत में दुर्योधन से कहा है कि मन वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना दया करना यथाशक्ति दान देना आदि गुण शील कहलाते हैं जिसकी लोग प्रशंसा करते हैं।[22]

भारतीय धर्मशास्त्रों में स्त्री को पति के घर ही रहने का आदेश दिया है। क्योंकि पति के घर में ही अधिक रहने से स्त्री का मान मर्यादा बढ़ता है तथा गृहस्थी के सम्पूर्ण प्रबन्ध भी सुचारु रूप से स्त्री के ही रहने से चलते हैं। इसलिए स्त्रियों को अपने माता पिता के घर अधिक दिन के लिए नहीं जाना चाहिए। स्त्रियों को अपने माता पिता के यहाँ कुछ दिन के लिए किसी विशेष

२१-अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये।
नापि श्वश्रू परिवदे सर्वदा परियंत्रिता ॥
वनपर्व—अध्याय २३४, श्लोक ३८

२२–अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥
शान्तिपर्व—अध्याय १२४, श्लोक ६६

काय म सम्मिलित होने के लिए ही जाना चाहिए, इसी म स्त्रियो का कल्याण है तथा उनकी कीर्ति है। महाभारत मे स्त्रिया को पति गृह म ही अधिक रहने के विषय म कण्वऋषि न अपनी पुत्री शकुन्तला से कहा है कि 'स्त्रिया को भाई बन्धुअ, के घर अधिक रहन स उनकी कीर्ति, शील तथा पतिव्रत धम का नाश होता है।[२३] पतिव्रता स्त्रिया के लिए शास्त्रा म ऐसा भी वणन है कि यदि किसी प्रकार से किसी स्त्री का पति उससे अप्रसन्न हो जाय और उस अपने पास न रखना चाहे तब भी स्त्रिया को सब प्रकार से पति को प्रसन्न रखना चाहिए और पति के पास ही रहना चाहिए। शकुन्तला को जब राजा दुष्यन्त भूल गय थे और शकुन्तला क कहने पर भी जब वह उस नही पहचान सके और शकुन्तला लौटकर जब फिर कण्वऋषि क पास आकर आश्रम म रहने लगी थी। तब एक दिन कण्वऋषि न फिर से शकुन्तला से अपने पति के घर जाने को कहा था और तभी उन्हाने शकुन्तला स कहा था कि "पतिव्रताआ पर सम्पूण वरो को देन वाले दवता लोग भी सन्तुष्ट रहत हैं। पतिव्रत दविया पति क प्रसाद से ही पुण्यगति को प्राप्त होती है।[२४] भारतीय स्त्रिया के लिए धमशास्त्रो मे पति की सवा से बन्कर अन्य कोई पुण्य नही बताया है। पति की सेवा स ही भारतीय स्त्रिया को सम्पूण व्रता तपस्याआ तथा यज्ञा का फल प्राप्त हो जाता है ऐसा भारतीय धमशास्त्रो का कथन है। पतिव्रताआ के लक्षण पूछे जाने पर उमा ने शिवजी को बताया था कि 'जो साध्वी नारी पतिव्रत धम का पालन करती हुई पति की सेवा म

२३—नारीणा चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधमघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥
आदिपव—अध्याय ७४, श्लोक १२

२४—पतिव्रताना देवा व तुष्टा सववरप्रदा ।
प्रसाद च करिष्यन्ति ह्यापवर्गे च भामिनि ॥
पतिप्रसादात् पुण्यगति प्राप्नुवन्ति न चाशुभम् ।
तस्माद् गत्वा तु राजानमाराधय शुचिस्मिते ॥
आदिपव—अध्याय ७४, श्लोक ६ १० के मध्य का

लगा रहती है, उसका यह काय महान पुण्य यही भारी तपस्या और सनातन स्वग का साधन है।' २५ महाभारत म सुमना और शाण्डिली सवाद म स्त्रियो के सदाचार के विषय म अनक बातें आई हैं। सुमना पतिव्रत धम का पालन करती हुई स्वग लोक म पहुँच गई थी जो समय यह शाण्डिली भी अपने धम के प्रताप से स्वग म पहुँची तो सुमना ने उसस कहा कि तुमने जो धम काय किय हैं जिनसे तुम्हें स्वग प्राप्त हुआ है, वह बताओ। यही सवाद भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि सदाचार म जीवन बिताने वाली स्त्रियाँ स्वामी के परदेश या बाहर जाने पर आँखों म अंजन ललाट पर गोरोचन तिलक, फूलों की माला अंगों म अंगराग तथा शृंगार नहीं करती हैं। २६ भारतीय स्त्रियों का शृंगार भी पति के लिए ही होता है। जब उनके पति घर पर रहते हैं तभी वह सब शृंगार करती हैं। कालिदास के नाटकों म स्त्रियों के सौंदय की सार्थकता भी पति के प्रेम म ही है (प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता कुमार सम्भव) भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'साध्वी स्त्रियों को पति के प्रति सदैव प्रियवचन बोलने चाहिए अहितकर कठोर वचन नहीं बोलने चाहिए। २७

२५-पुण्यमेतत् तपश्चैतत् स्वगश्चैष सनातन ।
या नारी भर्तृ परमा भवेद् भर्तृ व्रता सती ॥
अनुशासनपव—अध्याय १४६, श्लोक ५४

२६— अंजनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ॥
अनुशासनपव—अध्याय १२३, श्लोक १७

२७-अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥
अनुशासन पव—अध्याय १२३, श्लोक ८

पति ही स्त्रिया के लिए देवता है ऐसा कहती हुई बकासुर सवाद मे एक ब्राह्मणी ब्राह्मण स बोली कि 'प्रियवर ! मुझे तो पति की सेवा से जो धम प्राप्त होता है वही प्रिय है। सम्पूण देवताआ म ही पति मेरे सबसे बडे दवता हैं।'[२८] भारतीय स्त्रियो की भावना सदव ही पति को देवता मानने की रही है। पति को दवता मानकर ही भारतीय स्त्रिया उनकी इतनी प्रेम भाव स सेवा करती रही हैं। कुन्ती ने सूयदेव स कहा कि 'मैं अपने धम का लोप नही करूँगी। स्त्रिया के सदाचार म अपने शरीर की पवित्रता बनाये रखना ही प्रधान है।[२९] सदाचार से रहने वाली भारतीय स्त्रिया अपने शरीर को मन से, वचन से तथा कम से सभी प्रकार से पवित्र रखती है। ऐसे पवित्रऔर ऊँचे विचार रखने वाली स्त्रिया ही सच्ची पतिव्रता होती है उनका मन कभी स्वप्न म भी दूसर पुरुप को नही दखता। भीष्म ने सदाचार स रहन वाली स्त्रिया के स्थान के बारे म युधिष्ठिर से कहा कि जो स्त्री सदा सावधान रहकर धममाग पर चलती है, वह नारियो मे अरुधती के समान आदरणीय होता है, और स्वगलोक मे भी विशेष प्रतिष्ठा पाती है।'[३०]

२८—पतिशुश्रूपया धर्मो य स मे रोचते द्विज।
दवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दवत परम्॥
वनपव—अध्याय २०६, श्लोक ३०

२९—पिता माता गुरवश्चव येऽ ये
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने।
नाह धम लोपयिष्यामि लोके
स्त्रीणा वृत्त पूज्यते देहरक्षा॥
वनपव—अध्याय ३०६, श्लोक २३

३०—इम धर्मपथ नारी पालयन्ती समाहिता।
अरुन्धतीव नारीणा स्वर्गलोके महीयते॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १२३, श्लोक २०

भारतीय धमशास्त्रो म पतिव्रता स्त्रियो के लिए कवल एक पति क वरण करन का ही नियम है। यदि उसके पति की मृत्यु हो भी जाय तब भी उस दूसरा पति नही दखना चाहिए और नियम पूवक रहकर अपन बच्चा का पालन पोषण करना चाहिए। पुरुष के लिए धमशास्त्रो म अनेक विवाह करन क अधिकार थे कि यदि किसी पुरुष की स्त्री की मृत्यु हो जाय तो वह फिर दूसरा विवाह करके अपन गृहस्थ का सुख प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्रियाँ दूसरा विवाह नही कर सकती थी। ऐसे ही विचारो से प्रभावित होकर ब्राह्मणी न ब्राह्मण स कहा कि स्त्रियो को अपन पूव पति का उल्लघन करन पर बडा भारी पाप लगता है। ३१ प्राचीन काल म स्त्रियाँ अपन पति की मृत्यु हो जान पर उसक सग सती हो जाती थी किन्तु कभी कभी बच्चे छोट होन के कारण उन्ह सती नही होने दिया जाता था। तब वह पति के पीछे अपन शरीर को सुखाती हुई समस्त स्वादिष्ट भोजनो का त्याग करक नियम से रहती थी। पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् तपस्वी ऋषियो न कुन्ती और माद्री से कहा कि जो स्त्रिया साध्वी होती है वह अपने पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचय के पालन म अविचल रूप से लगी रहती हैं। यम और नियम पालन का क्लश सहन करती हैं। ३२ प्राचीन काल म पति के साथ स्त्री अपने पति क साथ सती होकर अपने को धन्य समझती थी। इसी विचार से प्रत्येक सा हो जान को बडा भारी पुण्य समझा जाता था। इसी विचार से प्रत्येक सा कुमारा ने पाण्डु की मृत्यु के समय कुन्ती और माद्री स कहा कि इस

३१–न चाप्यधम कल्याण बहुपत्नीकृता नृणाम्।
स्त्रीणामधम सुमहान् भर्तु पूवस्य लङ्घने॥

आदिपव—अध्याय १५७ श्लोक ३६

३२–मृते भतरि या साध्वी ब्रह्मचयव्रत स्थिता।
यमश्च नियम ध्याता मनोवाक्कायज शुभ॥

आदि पव–अध्याय १२४, श्लोक २८ २८ के मध्य का

तनिक भी सन्देह नहा है कि पति के साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नी के लिए महान फलदायक है। [33]

सम्पूर्ण धमशास्त्रा की रचना पुरुषा ने की है इसलिए उनमें स्त्रिया के लिए तो बहुत कतव्य लिखे हैं, किन्तु पुरुषा के लिए पालनीय कतव्या का इतना महत्व और विस्तार नहीं है। इसलिए पुरुष स्त्रिया के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं समझते। उन्हें जो अच्छा लगता है वही काय स्वतन्त्रता से करते हैं क्योंकि स्त्रिया की भाति उनको अनुचित कार्यों से रोकने वाले नियम पुरुषा द्वारा रचित धमशास्त्रा म नहीं है। स्त्रिया का पालन-पोषण बचपन से ही ऐसे नियमा म होता है कि वह आरम्भ से ही शील और लज्जा धारण करती हैं। बचपन के पवित्र संस्कार ही स्त्रिया को आगे चलकर जीवन म ऊँचा स्थान प्राप्त कराते हैं। पवित्र संस्कारा के प्रभाव से ही स्त्रिया स्वय तो शीलवती परिवार का कल्याण करने वाली होती ही हैं वह अपनी कन्याओं म भी वही संस्कार उत्पन्न करके अनेक परिवारा का कल्याण करने वाली बनाती हैं।

सती द्रौपदी से जब कीचक ने कुछ अनुचित व्यवहार किया था तब द्रौपदी ने कहा कि 'अपनी स्त्री म अनुराग रखने वाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याण का भागी होता है।' [34] द्रौपदी के इस वचन म पुरुष के उस शील और सदाचार का संकेत है जो धमशास्त्रो के अभीष्ट स्त्रिया के पातिव्रत का पूरक है। धार्मिक न्याय के अनुसार यदि पातिव्रत स्त्री का सर्वोत्तम धम है तो पुरुषा के लिए भी एक पत्नीव्रत होना आवश्यक है। पुरुष के इस धम

३३—भर्त्रा तु मरणं साध फलवन्नात्र संशय ।
युवाभ्या दुष्कर चैतद् वदन्ति द्विजपुङ्गवा ॥
आदिपव–अध्याय १२४ श्लोक २८ २९ के मध्य का

३४—स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम्।
स्वदारनिरतो ह्याशु नरो भद्राणि पश्यति ॥
विराटपव–अध्याय १४, श्लोक ३४ ३५ के मध्य मे से

की ओर धर्मशास्त्रो ने बहुत कम ध्यान दिया है। द्रौपदी का उक्तवचन स्त्रियो के धर्म विधान से परिप्लुत धर्मशास्त्रो मे अपवाद के समान है। फिर भी महाभारतकार ने इस ओर ध्यान दिया है यह सन्तोष की बात है। पुरुष के इस कर्तव्य का सकेत स्त्री के मुख से होना नितान्त उचित और स्वाभाविक है। किन्तु ऐसे कुछ निर्देश यदि महाभारत मे धर्म और नीति का उपदेश करने वाले महापुरुषो के मुख से होते तो अधिक उचित होता। उससे यह प्रमाणित होता कि वरिष्ठ पुरुष भी पुरुषो के इस कर्तव्य को पातिव्रत के समान ही महत्त्व देते हैं। मातृवत् परदारेषु के निर्देश धर्म और नीति के ग्रन्थो मे अनेक जगह मिलते है। इनका उद्देश्य भी अन्य स्त्रियो का आदर और पत्नीव्रत का पालन ही है। अन्य स्त्रियो के शील के आदर के साथ साथ अपनी स्त्री के प्रति निष्ठा और उदारता का भाव भी पुरुष का कर्तव्य है। पुरुष के इस कर्तव्य पर धर्मशास्त्रो मे कही बल नही दिया गया है। इतिहास और संस्कृति की परम्परा मे शिव और राम के चरित्र मे एक पत्नीव्रत की निष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। कीचक के दुर्व्यवहार के जिस प्रसग मे द्रौपदी ने पुरुष के इस कर्तव्य का सकेत किया है वह समाज मे प्राय होने वाली घटनाओ का एक उदाहरण है। इसी स्थिति को ध्यान मे रखकर स्त्री रक्षा का भार पुरुष पर सौंपा गया है। किन्तु स्त्रियो के शील की यह सुरक्षा तभी पूर्ण हो सकती है जब कि सामान्य रूप से पुरुष अपनी पत्नियो के प्रति निष्ठा रखे तथा पत्नीव्रत का पालन करे और अन्य स्त्रियो के शील का आदर करे।



अध्याय—१७

महाभारत मे वानप्रस्थ-आश्रम

१—वानप्रस्थ का समय—

गृहस्थाश्रम म मामाजिक और सास्कृतिक कतव्या को पूरा करके वृद्धावस्था का आगमन देखकर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए। वानप्रस्थ का अर्थ 'वन को प्रस्थान करना' है। भारतीय आचार शास्त्र नगर के निवास और गृहस्थ जीवन के प्रपचा म ही सम्पूर्ण जीवन को बिताना उचित नही समझता। उसके अनुसार जीवन का प्रत्येक कर्तव्य पूर्ण करन स कृतकृत्यता होती है। भोग और कतव्य दोना की अवधि है। प्रत्येक स्थिति से आगे एक नवीन स्थिति है। इस प्रकार पिछले कतव्यो को पूर्ण करके मनुष्य उत्तरोत्तर बढता जाता है। गहस्थ आश्रम के बाद यह विकास अध्यात्म का ओर अधिक होता है। वानप्रस्थ म मनुष्य गह और नगर को छोडकर वन म सरल और सात्विक जीवन व्यतीत करता है। सन्यास म मनुष्य स्थायी निवास के बन्धन से तथा अन्य कतव्यो स मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है।

विधिपूवक गहस्थाश्रम का पालन करके तथा वाधक्य के लक्षण देखने पर मनुष्य वन का प्रस्थान करे। त्वचा का शिथिल होना और बालो का सफेद होना वृद्धता के लक्षण है। पुत्र का पुत्र होने पर भी गहस्थआश्रम की पूर्णता और वन क प्रस्थान का समय मानते हैं। वानप्रस्थ ग्रहण का समय बताते हुए व्यास जी ने एसा कहा कि 'गृहस्थ पुरुष का जब अपने सिर के बाल सफेद दिखाई दें,शरीर मे झुरिया पड जाय और पुत्र को भी पुत्र की प्राप्ति हो जाय, तो अपनी आयु का तीसरा भाग व्यतीत करने के लिए वन म जाय और वानप्रस्थ-आश्रम म रहे। वन म रहकर वानप्रस्थाश्रम म भी उन्हीं अग्नियो की सेवा करे जिनकी गृहस्थाश्रम म उपासना करता था। प्रति दिन देवा

राधन भी करता रहे ।'१ इसी प्रकार मनुस्मृति म भी मनु न कहा है कि गृहस्थाश्रम म द्विजो को विधिपूवक गृहस्थ का पालन करके तथा बुढ़ापे का आगमन जानकर मनुष्य को वन म रहना चाहिए । पुत्र का पुत्र होने पर भी गृहस्थ आश्रम पूण हो जाता है । इसके बाद गृहस्थ को वन म निवास करना चाहिए ।२ वृद्धावस्था का आरम्भ होने तक मनुष्य को अपने भौतिक और सामाजिक कम पूरे कर लेने चाहिए । ये कम जीवन के एक अग मात्र हैं जीवन का सवस्व नही हैं । उन्ह पूण करके मनुष्य को अपनी अन्तिम वय म अध्यात्म की साधना करनी चाहिए । आत्म साधना जीवन को अमृत और अभय तथा आनन्दमय बनाती है ।

वानप्रस्थ आश्रम पुरुषो के लिए तो आवश्यक है किन्तु स्त्रियो के लिए उसम विकल्प है । यदि स्त्री चाहे तो पुरुष के साथ वन को प्रस्थान कर सकती है । किन्तु वन म वे गृहस्थ दम्पति की भाति नही रह सकते हैं । उन्ह त्याग और सयम से तपस्वियो की भाति रहना होगा । यदि स्त्री वन को न जाना चाहे तो पुरुष अपनी स्त्री का भार अपने पुत्रो को सौंप कर स्वय वन को प्रस्थान करे । स्त्री के अतिरिक्त गृहस्थ जीवन के सभी उपकरण त्याग करके वन प्रस्थान करना उचित है । केवल अग्नि होत्र के लिए गृह्य अग्नि

१—गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मन ।
अपत्यस्यव चापत्य वनमेव तदाश्रयेत् ॥
ततीयमायुषो भाग वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकस ॥
शान्तिपव–अध्याय २४४, श्लोक ४ ५

२—एव गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विज ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रिय ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मन ।
अपत्यस्यव चापत्य तदारण्य समाश्रयेत् ॥
मनुस्मृति–अध्याय ६, श्लोक १ २

तथा यज्ञ के अन्य उपकरण वह अपने साथ ले जा सकता है। अग्नि का आदान आवश्यक है। वानप्रस्थ 'साग्नि' कहलाता है। संन्यासी स्त्री अग्नि और स्थान तीनों से मुक्त हो जाता है। यह वानप्रस्थी और संन्यासी में अन्तर है। मनुस्मृति में वानप्रस्थी के नियम बताते हुए मनु ने इस प्रकार कहा है कि 'ग्राम का आहार त्याग कर पुत्र को अपनी पत्नी का भार सौंपकर या पत्नी चाहे तो साथ लेकर वन को चला जाये। अग्निहोत्र को लेकर और घर की अग्नि को लेकर ग्राम सेवन को जाय और इन्द्रियों को वश में रखे।'[3] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति में लिखा है कि 'पुत्र को अपनी पत्नी का भार सौंपकर या स्त्री चाहे तो साथ लेकर वन को जाना चाहिए। वानप्रस्थी और ब्रह्मचारी को अग्नि साथ रखनी चाहिए इसीलिए वानप्रस्थी को साग्नि कहते हैं।'[4] वानप्रस्थी के लिए सरल और सात्विक जीवन अभीष्ट है। अतः उसके लिए भिक्षा यज्ञ स्वाध्याय भोजन व्रत आदि के सम्बन्ध में शास्त्रों में नियमों का विधान है। नागरिक आहार और गृहस्थ उपकरणों का त्याग वानप्रस्थ का प्रथम कर्म है। वानप्रस्थ का जीवन बहुत कुछ ब्रह्मचारी के समान है। अतः उसके लिए भी मधु मांस आदि वर्जित है। केवल वन्य अन्न फल मूल और भिक्षा से उसे अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए। भिक्षा और भोजन केवल उसके शरीर निर्वाह के लिए हैं सुख के लिए नहीं है। वानप्रस्थी को अल्पाहारी होना चाहिए जटा धारण करनी

३—सत्यज्य ग्राम्यमाहार सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसन्नियतेन्द्रियः॥
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लोक ३ ४

४—सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्॥
याज्ञवल्क्य स्मृति-अध्याय ३, श्लोक ४५

चाहिए अध्ययन तप व्रत आदि म लगा रहना चाहिए। काग कुश, मृग चम और वृक्षा का छाल स बन वस्त्रा स अपना शरीर ढके। नियत समय पर स्नान, वलि वस्वन्न तया अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करे। धन का सग्रह न करे शुद्ध एव हितकर अन्नमात्र क इच्छुक होकर स्वाध्याय तीर्थ यात्रा, देश दशन के निमित्त सारी पृथ्वी पर घूमे। भूमि पर बैठे भूमि पर शयन करे। सदा शान्तचित्त स अपन नियमो का पालन करे।

२–वानप्रस्थी के धम—

गृहस्थाश्रम क पश्चात् तीसरा आश्रम उसम भी श्रेष्ठ परम उदार वानप्रस्थ आश्रम है। जो शरीर का सुखाकर अस्थिचमावशिष्ट कर देन वाले तथा वन म रह कर तपस्यापूवक शरीर का त्यागन वाले वानप्रस्थियो का आश्रम है। यह गृहस्थो से श्रेष्ठतम माना गया है। वानप्रस्थ क धम बतान हुए व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि वानप्रस्थी पुरुष नियम क साथ रह नियमानुकूल भोजन करे। दिन क षष्ठ भाग अर्थात् तीसरे पहर म एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमाद से बचा रहे। गृहस्थाश्रम की ही भाति अग्निहोत्र वसी ही गो सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञ के सम्पूर्ण अगो का सम्पादन करना वानप्रस्थ का धम है। [५] वानप्रस्थी के लिए भी गृहस्थ की भाति गो सेवा तथा यज्ञ आदि कम करना आवश्यक है। वानप्रस्थी का जीवन भी नियमो स मुक्त नही होता है जसा कि स यासी का होता है। वानप्रस्थ के धम बताते हुए ब्रह्मा जी न महर्षिगणो से इस प्रकार कहा कि वानप्रस्थ मुनि को सब प्रकार क सस्कारो के द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचयव्रत का पालन करते हुए घर की ममता त्याग कर गाँव स बाहर निकल कर वन म निवास करना चाहिए। [६] वानप्रस्थी को सदा वन म ही रहना चाहिए। गाँव म कभी

५—नियतो नियताहार षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान्।
तद्ग्निहोत्र ता गावो यज्ञाङ्गानि च सवश॥
शान्तिपव–अध्याय २४४ श्लोक ६

६—सस्कृत सर्वसस्कारस्तथव ब्रह्मचयवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनि प्रव्रजितो वसेत्॥
आश्वमेधिकपव अध्याय ४६, श्लोक ८

प्रवेश न करना चाहिए। प्रात और सायंकाल के समय स्नान करे। वानप्रस्थ के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि 'वानप्रस्थ को सदा वन में ही रहना, वन में ही विचरना वन में ही ठहरना, वन के ही मार्ग पर चलना और गुरु की भांति वन की शरण लेकर वन में ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। प्रतिदिन अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञों का सेवन वानप्रस्थों का धर्म है। उन्हें विभागपूर्वक वेदोक्त पंचयज्ञों का निरन्तर पालन करना चाहिए।' वानप्रस्थी को घने वन में अपना आश्रम बनाना चाहिए। वन में ही रहे, वन को ही अपना गुरु समझे और वन में जो कन्दमूल फल-फूल आदि प्राप्त हो सकें, उन्हीं से अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए। वानप्रस्थी के लिए जो पांच यज्ञ बताये हैं वे गृहस्थ के पांच यज्ञ ही हैं। (१) अध्ययन और अध्यापन 'ब्रह्मयज्ञ' है। (२) श्राद्ध तर्पण आदि 'पितृयज्ञ' है। (३) होम देवयज्ञ है। (४) जीवों को बलि देना 'भूतयज्ञ' है। (५) अतिथि सत्कार करना मनुष्य यज्ञ है। इस प्रकार वानप्रस्थों को भी पंचयज्ञ करने चाहिए। वानप्रस्थी के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि 'सदा वीरासन से बैठना और वेदी या चबूतरे पर सोना चाहिए। उन्हें सर्दी के मौसम में रात को जल में बैठना चाहिए या खड़े रहना, बरसात में खुले मैदान में सोना चाहिए और ग्रीष्मऋतु में पंचाग्नि का सेवन करना चाहिए।'[८] सर्दी में जल में बैठना एक कठोर तपस्या है तथा ग्रीष्म में चारों ओर अग्नि

७—वननित्यवनचरवनस्थवनगोचर ।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः ॥
तेषां होमक्रिया धर्मः पंचयज्ञनिषेवणम् ।
भागं च पंचयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम् ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४२ श्लोक १३ १४

८—वीरासनरतोनित्यं स्थण्डिले शयनं तथा ।
शीततोयाग्नियोगश्च चतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४२, श्लोक १०

जलाकर ठना तथा ऊार म सूय की गर्मी पन्ना भी बडी कठिन तपस्या है। इतने कठोर व्रता का पूण करन हा वानप्रस्था अपना परलोक सुधार लेना है। वानप्रस्थी को अपन शरीर स भी कोई मोह नहा रहता है इस लिए वह कठोर व्रतो और तपस्याओ स अपना शरीर को सुखाता है। वान प्रस्थी महात्मा एक स्थान पर आसन लगा कर बठत हैं तीना काल सुबह दोपहर और शाम को स्नान करत है तथा सध्या करत है। स्वय स्वल्प भोजन करन वाले होत हैं। वानप्रस्थ का आश्रय लकर कोई कन्द मूल म और कोई इस व्रत का पालन करते हुए पूजा म ही धर्मानुकूल जीविका चलाते है। वानप्रस्थ का श्रेष्ठ धम बताते हुए ययाति ने अष्टक स कहा कि वानप्रस्थ मुनि का जो धर्म पालन है वहा सरलता है वहा समाधि है और वही श्रेष्ठ आचरण है। ८ वानप्रस्थ मुनि का जीवन इतना कठोर व्रता स पूण होता है कि अन्य सब धम उसी म पूण हो जाते हैं। उसको समाधि लगाने की आवश्यकता नहा होती है। क्योकि उसका जीवन स्वय ही एक समाधि जैसा होता है। इसलिए वानप्रस्थ का कठोर तपपूण जीवन सब धर्मो से श्रेष्ठ है।

३—वानप्रस्थ के कर्तव्य—

वानप्रस्थ के पालन करन वाले मनुष्य धम का अनुसरण करत हुए पवित्र तीर्थों नदियो के किनारे झरनो के आसपास घन वनो म विचरत रहते है। गृहस्थो के उपभोग म आने वाले सुन्दर वस्त्र स्वादिष्ट भोजन और विषय भोगा का परित्याग करक व जगलो म होन वाले कन्द मूल पत्ता का आहार करते है तथा मृगचम अथवा वृक्षा की छाल स बन वस्त्र पहनते हैं। सिर के बाल दाढी मूँछ नख और रोम सदा धारण किय रहते है। नाना प्रकार क नियमो का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहने स वे बड दुबल शरीर हो जाते हैं। ऐस तपस्विया के कर्त्तव्य बतात हुए ब्रह्माजी

८—अर्थोऽप्यनीशस्य तथव राज
स्तदाजव स समाधिस्तदायम ॥
आदिपव–अध्याय ८२, श्लोक ५

न महर्षियो न इस प्रकार कहा कि ' नित्य प्रति पहल देवता और अतिथियो को भोजन द, उसके बाद मौन होकर स्वय अन्न ग्रहण करे। किसी स स्पधा न करे हल्का भोजन करे देवताओ का सहारा ल। इद्रियो का सयम कर सबके साथ मित्रता का बर्ताव करे क्षमाशील बन और दाढी मूछ तथा सिर के बालो को धारण किय रहे। समय पर अग्निहोत्र और वेदो का स्वाध्याय कर तथा सत्य धम का पालन कर।[10] वानप्रस्थी को सदव सत्य का पालन करना चाहिए तथा क्षमाशील होना चाहिए। सबके साथ मद् व्यवहार करना चाहिए अपन धर्मों का पालन नियम स करना चाहिए। धम के पालन म कोई प्रमाद नही करना चाहिए। अतिथि सत्कार भी वानप्रस्थी के लिए परमा वश्यक बताया है। अतिथि क सत्कार के विषय म ब्रह्माजी न इस प्रकार कहा कि 'अतिथि को आश्रय दे और समय पर उनका सत्कार करे। कोई अतिथि आजाय तो फल मूल की भिक्षा दकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न कर। जो कुछ भोजन अपन पास उपस्थित हो उसी म स अतिथि को भिक्षा द।[11] वानप्रस्थी के पास किसी भी समय यदि कोई अतिथि आ जाय तो आलस्य छोडकर शीघ्र ही उसकी पूजा अचना करे और

१०—देवतातिथिपूर्व च सदा प्राश्नीत वाग्यत ।
अस्पर्धितमनाश्चव लघ्वाशी देवताश्रय ॥
दान्तो मत्र क्षमायुक्त केशाश्मश्रु च धारयन् ।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधमपरायण । १

आश्वमेधिकपव अध्याय ४६, श्लोक १४ १५

११—अचयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम ।
समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम ।
यद् भक्ष्य स्यात् ततो दद्याद् भिक्षा नित्यमतन्द्रित ॥

आश्वमेधिक पव—अध्याय ४६ श्लोक १२–१३

साथ ही जो शुद्ध अन्न शाक, मूल, फल आदि हों उनको उन्हें खाने को दे। पर्वतों पर बैठे हुए सिद्ध पुरुषों द्वारा सेवित धर्मार्थयुक्त स्थान ढूँढने चाहिए, पृथक आश्रम बनाना चाहिए। वह पृथ्वी पर सोवे। ब्रह्मचर्य का व्रत और उपवास में तत्पर रहे, दूसरों पर क्षमा का भाव रखे और इन्द्रियों को वश में रखे। धर्म का चिन्तन करता रहे। वानप्रस्थी को शरीर का निर्वाह करने के लिए क्या करना चाहिए इस विषय में महेश्वर ने उमा से कहा कि 'वानप्रस्थ को जीविका के लिए नीवार (तिन्नी का चावल) और फल मूल का सेवन करना चाहिए तथा शरीर में स्निग्धता लाने या तेल से होने वाले कार्यों के निर्वाह के लिए इंगुद और रेंड के तेल का सेवन करना चाहिए। उन्हें योग का अभ्यास करके उसमें सिद्धि प्राप्त करना चाहिए। काम और क्रोध को त्याग देना चाहिए। वीरासन और पद्मासन में निवास करना चाहिए।'[12] वन में रहते रहते वानप्रस्थी का शरीर जब बहुत शुष्क हो जाता हो, तब उसे इंगुद या रेंडी का तेल लगाना चाहिए अथवा अन्य किसी वस्तु में यदि तेल की आवश्यकता पड़े तब भी इन्हीं तेलों से काम लेना चाहिए। सदा योग का अभ्यास करना चाहिए तथा काम और क्रोध जैसे मनुष्य के शत्रुओं को त्याग देना चाहिए। क्रोध को त्यागे बिना योग साधन कठिन है। वानप्रस्थी के व्रतों को बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि 'अष्टमी तिथि को होने वाले अष्टका श्राद्धरूप यज्ञ में तत्पर रहना, चातुर्मास्य व्रत का सेवन करना, पौर्णमास और दर्शादि यज्ञ तथा नित्ययज्ञ का अनुष्ठान करना वानप्रस्थ मुनि का धर्म है।'[13] चातुर्मास्य व्रत वर्षा ऋतु के चार महीनों

१२—नीवारग्रहणं चैव फलमूलनिषेवणम् ।
इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थं च निषेवणम् ॥
योगचर्याकृता सिद्धा कामक्रोधविवर्जिता ।
वीरशय्यामुपासीद्वीरस्थानोपसेविभिः ॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४२ श्लोक ७ ८

१३—अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम् ।
पौर्णमासादयो यज्ञा नित्ययज्ञस्तथैव च ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४२, श्लोक १५

म कही भ्रमण न करे, एक जगह ही रहना चाहिए उसे चातुमास यन कहते है। वानप्रस्थी को बहते हुए जल, वायु आदि सब वन की वस्तुओ का ही सेवन करना चाहिए। वानप्रस्थ के कर्त्तव्य बताते हुए यासजी न कहा कि 'वन म फल मूल खाकर रहे भारी तपस्या म तत्पर हो जाय पुण्य तीर्थों म भ्रमण करे और किसी भी प्राणी को अपने द्वारा हिमा न होने दे।'[१४] वानप्रस्थी को सब जावो पर दया रखना चाहिए। किसी भी जाव की हिंसा न करनी चाहिए। हिंमा न करना वानप्रस्थी के लिए बडा धम है। वानप्रस्थ के भोजन क विषय म बताते हुए महेश्वर न उमा से कहा कि 'व वायु अथवा जल पीकर रह। सेवार का भोजन कर। पत्थर स अन्न या फल को कुचल कर खायें अथवा दाँतो से चबाकर ही भक्षण करें। सम्प्रक्षाल के नियम से रह अर्थात् दूसरे दिन के लिए आहार सग्रह करके न रखल।''[१५] वस वानप्रस्थी के लिए अन्न का भोजन वर्जित है किन्तु यदि कही वन म ही अन्न पदा हो जाय और वानप्रस्थी उसे खाना चाहे तो उस अन्न का या तो पत्थर मे पीसकर खा ले अथवा दातो स चबाकर खा लना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोइ फल इतना कडा हो कि हाथ से न टूटे तो उसे भी पत्थर से अथवा दाँतो से तोडकर खाना चाहिए। वसे वानप्रस्थी के लिए वन म होन वाले समा के चावलो का ही उल्लेख है। वानप्रस्थी को एक ही दिन के लिए जितना भोजन आवश्यक हो, उतना ही भोज्य पदाथ सग्रह करना चाहिए तथा बतना को उसी दिन धो माँजकर साफ कर दना चाहिए। दूसरे दिन क लिए भोजन का प्रबन्ध न करना चाहिए यही वानप्रस्थी के लिए सम्प्रक्षाल का नियम है।

१४—वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुल तप ।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसक ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४२ श्लो० ७

१५—अब्भक्षर्वायुभक्षश्च शवलोत्तरभोजन ।
अश्मकुट्टस्तथा दात सम्प्रक्षालस्तथापर ॥

अनुशासनपव—अध्याय १४२ श्लो० ११

४—वानप्रस्थ की चार वृत्तियां—

वानप्रस्थ आश्रम में गृहस्थ की भांति जीवन निर्वाह के लिए तथा अतिथि सत्कार और यज्ञकर्म के लिए अन्न संग्रह करने की आवश्यकता मानी जाती है। इस आश्रम में भी चार प्रकार से अन्न संग्रह करने का विधान है। वानप्रस्थों के अन्न संग्रह की वृत्तियाँ बताते हुए व्यास जी ने इस प्रकार कहा कि वानप्रस्थ आश्रम में भी चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं। कोई उतने ही अन्न का संग्रह करता है कि उसी दिन बना खाकर बर्तन मांजकर साफ करले अर्थात् दूसरे दिन को अन्न न रखे। कुछ दूसरे लोग एक महीने के लिए अनाज का संग्रह करते हैं। कोई वर्ष भर के लिए और कोई बारह वर्षों के लिए अन्न का संग्रह करते हैं। उनका यह संग्रह अतिथि सेवा तथा यज्ञकर्म के लिए होता है।[१६] वानप्रस्थ आश्रम में अधिकतर मुनि लोग अन्न का संग्रह नहीं करते हैं। वे लोग वन में उत्पन्न हुए फल कन्द मूल आदि ही खाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। बिना जोती हुई पृथ्वी से पैदा हुआ धान जौ नीवार तथा विघस (अतिथियों को देने से बचे हुए) अन्न से जीवन निर्वाह करते हैं। इन वन में उत्पन्न हुई वस्तुओं का संग्रह हो नहीं सकता क्योंकि कन्द मूल, फल तो नित्य तोड़कर ताजे ही खाये जा सकते हैं। वन में उत्पन्न समा का चावल आदि कुछ अन्न ऐसे होते हैं जिनका संग्रह ये वनवासी मुनि कर सकते हैं। वर्षाऋतु में पंचयज्ञों के लिए अन्न की आवश्यकता को मुनि लोग संग्रह से ही पूर्ण करते होंगे। वर्षा में वनवासी लोगों को अन्न का बड़ा संकट होता होगा। उनका अपने भोजन के अतिरिक्त पंचयज्ञों के लिए अन्न की कठिनाई अवश्य होती होगी। उस कठिनाई को दूर करने के

१६—वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः
सद्यः प्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः ॥
वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम् ।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा ॥

शान्तिपर्व—अध्या० २४४, श्लो० ८-६

लिए अन्न का सग्रह करना वानप्रस्थी के लिए उचित ही था। अपना भोजन तो वानप्रस्थी एक बार ही करता था तथा वह भी बहुत स्वल्प इसलिए वह अपना उदर तो फल-फूलो से भी भर सकता था किंतु पचयज्ञो का बन्धन वानप्रस्थी के लिए अन्न सग्रह का कारण है।

९—वानप्रस्थ से स्वर्ग प्राप्ति—

वानप्रस्थी मुनि जब नियमपूर्वक रहकर अपने जीवन को सफल बनाते हैं तो अन्त मे अपने पुण्यो से उन्हे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वानप्रस्थी को मोक्ष कैसे मिलती है, इस विषय मे ययाति ने अष्टक से कहा कि "वानप्रस्थ मुनि वन मे निवास करे। आहार और विहार को नियमित रक्खे। अपने ही पराक्रम एव परिश्रम से जीवन निर्वाह करे, पाप से दूर रहे। दूसरो को दान दे और किसी को कष्ट न पहुचावे। ऐसा मुनि परम मोक्ष को प्राप्त होता है।"[१७] जो वानप्रस्थी अपने ही परिश्रम से अन्न प्राप्त करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं तथा सदा पापकर्मो से दूर रहते है और पुण्यकर्मो मे ही सदा अपना मन लगाते हैं उनको अन्त मे मोक्ष प्राप्ति होती है अर्थात् अपने कर्मो के पुण्यो से वे मुनि फिर इस असार ससार मे जन्म धारण नही करते। उनकी आत्मा परब्रह्म मे लीन हो जाती है। अपनी तपस्या के बल से वानप्रस्थी इस लोक पर तो विजय प्राप्त कर ही लेते हैं अपना परलोक भी सुधार लेते है। परलोक पर विजय प्राप्त करने के विषय मे बताते हुए ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि तपस्या मे मास हड्डी तथा रक्त के क्षीण हो जाने पर जिसका शरीर कृश और दुबल हो गया है वह वानप्रस्थी मुनि इस लोक को जीत कर परलोक पर भी विजय पाता है। जब वानप्रस्थ मुनि सुख दुःख राग द्वेष आदि द्वन्दो से रहित एव भलीभाति मौनावलम्बी हो जाता है, तब

१७—स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो
दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङमुनि सिद्धिमुपैति मुख्या
वसन्नरण्ये नियताहारचेष्ट ॥

आदिपर्व—अध्याय ८१ श्लो० ४

इस लोक को ही जीतकर परलोक पर भी विजय पाता है।'[18] जो वानप्रस्थ मुनि अपनी घोर तपस्या से अपने शरीर को सुखा लेता है तथा सुख-दुःख का उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहता है और उसके मन में राग-द्वेष आदि बिल्कुल नहीं रहते तब स्वयं समझना वानप्रस्थ आश्रम में रह कर वह जीतने वाला हो सकता है। सुख-दुःख का अनुभव न होना तथा मन में रागद्वेष न होना यहाँ तक कि पता हो संसार में रहकर भी वह जाता तथा जो सत्य और धर्म का पालन किया करता है अर्थात् जो मुनि सदा अपनी तपस्या में ही लगा रहता है ऐसा मुनि मोक्ष प्राप्त करने योग्य हो जाता है और फिर इस संसार में जन्म नहीं लेता है। इस तपस्वी मुनि का वर्णन करते हुए ययाति ने कहा कि जो वानप्रस्थ मनुष्य पापकर्मों से नित्य भय करता है और सदा अपने धर्म का आचरण करता है वह अत्यन्त सुखमय मोक्ष को अनायास ही प्राप्त कर लेता है।[19] मोक्ष की इच्छा रखने वाला वानप्रस्थ मुनि पापकर्मों से सदा डरता रहता है और अपने कर्मों में ही तल्लीन सदा रहता है। अपने धर्म के आचरण में कभी प्रमाद नहीं करता है उसको मोक्ष स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। वानप्रस्थी को स्वर्ग प्राप्ति कैसे होती है इस विषय में बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि शरीर को सदा पवित्र रखें। धर्म पालन में कुशलता प्राप्त करें। सज्जनों में रहकर चित्त को एकाग्र किए रहें। इस प्रकार उत्तम धर्मों का पालन करने वाला

१८—तपसा कर्षितः क्षाम क्षीणमांसास्थिशोणित ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥
यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥

आदिपर्व—अध्या० ९१, श्लो० १६ १७

१९—पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद् यस्तु मानवः ।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥

आदिपर्व—अध्याय ... श्लो० ४

जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्ग पर विजय पाता है। उत्तम गुणों से युक्त जितेन्द्रिय वानप्रस्थी पुरुष ही उत्तम लोकों पर विजय पाता है। वह उत्तम स्थान को पाकर फिर इस ससार मे जन्म धारण नही करता।[२०] वानप्रस्थी मुनि का मन सदा शान्त और एकाग्र रहता है। वह सदा धर्म के ही आचरण मे लगा रहता है तथा सब इन्द्रियो को वश में रखता है, वही मुनि मोक्ष का अधिकारी होता है। अपनी तपस्या से तथा धर्मपूर्ण आचरण से वनवासी मुनि अपनी तो मोक्ष करते ही हैं साथ मे अपने पूर्वजो का भी उद्धार करते हैं इस विषय में बताते हुए ययाति ने कहा कि 'जो वनवासी मुनि वन में ही अपने पञ्चभूतात्मक शरीर का परित्याग करता है वह दस पीढी पूर्व के और दस पीढी बाद के जाति भाइयो को तथा इक्कीसवें अपने को भी पुण्यलोको में पहुचा देता है।"[२१] जो वानप्रस्थी मुनि तपस्या से अपने शरीर को सुखाकर अपने शरीर को वन मे त्याग देता है, वह बडा पुण्यवान आदमी समझा जाता है। उस अकेले की तपस्या से वह अपनी तो मोक्ष करता ही है, साथ में अपने पूर्वजो और आने वाली पीढियो का भी उद्धार करता है। तपस्या में बडा बल है।

२०—शुचिर्देह सदा दक्षो वननित्य समाहित ।
एव युक्तो जयेत् स्वर्ग वानप्रस्थो जितेन्द्रिय ॥
एव युक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रिय ।
न ससरति जातीषु परम स्थानमाश्रित ॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लो० १६ =

२१—दशैव पूर्वान् दश चापराश्च
ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥

आदिपर्व—अध्या० ९१, श्लोक ७

प्राचीन युग में वानप्रस्थ धर्म का पालन एवं प्रचार करने वाले अनेक ऋषियों ने मोक्ष प्राप्त करली और स्वर्ग में जाकर हमेशा के लिए अमर हो गये। उनमें से अगस्त्य ऋषि सप्तर्षिगण मधुच्छन्द आदि अनेकों ऋषि वानप्रस्थ के धर्म पालन से स्वर्ग में जाकर आकाश में नक्षत्र बन गये। नक्षत्र बने हुए वानप्रस्थियों की प्रशंसा करते हुए व्यास जी ने कहा कि ये सब ब्राह्मण प्रायः उपवास आदि क्लेशमयक कर्म करने के कारण लौकिक सुख से रहित थे। सदा धर्म में तत्पर रहते और इन्द्रियों को वश में रखते थे। उन्हें धर्म के फल का प्रत्यक्ष अनुभव था। वे सब के सब वानप्रस्थी थे। इस लोक से जाने के बाद वे आकाश में नक्षत्र भिन्न, दुष्प्र ज्योतिर्मय तारा के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।"[२१] वानप्रस्थ के धर्म पालन के कारण ही वे अनेक तपस्वी ब्राह्मण आकाश में जाकर नक्षत्रों से भिन्न अधिक प्रकाश वाले होकर हजारों वर्षों से चमक रहे हैं और आगे भी चमकते रहेंगे। यह प्रताप उनकी तपस्या का है। उनके त्याग और सत्यता तथा धर्मानुकूल आचरण से ही आज उन्हें इतना मान मिला हुआ है। धर्म के पालन से तथा त्यागमय तपस्या द्वारा आज भी इस कलियुग में जो भी मनुष्य चाहे स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। स्वर्ग की प्राप्ति तो सत्कर्मों से प्राप्त हो जाती है। इसलिए स्वर्ग की इच्छा रखने वाले मनुष्य सत्कर्म करें उनकी इच्छा पूर्ण होगी।

---

[२१]—धर्मभिरत निरानन्दाधर्मनित्याजितेन्द्रियाः ।
गता प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिता ॥
अनक्षत्रास्तवनाघुष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४४ श्लो० २१½

अध्याय — १८

महाभारत में सन्यास-आश्रम

१—संन्यास का समय—

चारों आश्रमों में संन्यास आश्रम ही ऐसा आश्रम है जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराता है। संन्यास आश्रम में वही मनुष्य प्रवेश करते हैं जिनकी रुचि अध्यात्म की ओर होती है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में चित्त के राग द्वेष आदि दोषों को पकाकर—उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थाश्रम संन्यास को ग्रहण कर लें।

संन्यासी पुरुष सब बन्धनों से मुक्त होता है। संन्यासी पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार की तथा घर की सम्पूर्ण वस्तुओं का परित्याग करके आसक्ति के बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए घर से बाहर निकल जाता है। संन्यासी लोग मिट्टी और पत्थर तथा स्वर्ण सबको समान समझते हैं, शत्रु और मित्र के प्रति उदासीन हो जाते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों के प्रति मन, वाणी और क्रियाओं द्वारा कभी द्रोह नहीं करते। सबके प्रति समान दृष्टि रखते हैं। संन्यासी अपने लिए कुटी या मठ बनाकर कहीं नहीं रहते। वे हमेशा चारों ओर भ्रमण करते रहते हैं। चलते चलते जहां कहीं भी रात हो जाय वहीं ठहरकर रात बिताते हैं। रात्रि में ठहरने के लिए पर्वत की गुफा, नदी का किनारा, वृक्ष की जड़, देव मन्दिर या नगर गांव ही उचित है। संन्यासी नगर में पांच रात्रि से अधिक न ठहरें और गांव में एक रात्रि से अधिक न ठहरें। संन्यासी को प्राण धारण के लिए विशुद्ध धर्मों का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घरों पर खड़ा हो जाना चाहिए और बिना मांगे जो पात्र में आ जाय भिक्षा लेकर लौट जाए। भिक्षा मांगने दोपहर में जाय जब सब गृहस्थों की रसोई का धुआं बन्द हो जाय। संन्यासी काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसा

से सर्वथा दूर रहे। संन्यासी कभी किसी की निन्दा न सुने और अपनी निन्दा करने वाले की ओर आँख उठाकर देखे भी नहीं।

संन्यास आश्रम को ग्रहण करने का समय वर्ण को शास्त्रानुसार करीब ७५ वर्ष पूरे होने के बाद का है। संन्यास ग्रहण करने वाले की उम्र इससे कुछ कम और कुछ अधिक भी हो सकती है। संन्यास का समय बताते हुए व्यास जी ने कहा कि 'इस प्रकार वानप्रस्थ की अवधि पूरी कर लेने के बाद जब आयु का चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्था से शरीर दुर्बल हो जाय और रोग सताने लगें तो उस आश्रम का परित्याग कर दे (और संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले)। संन्यास की दीक्षा लेते समय एक दिन में पूरा होने वाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणा में दे डाले।'[1] वानप्रस्थी का शरीर जब बहुत दुर्बल हो जाय तथा उसमें अपने नियमों को पूर्ण करने की शारीरिक शक्ति न रहे तथा अनेक प्रकार के रोग उसे सताने लगें तब उस मनुष्य को वानप्रस्थ आश्रम छोड़कर संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले के पास अग्निहोत्र आदि कुछ वस्तुएँ होती हैं उन सब वस्तुओं को उसे एक दिन का यज्ञ करके दान में दे देनी चाहिए और बिना किसी वस्तु के संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। वानप्रस्थ में तप और व्रत पूरे करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास आश्रम सब व्रत नियम के बन्धनों से मुक्त है। इसलिए संन्यास को ग्रहण करके मनुष्य अपना तन, मन सब ईश्वराधान में ही लगा देता है। संन्यास आश्रम मुक्ति का मार्ग है।

२—सन्यासी के लक्षण—

संन्यासी एकाकी होता है। वानप्रस्थ के समान वह स्त्री को साथ नहीं रख सकता। संन्यासी एक स्थान पर नहीं रहता, चारों ओर घूमता रहता है

१—जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः ।।
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।।
शान्तिपर्व—अध्याय २४४, श्लोक २२ २३

इसलिए उसे परिव्राजक कहते हैं। यज्ञ, जप, तप आदि सब कत्त य उसके लिए समाप्त हो जाते हैं। उनको पूर्ण करके ही वह स यास ग्रहण करता है। अन अग्नि धारण उसके लिए आवश्यक नही है इसलिए उसे 'अनग्नि' भी कहते हैं। गृहस्थ और वानप्रस्थ के कर्त्तव्यो को पूर्ण करके तथा देव पितर और ऋषियो के तीन ऋणो को चुकाकर ही स यासी को मोक्ष म अपना ध्यान लगाना चाहिए। वानप्रस्थ मुनि को स यास के लिए क्या करना चाहिए इस विषय म व्यास जी ने कहा कि वानप्रस्थ मुनि केश लोम और नख कटाकर कर्मों से पवित्र हो वानप्रस्थ से सन्यास म प्रवेश करे। [२] वानप्रस्थी के लिए जटा, लोम, नख आदि रखने का नियम है किन्तु वनवासी स यासी को उसका उल्टा है कि वह सिर के बालो को मखो को कटवा रहे हैं। स यास का अथ ही यही है कि वह सवदा सिर मुडाकर रहे। स यासी को सब प्रकार के वस्त्रो का त्याग देना चाहिए, केवल मृगछाला से काम चलाना चाहिए। जो अग्नि और गृह को त्याग चुका है जिसका गोत्र और चरण अर्थात् जाति आदि म भी सम्बन्ध नही रहा है, जो मौन रहता है तथा उतने ही वस्त्र की इच्छा रखता है जितने से लगोटी और ओढ़ने का काम चल जाये। इसी प्रकार जितने अन्न से जीवन निर्वाह हो सके, उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिए। सन्यासी के लिए कम से कम अन्न तथा कम से कम वस्त्र की भिक्षा लेनी चाहिए। स यासी के लक्षण बताते हुए ययाति ने अष्टक से कहा कि 'जिस समय रूप, रस आदि विषय तुच्छ प्रतीत होने लगें इच्छानुसार जीत लिए जाँय तथा उनके त्याग म ही सुख जान पडे उसी समय विद्वान् पुरुष मन को वश म करके समस्त सग्रहो का त्याग कर वनवासी होने का प्रयत्न करे। [३] जब

२—केशलोमनखाम् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्तत ।
आश्रमादाश्रम पुण्य पूतोगच्छति कर्मभि ॥
शा तिपव—अध्याय २४४, श्लोक २७

३—राग्या यथा चाभिजिताश्च लोका
भव त कामाभिजिता सुखाश्च ॥
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वा—
नरण्यसस्थो भवितु यतात्मा ॥
आदिपव - अध्याय ९१, ६

मनुष्य का मन गृहस्थ की मोह ममता में तथा वानप्रस्थ के सब कर्मों में पूर्ण न लग जाय और उसे सांसारिक वस्तुओं में मोह न रहे। जब वस्तुएँ व्यर्थ लगने लगें तभी उसे संन्यासी हो जाना चाहिए और अपने जीवन का उद्धारक मार्ग अपनाना चाहिए। जो मनुष्य वन में रहकर भी ग्राम की वस्तुओं में मोह रखता है वह वनवासी होता हुआ भी ग्रामवासी ही बना रहता है। वनवासी होकर भी जिसकी इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं तो उसका संन्यास लेना व्यर्थ है उसको तो उस ग्राम में ही रहना चाहिए। जो मनुष्य रहता तो ग्राम में है किन्तु उसकी इच्छाएँ वनवासी जैसी हो जाती हैं तो वह ग्राम में रहता हुआ भी वनवासी के समान है। संन्यासी के लक्षण बताते हुए व्यासजी ने सुन्दर ढंग से वर्णन किया कि 'भिक्षापात्र एवं कमण्डलु रखे। वृक्ष की जड़ में वास या निवास करे। जो देखने में सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे। किसी का साथ न रखे और सब प्राणियों की उपेक्षा कर दे। ये सब संन्यासी के लक्षण हैं।'[४] संन्यासी को अपने साथ न तो मनुष्य रखना चाहिए और न कोई वस्तु रखनी चाहिए। उसे तो केवल भिक्षा मांगने के लिए एक भिक्षापात्र तथा जल पीने के लिए एक कमण्डल रखना चाहिये। उसको गेरुए रंग के असुन्दर वस्त्र धारण करने चाहिए। संसार के सब प्रकार के जीवों से प्रेम छोड़ दे और अपने को अकेला ही समझे। वृक्षों की जड़ों में रात्रि होने पर सो जाय। मनुष्य को जब ऐसी भावना पैदा हो जाय कि वह किसी के द्वारा निन्दा करने पर या प्रशंसा करने पर कुछ उत्तर न दे अर्थात् सब प्रकार की बातों को सुनकर जो बुरा या अच्छा नहीं मानता उसे संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। संन्यासी को मठ या गृह न बनाना चाहिए इस विषय में व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि 'संन्यासी कभी न तो अग्नि की स्थापना करे और न घर या मठ ही बनाकर रहे केवल भिक्षा लेने के लिए ही गांव में जाय।'[५] संन्यासी को सदा अनिकेत रहना चाहिए। मकान या मठ बनाकर रहना संन्यासी के लिए अनुचित है। संन्यासी को गांव में भी

४—कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्॥
शांतिपर्व—अध्याय २४५ ७

५—अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्॥
शांतिपर्व—अध्याय २४५ ५

अधिक जाना निषेध है। उसे केवल भिक्षा मात्र के लिए गाव म प्रवेश करना चाहिए। गाव म अधिक जाना तथा गृह या मठ बनाकर रहना सन्यासी के मोह का लक्षण प्रतीत होगा। ऐसा सन्यासी वास्तविक सन्यासी नहीं है और न वह आगे जीवन मे मोक्ष को प्राप्त हो सकेगा सन्यासी के नियम बताते हुए ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि "सन्यासी शिल्प कला स जीवन निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणो से सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियो को वश म रखे। सबसे अलग रहे। गृहस्थ के घर म न सोये। परिग्रह का भार न ले, स्वय स्वतन्त्र रहे।"[६] सन्यासी को जीवन निर्वाह के लिए चित्रकला आदि दस्तकारी का सहारा नही लेना चाहिए उसे तो केवल भिक्षा से जीवन यापन करना चाहिए। सब प्रकार के दुखो को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए तथा दूसरो के द्वारा कहे हुए अच्छे या निन्दात्मक शब्दो का कोई उत्तर न देने की भी शक्ति होनी चाहिए, तभी सच्चे शब्दो म सन्यासी माना जाता है। सन्यासी अपनी इन्द्रियो को सदव वश मे रखता है। सन्यासी कभी भी गृहस्थ के घर म न सोये। थोडा थोडा चलता रहे, भ्रमणशील होकर रहे। किसी प्रकार की वस्तु को साथ न रक्खे, सदा अपरिग्रही बनकर रहे। सन्यासी के लक्षण बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियो से इस प्रकार कहा कि "कभी सुवर्ण की इच्छा न करे। किसी स द्वेष न कर और उपदेशक न बने तथा सग्रहरहित रहे।[७] किसी भी धन की इच्छा न करे, किसी को उपदेश न दे तथा सब सग्रहो का त्याग कर दे। ब्रह्माजी ने महर्षियो से कहा कि

६—अशिल्पजीवी गुणवाश्च व नित्य
जितेन्द्रिय सर्वतो विप्रयुक्त ।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार—
श्चरन् देशानेकचर स भिक्षु ॥
आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लोक ५

७—न शिल्पजीविका जीवेद्धिरण्य नोत कामयेत् ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृत ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक ३७

मोक्ष धर्म के ज्ञाता संन्यासी को उचित है कि सदा पवित्र जल से काम ले। प्रतिदिन तुरंत निकाला हुआ जल से स्नान करे। ८ कुएँ से तुरन्त निकाला हुआ जल ही संन्यासी के लिए श्रेष्ठ होता है। इसलिए उसे सदा तुरन्त निकाला हुआ जल ही पीना तथा अन्य काम में लाना चाहिए, पहले से भरकर रक्खा हुआ पानी कभी काम में न लाए। संन्यासी को उचित है कि भविष्य के लिए विचार न करे, बीती हुई किसी भी प्रकार की घटनाओं का चिन्तन न करे और वर्तमान की भी उपेक्षा करे। केवल काल की प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियों का समाधान करता रहे। नेत्र से, मन से और वाणी से कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने या दूसरों की ओट में भी किसी की बुराई न करे। संन्यासी के आठ व्रत बताते हुए महर्षियों ने कहा कि 'अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, दोष-दृष्टि का त्याग इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतों का सदा सावधानी के साथ पालन करे। इन्द्रियों को वश में रखे। ९ संन्यासी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये, हमेशा सत्य बोलना चाहिए, क्रोध कभी नहीं करना चाहिए, हमेशा सरलता से तथा शान्ति से रहना चाहिए, किसी के बारे में कभी दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए, कभी किसी की चुगली नहीं खानी चाहिए, हमेशा इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये, सब जीवों पर सदा दया रखनी चाहिये। ये सन्यासी के लिये महत्त्वपूर्ण व्रत हैं। इनको पालन करने वाला संन्यासी ही सही अर्थों में संन्यासी है। संन्यासी के सनातन धर्म बताते हुए कपिलजी ने कहा कि 'सन्तोष ही जिसके सुख का मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है

८—पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित् ।
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक २८½

९—अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ॥
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम् ।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः ॥
आश्वमेधिक पर्व अध्याय ४६, श्लोक २९ ३०

जो ज्ञान का आश्रय कहा जाता है, जिसमे मोक्षदायिनी बुद्धि—ब्रह्मसाक्षात्कार रूप वृत्ति नित्य आवश्यक है वह सन्यास आश्रमरूप धर्म सनातन है।[10] जिस मनुष्य मे सन्तोष का भाव आ जाता है, वह उसके लिए सुख का मूल समझा जाता है और सन्तोष ही सन्यासी के लिये परमावश्यक व्रत है। इसी प्रकार सन्यासी के लिये त्याग की भावना भी बहुत आवश्यक है। त्याग की भावना से ही मनुष्य इस असार ससार को व्यर्थ समझने लगता है और व्यर्थ समझने के कारण ही वह मोक्ष की इच्छा रखता है। सन्यास-आश्रम मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। सब प्रकार की कामनाओ से रहित मनुष्य ही सन्यास को ग्रहण करता है और अन्त मे मोक्ष को प्राप्त करता है। सन्यासी के धर्म बताते हुए व्यासजी ने भीष्म से कहा कि 'आत्मा का ही यजन, आत्मा मे ही रत होकर आत्मा मे ही क्रीडा करे। सब प्रकार से आत्मा का ही आश्रय ले। अग्निहोत्र की अग्नियो को आत्मा मे ही आरोपित करके सम्पूर्ण सग्रह परिग्रह को त्याग दे।'[11] जब वानप्रस्थ आश्रम मे रहकर मनुष्य के सब प्रकार के नियम, ध्यान आदि कर्म पूर्ण हो जायें और उसे आत्मा मे ही आनन्द प्रतीत होने लगे, तभी उसे वानप्रस्थ छोड कर सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। सन्यासी का यजन आत्मा ही हो, तथा सब प्रकार की क्रीडा आत्मा मे रत होकर ही करे तो वह सच्चा सन्यासी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। सन्यासी के धर्म बताते हुये व्यासजी ने शुकदेव से कहा कि "सन्यासी को चाहिए कि वह सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी को साथ न लेकर अकेला ही

१०—सन्तोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्म सनातन ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २७० श्लोक ३१

११ आत्मयाजी सो ऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसश्रय ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४४, श्लोक २४

सायास धम का पालन करे।"[१२] सायास-आश्रम म प्रवेश करते समय मनुष्य का अकेला ही रहना चाहिये किसी को साथ न रखे। अकेले मनुष्य का ध्यान ही सब तरफ से हटकर ब्रह्म म लीन हो सकता है अयथा बहुत कठिन है। सायासी का मन ब्रह्म म तभी लीन हो सकेगा जब वह सबसे दूर, सब का त्याग कर केवल ब्रह्म को ही अपना सब कुछ मानेगा। ब्रह्म म लीन होकर ही वह मोक्ष को प्राप्त होगा। आत्मतत्त्व का बोध करके जो एकाकी विचरता रहता है वह कल्याण को प्राप्त होता है। सायासी के धम बताते हुये व्यासजी ने शुकदेव से कहा कि सायासी किसी की निदा करने वाले पुरुषकी ओर आँख उठाकर नही देखे कभी किसी का निदात्मक वचन सुने नही तथा विशेषत ब्राह्मणो क प्रति किसी प्रकार न कहने योग बात न कहे। जिससे ब्राह्मणा का हित हो वसा ही वचन सदा बोल। अपनी निदा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बन को भव रोग से छूटने की दवा समझकर इसका सेवन करता रहे।[१३] किसी के कहे हुए निदात्मक वचनो को सुनकर किसी प्रकार का प्रत्युत्तर न दे, सवदा मौन धारण करके रहे। ब्राह्मणा के प्रति न कहने योग्य बात न कह, सदव उनक सम्मान का ध्यान रखे। ब्राह्मणा के प्रति हितकारी वचन बोले। मौन रहना इस ससार रूपी सागर से पार होने का माग है। इसलिए सदा शात चित्त रहकर मौन का धारण करे। सायासी क धम बताते हुए व्यासजी ने कहा कि सायासी अपने चित्त को राग द्वेष आदि दोषो स दूषित न होने दे। अपनी वाणी को निदा आदि दोषो स बचाये और पापा

१२–एक एव चरेद् धर्मं सिद्धयर्थमसहायवान्।
शातिपव—अध्याय २४५, श्लोक ४

१३ नव पश्येन्न शृणुयादवाच्य जातु कस्यचित्।
ब्राह्मणानां विशेषेण नव ब्रूयात् कथचन॥
यद् ब्राह्मणस्य कुशल तदेव सतत वदेत्।
तूष्णीमासीत निदाया कुवन् भयज्यमात्मन॥
शातिपव—अध्याय २४५, श्लोक ६ १२

से मुक्त होकर सर्वथा शत्रुहीन हो जाय। किसी से भय न रहे।[१४] संन्यासी को कभी किसी से राग या द्वेष नहीं करना चाहिये। राग द्वेष सर्वदा किसी के प्रति प्रेम से अथवा किसी ने अपने विषय में कुछ निन्दात्मक शब्द कह दिये तो क्रोध के कारण उससे कुछ कहा सुनी हो गई और चलकर उससे द्वेष होने लगा। इसी प्रकार चित्त द्वेष के कारण हर समय अशान्ति रहने लगता है और उस मनुष्य से शत्रुता-सी होने लगती है। संन्यासी के लिए अशान्ति के कारण ही यह राग द्वेष वर्जित हैं। उसे तो किसी के द्वारा कहे जाने वाले शब्दों पर ध्यान ही नहीं देना चाहिए वह शब्द चाहे अपनी प्रशंसा के हों अथवा निन्दा के हों। क्योंकि ध्यान न देकर ही संन्यासी शान्त चित्त रह सकता है नहीं तो उसको रास्ते चलते अनेक मनुष्यों से वाद विवाद करना पड़ेगा। यह तो संसार है इसमें सब प्रकार के बुद्धिमान, मूर्ख स्वार्थी अहित कारी आदि कई प्रकार के मनुष्य रहते हैं। संन्यासी को देखकर के कोई कुछ कहता है, कोई कुछ इसलिए संन्यासी को तो किसी के वचन न सुनने चाहिये और न उनका प्रत्युत्तर देना चाहिये। संन्यासी के लिए मौन रहना इसलिए बताया है जिससे उसका मन स्थिर और शान्त रहे। सन्यासी के जीवन मोह के विषय में बताते हुए व्यासजी ने शुकदेवजी से इस प्रकार कहा कि संन्यासी न तो जीवन का अभिनन्दन करे और न मृत्यु की प्रतीक्षा ही। जैसे सेवक स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करता है उसी प्रकार उसे भी काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए।[१५] संन्यासी को अपने जीवन से न तो मोह ही होना चाहिए और न बिल्कुल विरक्ति ही होनी चाहिये। उसे तो जब तक प्राण हैं तब तक अपने धर्म का पालन करते रहना चाहिए और सदैव मृत्यु की प्रतीक्षा करनी

१४—अभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग् भवेत्।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक १६

१५—नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक १५

चाहिए। सन्यासी को तो हमेशा अपने नियमों का पालन शान्तचित्त से करते रहना चाहिए, जो अन्त समय में उसके साथ रहेगा। अच्छे कर्म करना चाहिए तथा अहिंसा की ओर सदैव ध्यान रखना चाहिये। रास्ता चलते समय रास्ते में चींटी आदि छोटे कीड़े मिलें, उन पर सदा दयाभाव रखना चाहिये।

३—सन्यासी के नियम, दण्ड, कमण्डल—

जटा रहित सिर आदि सन्यासी के लक्षण हैं। सन्यासी के पात्र लकड़ी या मिट्टी के होते हैं। वे उसके लिए केवल जीवन-यात्रा के अवलम्ब हैं। ये उसके बाहरी उपलक्षण मात्र हैं। सन्यास का वास्तविक स्वरूप तो आन्तरिक आत्म-साधना है। बाहरी चिह्न धर्म के कारण नहीं होते। सन्यासी के नियम बताते हुए व्यास जी ने शुकदेवजी से कहा कि 'वह दूसरे दिन के लिए अन्न का संग्रह न करे। चित्त वृत्तियों को एकाग्र करके मौनभाव से रहे। हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन रात में केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे।'[१६] सन्यासी को दिन में एक ही बार भोजन के लिए अन्न का भिक्षा मांगनी चाहिए अधिक अन्न की भिक्षा न मांगे। सन्यासी की भिक्षा का समय बताते हुए ब्रह्मा जी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि 'प्रातःकाल का नित्यकर्म करने के बाद जब गृहस्थों के यहाँ रसोई घर से धुँआ निकलना बन्द हो जाय घर के सब लोग खा पी चुके और बर्तन धो मांजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षधर्म के ज्ञाता सन्यासी को भिक्षा लेने की इच्छा करनी चाहिए।'[१७] सन्यासी को भिक्षा के लिए तब किसी गृहस्थ के घर जाना

१६—मनवस्तनविधाना स्यान्मुनिर्भावसमाहितः।
सन्यासी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लो० ६

१७—कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत् मोक्षवित्॥
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लो०

चाहिए, जब उसके यहा सब परिवार वाले भोजन कर चुके हो। इसका अभि प्राय यही है कि उसे बचा हुआ भोजन प्राप्त करना चाहिए, किसी के हिस्से का भाजन नही प्राप्त करना चाहिए। शेष बचा हुआ भोजन पूर्ण नही हो सकता। गृहस्थ म कभी केवल राटी ही बच रहती है और कभी केवल तरकारी। शेष अन्न का यही अभिप्राय है कि जो कुछ रोटी या तरकारी मिल जाय, उसी को लेकर सन्यासी को पानी पी लेना चाहिए और अधिक अन्न की इच्छा नही रखनी चाहिए। सन्यासी जीवन निवाह के लिए भिक्षा माग। उचित समय तक उसके मिलने की प्रतीक्षा करे। चित्त को एकाग्र किये रहे। अधिक सम्मान वाले स्थान पर भोजन न करे इस विषय मे ब्रह्माजी ने कहा कि 'साधारण वस्तुओ की प्राप्ति की भी इच्छा न करे। जहाँ अधिक सम्मान हाता हो, वहा भोजन न कर। मान प्रतिष्ठा के लाभ से सन्यासी को घृणा करनी चाहिए। वह खाय हुए तिक्त, कसले तथा कडवे अन्न का स्वाद न ले।'[१८] सन्यासी को भिक्षा मिल जाने पर हर्ष न होना चाहिए और न मिलने पर विषाद न होना चाहिए। भिक्षा जीवन यात्रा के निर्वाह लिए जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही लेनी चाहिए। भोजन करते समय मधुररस का भी आस्वादन न करे, प्राणधारणमात्र के लिए अन्न का आहार करे। जहा पर सन्यासी को प्रेमपूर्वक भाजन कराया जाय वहा वह भोजन न करे। सम्मान और प्रेम से सदा दूर रहे। भिक्षा मागते समय दाता के द्वारा दिये जाने वाले अन्न के सिवा दूसरा अन्न लेने का कदापि इच्छा न करे। पाप शठता और कुटिलता से रहित होकर बर्ताव करना चाहिये। नित्यप्रति जो अन्न अपने आप प्राप्त हो जाय उसका ही ग्रहण करना चाहिए। उसके लिए भी मन मे इच्छा नही रखनी चाहिए। मनमाना भोजन कभी नही करना चाहिए। किसी अच्छी वस्तु का उपयोग करके फिर उसके लिए लालयित न रहे। मिट्टी, जल अन्न, पत्र पुष्प और फल– ये वस्तुए यदि किसी के अधि

१८—लाभ साधारण नेचच्छेन भुञ्जीताभिपूजित ॥
अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुक ।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च ॥

आश्वमेधिकपर्व– अध्याय ४६ श्लो० २१ २२

कार म न हो तो आवश्यकता पडने पर क्रियाहीन सन्यासी इन्हे काम मे ला सकता है। सन्यासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि 'खाने के लिए अन्न और शरीर ढकने के लिए वस्त्र के सिवा और किसी वस्तु का सग्रह न करे। बुद्धिमान सन्यासी को चाहिए कि दूसरा के लिए भिक्षा न मागे तथा सब प्राणियो के लिए दयाभाव से सविभागपूर्वक कभी कुछ देने की इच्छा न करे। सबके साथ अमृत के समान मधुर बनाव करे कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणी के साथ परिचय न बढाये।'[१९] सन्यासी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नही रहता है इसलिए उसे दूसरा के लिये भिक्षा न मागनी चाहिए, तथा न दया के कारण किसी को कोई वस्तु देनी चाहिए। सन्यासी को तो सब बन्धनो से मुक्त बताया है। उसे तो केवल अपने जीने मात्र के लिए भोजन ग्रहण करके जीवन निर्वाह करना चाहिए। सबके साथ मधुरवाणी से व्यवहार करे किसी से प्रेम न करे और न किसी के साथ परिचय बढाये। सन्यासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि जितने भी कामना और हिंसा से युक्त कर्म है उन सबका एव लौकिक कर्मो का न स्वय अनुष्ठान करे और न दूसरो से कराये।"[२०] सन्यासी को किसी प्रकार की कामना न करनी चाहिए। कामनाओ से शून्य होने पर ही मनुष्य सन्यास-आश्रम ग्रहण करता है। यदि किसी मनुष्य की कामनाये तृप्त न हुई हो तो उसे सन्यासी न होना चाहिये। सन्यासी को हिंसा से युक्त

१९—ग्रासादाच्छादनाच्चान्यन्न गृह्णीयात् कथचन ॥
परेभ्यो न प्रतिग्राह्य न च देय कदाचन ।
दैन्यभावाच्च भूताना सविभज्य सदा बुध ॥
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसविदम् ॥

आश्वमेधिक पर्व–अध्याय ४६ श्लो० ३२ ३४ ३८

२० —आरम्भेषु यानि सर्वाणि हिसायुक्तानि यानि च ।
लोकसग्रहधर्म च नव कुर्यान्न कारयेत् ॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लो० ३६

भी कोई काय न करना चाहिए। उसे तो सब जीवो पर दयाभाव रखना चाहिए। उसे तो लौकिक कर्मों का किसी प्रकार का भी अनुष्ठान न करना चाहिए और न दूसरो से कराना चाहिए। सयासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि "उसे अपने धम का प्रदशन न करना चाहिये। निजन स्थान मे विचरते रहना चाहिये। रात को सोने के लिए सूने घर, जगल वृक्ष की जड, नदी के किनारे अथवा पवत की गुफा का आश्रय लेना चाहिए। ग्रीष्मकाल मे गाव में एक रात से अधिक नही रहना चाहिए, किन्तु वर्षाकाल मे किसी एक ही स्थान पर रहना उचित है।"[२१] सयासी को कभी भी अपने धम का प्रदशन नही करना चाहिये। धम के प्रदर्शन से उसका अहङ्कार बढ़ेगा और उसकी मोक्ष प्राप्ति की साधना म वह बाधा बनेगा। इसलिए सयासी को कुछ भी न करना चाहिए और न कुछ कहना चाहिए। उसे तो मौनभाव से स्वतन्त्र रहना चाहिए। ग्रीष्मकाल मे सयासी को एक रात से अधिक किसी भी गाव मे नहीं ठहरना चाहिए। उसे तो सुबह होते ही दूसरे गाँव को प्रस्थान कर दना चाहिए। वर्षाकाल म सयासियो के लिए चारमास तक एक ही स्थान पर ठहरने का नियम बताया है। क्योंकि वर्षा के समय गाव के आस पास के रास्ते, नदी या नालो म वर्षा के पानी के आ जाने के कारण बन्द हो जाते हैं और सबका आगमन प्राय बन्द सा हो जाता है। जब वर्षाकाल म सभी का आवागमन बन्द रहता है तो बेचारे सयासी को ही पानी मे फिरने से क्या लाभ। इसीलिए सयासी के लिए चार मास तक एक स्थान पर रुकने का नियम उचित है। सयासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि 'जसे कछुआ अपने अङ्गो को सब ओर से समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियो को विषयो की ओर से हटा ले। इन्द्रिय मन और बुद्धि

२१—न सनिकाशयेद् धम विविक्ते चारजाश्चरेत्।
शून्यागारमरण्य वा वृक्ष मूलनदी तथा॥
प्रतिश्रयाय सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम्।
ग्रामकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत्॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लोक २५ २६

को दुवल करके निश्चेष्ट हो जाय। सम्पूरण तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त कर।"[२२] सन्यासी के नियम बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि—सन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियो को सयम म रखते हुए मुनि वृत्ति से रहे। किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवाये। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो जाय वही ठहर जाय। प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाये उसी से जीवन निर्वाह करे।"[२३] सन्यासी को निरन्तर घूमते रहना चाहिए और जहाँ सूर्यास्त हो जाये वही रुक जाय। मन और इन्द्रियो को सयम म रखकर त्याग की भावना स रहे। ज्ञान के सम्पूरण तत्वो को जानने की इच्छा रखे और ज्ञान को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहे। सन्यासी को चाहिए कि किसी एक स्थान म आसक्ति न रखे एक ही ग्राम म न रहे तथा किसी एक ही किनारे पर सवदा शयन न करे। उसे सब प्रकार की आसक्तियो स मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिए। अपने अन्तकरण म ही परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। सन्यासी को मोक्षोपयोगी कम श्रवण मनन निदिध्यासन आदि के द्वारा समय व्यतीत करना चाहिए।

४—सन्यासी के प्रकार—

साधारणतया सब लोग एक प्रकार के ही सन्यासी को सन्यासी समझते हैं क्योकि आधुनिक युग म वे ही अधिक दिखाई देते हैं। जो भी मनुष्य गेरुए रग के वस्त्र धारण कर लेता है सब लोग उसी को सन्यासी

२२—इन्द्रियाण्युपसहृत्य कर्मोऽङ्गानीव सवश।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीह सर्वतत्त्ववित्॥
आश्वमेधिकपव—अध्याय ४६ श्लो० ४४

२३—यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतन।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रिय॥
शान्तिपव—अध्याय ६१, श्लो० ८

समझने लगते हैं। हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों मे सन्यासी चार प्रकार के बताये गये हैं। महाभारत मे उमा को बताते हुए महेश्वर ने कहा कि "सन्यासी चार प्रकार के होते हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।"[२४] धर्म शास्त्रों मे जो सन्यासियों का चतुर्विध विभाजन मिलता है, वह महाभारत के अनुशासनपर्व के इसी वचन के अनुसार है। वखानस सूत्र मे सन्यासियों के इन चार भेदों की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

(१) "कुटीचक—उस सन्यासी को कहते हैं, जो सन्यास-आश्रम को ग्रहण करके वन मे नहीं जाता। कुटीचक सन्यासी पुत्रो द्वारा निर्मित कुटी मे निवास करता है। यह कुटी पुत्रों के घर के पास ही होती है, वन मे नही। भिक्षा लेने के लिए भी कुटीचक नगर या गाव म नहीं जाता है, वरन् भिक्षा मागने वह अपने ही पुत्रों के घर या सम्बन्धियों के घर जाता है। कुटीचक शिखा, सूत्र, त्रिदण्ड और कमण्डल धारण करता है।

(२) बहूदक—उस सन्यासी को कहते हैं जो गरिक वस्त्र धारण करता है। त्रिदण्ड और कमण्डल साथ रखता है। सात श्रेष्ठ ब्राह्मणों के घर से भिक्षा मागता है।

(३) हंस—हंस नामक सन्यासी वन म रहता है। ग्राम म एक रात्रि निवास करता है। नगर मे पाच रात्रि से अधिक निवास नही करता है। एक मास का व्रत करता है। चान्द्रायण व्रत करता है। पितामह के अनुसार एक दण्ड धारण करता है। केवल भिक्षा के लिए गाँव म जाता है। वृक्ष, कन्दरा, नदीतट पर निवास करता है।

(४) परमहंस—वृक्ष के नीचे या श्मशान म निवास करता है। केवल कौपीन धारण करता है या नग्न रहता है। धर्म-अधर्म, पवित्र अपवित्र

२४—चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंस परमहंसश्च यो य पश्चात् स उत्तम ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लो० ८८

स परे, आत्मनिष्ठ होता है। आत्मस्वरूप से सबको समान मानने वाला होता है। चारों वर्णों से भिक्षा लेते हैं।"२५ इन चारों प्रकार के संन्यासियों में एक से एक श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चार प्रकार के संन्यासी मोक्ष प्राप्त करने की चार सीढ़ी के समान हैं। धर्मशास्त्रों में संन्यासी के चार प्रकार मनुष्य की बुद्धि और मन को संयम करने के लिए चार पाठ के समान है। आरम्भ में मनुष्य पुत्रों के द्वारा कुटी बनवाकर पुत्रों के ही अन्न से अपना जीवन व्यतीत करते है और अपनी मोक्ष प्राप्ति के लिए जो नियम ध्यान आदि हैं उनमें लीन रहते हैं। जब इस प्रकार ध्यान में और संन्यास में उनको आनन्द आने लगता है, तब वह दूसरे प्रकार के बहूदक संन्यासी हो जाते हैं। बहूदक गेरुए रंग के वस्त्र धारण करता है और सात श्रेष्ठ ब्राह्मणों के यहां से भिक्षा मांगता है। इस प्रकार पहले पुत्रों के अन्न से, फिर ब्राह्मणों से भिक्षा मांग कर मनुष्य नगर को छोड़ देता है। तीसरे प्रकार का संन्यासी हंस कहलाता है जो अपना घर नगर छोड़कर वन में विहार करता फिरता है। गांव में एक रात ठहरता है तथा नगर में पाँच रात्रि ठहरता है। भ्रमणशील रहता है। अनेक प्रकार के व्रत करके शरीर को दुर्बल कर लेता है।

२५—तत्र कुटीचका गौतमभारद्वाजयाज्ञवल्क्यहारीतप्रभृतीनामाश्रमेऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गतत्त्वज्ञा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ।

बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुकाषायधातुवस्त्रग्रहणवेषधारिणो ब्रह्मर्षिगृहेषु वा येषु साधुवृत्तेषु मांसलवणपर्युषितान्नं वर्जयन्तः सप्तागारेषु भैक्ष्यं कृत्वा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते । हंसानाम ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं वसन्तस्तदुपरि न वसन्तो गोमूत्रगोमयाहारिणो वा मासोपवासिनो वा नित्यचान्द्रायणव्रतिनो नित्यमुत्थानमेव प्रार्थयन्ते । परमहंसा नाम वृक्षमूले शून्यागारे श्मशाने वा वासिनः साम्बरा वा दिगम्बरा वा ।

न तेषां धर्माधर्मौ सत्यानृते शुद्ध्यशुद्ध्यादि द्वैतम् ।

सर्वसमाः सर्वात्मानः समलोष्टकाञ्चनाः सर्ववर्ण्येषु भैक्षाचरणं कुर्वन्ति ।

भिक्षुकोपनिषत्—अध्याय ८९

(शब्दकल्पद्रुम के अनुसार)

कहीं पर भी कुटी आदि बनाकर नहीं रहता। वृक्ष, कन्दरा या नदी तट पर रात्रि होने पर सो जाता है। वन में ही अधिक रहता है। गाँव में केवल एक बार दिन में भिक्षा लेने जाता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही ध्यान करता रहता है। चौथे प्रकार का संन्यासी परमहंस कहलाता है। इसमें मनुष्य तीन सीढ़ी चढ़ चुकता है, तब इस तक आता है। यह मोक्ष प्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी मानी गई है। इस संन्यासी को किस प्रकार का ध्यान नहीं रहता है। वह तो पूर्ण ब्रह्म में लीन अवस्था पर पहुँच जाता है। इसलिए न उसे वस्त्रों का ध्यान रहता है, न भोजन का, न धर्म का न पवित्रता का। इस प्रकार का संन्यासी केवल एक कौपीन धारण करता है चारों वर्णों में से जो भी उसे कुछ भिक्षा दे देता है, उसी को वह ग्रहण कर लेता है। सब जीवों को अपने समान मानने लगता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर संन्यासी श्रेष्ठ माना जाता है। परमहंस संन्यासी ही सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है इस विषय में उमा से महेश्वर ने इस प्रकार कहा कि "इस परमहंस धर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले आत्मज्ञान से बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है। यह परमहंस ज्ञान किसी से निकृष्ट नहीं है। परमहंस ज्ञान के सम्मुख परमात्मा तिरोहित नहीं है। यह दुःख सुख से रहित सौम्य अजर-अमर और अविनाशी पद है।"[२६] परमहंस संन्यासी सदैव अजर अमर और अविनाशी हो जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि उसकी आत्मा इतनी शुद्ध और पवित्र हो जाती है कि वह फिर जन्म नहीं लेता। उसका नश्वर शरीर यहीं रह जाता है किन्तु उसकी आत्मा अजर अमर हो जाती है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाती है। सब कर्मों और बन्धनों से मुक्त होकर सदा के लिए इस असार संसार से मुक्ति पा जाता है। फिर जन्म ग्रहण नहीं करता क्योंकि उसके कुछ कर्म शेष ही नहीं रह जाते हैं, सब कर्मों को पूर्ण करके मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिए परमहंस संन्यासी सबसे श्रेष्ठ संन्यासी होता है।

२६—अतः परतरं नास्ति नावरं न तिरोहितम्।
अदुःखमसुखं सौम्यमजरामरमव्ययम्॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लोक ९०

५—सन्यास के पालन से मोक्षप्राप्ति—

सन्यास आश्रम म पहुँचने समय तक मनुष्य के लिए कोई कर्म शेष नही रह जाता है। यह पूर्ण स्वातन्त्रता की अवस्था है। यह स्वातन्त्र्य ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। संन्यासी जीवन-यात्रा के लिए जो भी कर्म करता है, वे सब अनासक्ति होने के कारण बन्धन नहीं होते। संन्यासी के लिए जप, तप यज्ञ आदि किसी कर्म का विधान नहीं है। ये कर्म भी वान प्रस्थ म पूर्ण हो जाते हैं। इन तपों से उपार्जित आत्मविभूति और ब्रह्म साधना म संन्यासी का स्वतन्त्र और गतिशील जीवन प्रारम्भ होता है। परिव्राजन स्वतन्त्रता का बाह्य लक्षण है। कृतकृत्य और मुक्त हो कर संन्यासी अभय और अमृत हो जाता है। कृतार्थता से उसका जीवन इतना पूर्ण और आनन्दमय हो जाता है कि वह न जीवन की लालसा करता है, न मृत्यु से डरता है और न मृत्यु की इच्छा करता है। कृतकृत्यता और स्वतन्त्रता के द्वारा मृत्युञ्जय अवस्था को प्राप्त होकर संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है। संन्यासी को सिद्धि कैसे प्राप्त होती है इस विषय म ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि 'जो मुनि सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़ कर कर्मों को त्याग चुका है और इन्द्रिय-संयमपूर्वक सदा मौन म स्थित है ऐसा संन्यासी लोक म परम सिद्धि को प्राप्त होता है।"[२७] इसी प्रकार संन्यासी की मोक्षप्राप्ति के विषय म बताते हुए ययाति ने कहा कि 'कामवृत्ति वाले गृहस्थों के बीच ग्राम मे ही वास करते हुए भी जो जितेन्द्रिय और गृहरहित संन्यासी है, वही इन दोनो प्रकार के मुनियों म पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।"[२८] अष्टक ने

---

२७ – यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रिय ।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात्॥
आदिपर्व—अध्याय ९१ श्लो० १४

२८—अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयत ।
ग्राम एव वसन् भिक्षुस्तयो पूर्वतर गत ॥
आदिपर्व—अध्या० ९१, श्लो० २

ययाति से वानप्रस्थ और सन्यास दोनो आश्रमो मे रहने वाले मुनियो के विषय मे पूछा कि कौन मुनि पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। तब ययाति ने कहा कि जो सन्यासी गृहस्थो के बीच मे रहते हुए भी जितेन्द्रिय और घर रहित हैं अर्थात् नगर मे रहते हुए भी जो जितेन्द्रिय हैं, वे सन्यासी सबसे पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं। वन मे रहकर तो सब सन्यासी सयम कर सकते हैं, क्योंकि उन्हे वन मे मन को मोहने वाली वस्तुएँ दिखाई ही नही देती। किन्तु गृहस्थो के बीच मे तथा नगर मे विचरण करने वाले सन्यासी के लिए इन्द्रिय सयम बहुत कठिन तपस्या है। जो इस तपस्या को प्राप्त कर लेता है। वह सब मुनियो मे श्रेष्ठ है और सबसे पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। सन्यासी को स्वर्ग प्राप्ति कैसे होती है इस विषय मे ब्रह्मा जी महर्षियो से कहा कि जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय पञ्चमहाभूत मन बुद्धि अहङ्कार, प्रकृति और पुरुष इन सबका विचार करके इनके तत्त्व का यथावत् निश्चय कर लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनो से मुक्त होकर स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।"[२८] जो मनुष्य तत्त्वो का ज्ञाता हो जाता है तथा एकान्त मे बैठकर परमात्मा का ध्यान करता है, वह आकाश मे विचरनेवाले वायु की भाति सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर पञ्चकोशो से रहित, निर्भय तथा निराश्रय होकर मुक्त एव परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। सन्यासी के मोक्ष के विषय मे उमा को बताते हुए महेश्वर ने इस प्रकार कहा कि "जो युक्तचित्त होकर सन्यासी होता है और और मोक्षोपयोगी कर्मश्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा समय व्यतीत करता हुआ निराहार (विषय सेवन से रहित) और ठूठ काठ की भाँति स्थिर रहता है, उसको सनातन धर्म का मोक्षरूप धर्म प्राप्त होना

२८—इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ।।

मनो बुद्धिरहङ्कारमव्यक्त पुरुष तथा ।

एतत् सर्वं प्रसख्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात् ।।

तत स्वर्गमवाप्नोति विमुक्त सर्वबन्धन ।

आश्वमेधिकपर्व—अध्या० ४६, श्लो० ५४ ५५½

है।"[30] जो संन्यासी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा समय व्यतीत करता है और आहार की भी चिन्ता छोड़ देता है। अथवा वायुभक्षण या केवल जल के पान से जीवन बिताता हुआ ब्रह्म की भावना में ही मस्त रहा जाता है। वह ही सच्चे अर्थ में मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। ऐसा संन्यासी अथवा परमहंस संन्यासी ही मोक्षप्राप्त करके सदा के लिए जन्म मरण के संकट से छूट जाता है और उसका आत्मा अजर अमर होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है।"



३०—स्थाणुभूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा ।
परिव्रजति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः ॥
अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लो० ८६

अध्याय—१६

महाभारत में-दिव्य-धर्म

१—सामाजिक धर्म और दिव्य-धर्म—

भारतीय धर्मशास्त्रों और महाभारत में धर्म के सामाजिक और मानवीय रूप की ही प्रधानता है। 'आत्मौपम्येन' और 'आत्मनः प्रतिकूलानि' के अनुरूप मानवीय समानता और उदार मानवीय भावना इस धर्म के मूल आधार हैं। धर्म का यह रूप भावना की दृष्टि से अत्यन्त मानवीय है तथा व्यवहार के प्रसंग में सामाजिक है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में इस धर्म के अन्तर्गत जो लक्षण, गुण, कर्त्तव्य आदि बताये गये हैं वे मनुष्यता की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य के अमूल्य अलंकार हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ये सामाजिक हैं। सामाजिक व्यवहार और सम्बन्ध में ही ये लक्षण और गुण चरितार्थ होते हैं। व्यक्ति के शील की दृष्टि से ये मनुष्य के व्यक्तित्व को गौरवमय बनाते हैं। इन गुणों का सामाजिक फल दूसरों को प्राप्त होता है। जिस प्रकार वृक्षों के फल दूसरों को लाभ देते हैं उसी प्रकार धर्मशीलों के गुण भी दूसरों के उपकारक होते हैं। व्यक्तित्व का मानवीय गौरव और परोपकार ये दो धर्म की इस धारणा के मुख्य पक्ष हैं। परोपकार ही मानवीयता का मुख्य रहस्य है। दूसरों के प्रति उपकार की भावना धर्म के सभी लक्षणों में ओत प्रोत है। इसी भावना से धर्म की इस धारणा में उदारता, दया आदि के मानवीय भाव उदित होते हैं। धर्म के सामान्य लक्षणों का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के आरम्भिक छः अध्यायों में किया गया है। समाज की व्यवस्था के अनुसार धर्म के इस सामान्य रूप के अनेक विशेष रूप बन जाते हैं। प्राचीन समाज-व्यवस्था वर्णाश्रम पर अवलम्बित थी। अतः वर्णों और आश्रमों के विभाजन के अनुरूप ही धर्म के विशेष रूप निर्धारित हुए हैं। धर्म के इन विशेष रूपों का विवरण पिछले बारह अध्यायों में विस्तार के साथ किया गया है।

धर्म के ये सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के रूप मानवीय और सामाजिक हैं। यदि हम ईश्वर को दिव्य और अलौकिक मानें, तो धर्म के इन रूपों को लौकिक भी कह सकते हैं। धर्म के जिस रूप की महाभारत और धर्मशास्त्रों में प्रमुखता है, वह लौकिक, सामाजिक और मानवीय है। ईश्वर से उस धर्म का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। धर्म के प्रसंग में धर्मशास्त्रों और महाभारत में ईश्वर के नाम का उल्लेख नहीं है। धर्म का यह रूप मनुष्य के प्रति मनुष्य के भाव तथा मनुष्य के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध एवं व्यवहार में चरितार्थ होता है। ईश्वर के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध का इसमें कोई विशेष स्थान नहीं है। यदि ईश्वर के किसी विशेष रूप का आग्रह न करके ईश्वर को परम-आत्मा के रूप में मानें तो धर्मशास्त्रों और महाभारत के इस मानवीय धर्म को भी ईश्वरीय धर्म कहा जा सकता है। किन्तु यह ईश्वरीय धर्म मूलतः मानवीय ही रहता है। क्योंकि आत्मा दिव्य होते हुए भी मानवीयता का मूल आधार है। ईश्वरीय धर्म का यह रूप धर्म के उन रूपों से भिन्न है जो भारतवर्ष के पश्चिम में विकसित हुए हैं तथा जिनमें ईश्वर, पैगम्बर, धर्मग्रन्थ, उपासना आदि के एक विशेष रूप को ही सत्य माना जाता है। ये धर्म अंग्रेजी के रिलीजन के पर्याय हैं। भारतीय धारणा के अनुसार इनको सम्प्रदाय कहना अधिक उचित होगा। इनकी धारणा बहुत संकुचित है। दूसरी धारणाओं के विरोध तथा अपनी धारणाओं के आग्रह एवं प्रचार की दृष्टि से इन धर्म-सम्प्रदायों को अमानवीय भी कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता और समानता मानवीयता के दो मूलमन्त्र हैं। इन धर्म सम्प्रदायों में इन दोनों का खण्डन किया गया है। ये धर्म सम्प्रदाय अपने को अत्यन्त श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु इनके समर्थकों तथा आलोचकों में किसी ने भी मानवीयता के उक्त मर्म की दृष्टि से इनका मूल्यांकन करने का साहस नहीं किया। इस मौलिक आत्मविरोध को छोड़कर इन सम्प्रदायों में भी मानवीय और सामाजिक तत्व हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु भिन्न धारणा वालों के प्रति इनका दृष्टिकोण इतना अनुदार है कि ये मानवीय तत्व निष्फल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सीमित अर्थ में मानवीय और सामाजिक होने के साथ-साथ इन सम्प्रदायों में ईश्वर और उपासना सम्बन्धी आग्रहों का प्रभुत्व है।

इसके विपरीत धर्मशास्त्रों के धर्म में उदार मानवीयता और सद्भावपूर्ण सामाजिकता ही प्रधान है। ईश्वर के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध का विशेष उल्लेख भी धर्मशास्त्रों में नहीं है। किन्तु महाभारत में श्रीकृष्ण के प्रभाव के कारण तथा अन्य ईश्वरीय तत्वों के कारण दिव्य धर्म का सम्बन्ध अधिक

आन्तरिक एव घनिष्ठ है। महाभारत के सचालक श्रीकृष्ण हैं। वे भगवान विष्णु के अवतार माने जाते हैं। डा० सुक्थनकर का मत है कि महाभारत म सवत्र श्रीकृष्ण को भगवान माना गया है।[1] सभी पाण्डव और द्रौपदी उन्ह भगवान मानते हैं। श्रीकृष्ण की महिमा महाभारत में सवत्र व्याप्त है। नारायण की वन्दना करके ही महाभारत की कथा आरम्भ होती है।[2] श्रीकृष्ण की महिमा की दृष्टि से महाभारत म धम के दिव्य, अलौकिक और ईश्वरीय रूप का महत्त्व भी बहुत है यद्यपि उसके अधिकाश विस्तार में सामाजिक धम का ही विवरण है। गीता को महाभारत का आन्तरिक अग मान लेने पर ईश्वरीय धम का महत्व महाभारत म अधिक बढ जाता है। गीता मे श्रीकृष्ण का भगवत् रूप अधिक स्पष्ट है। गीता म ईश्वर भक्ति का महत्व भी बहुत है। महाभारत मे अन्य स्थानो पर भी भक्ति की महिमा मिलती है। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारो की चर्चा भी महाभारत म आती है। अवतारो के अतिरिक्त शिव आदि अन्य देवताओ के प्रसग भी महाभारत म आते हैं। ईश्वर, अवतार और देवताओ के अतिरिक्त तीथ व्रत आदि आचारो की चर्चा भी महाभारत मे है। ये भी दिव्य अथवा ईश्वरीय धम के अग हैं। इस प्रकार दिव्य अथवा ईश्वरीय धम का भी महाभारत म मुख्य स्थान है यद्यपि उसम मानवीय और सामाजिक धर्म की ही प्रधानता है।

किन्तु महाभारत के इस दिव्य और ईश्वरीय धम म पश्चिमी धम-सम्प्रदायो के समान सकीणता और अनुदारता नही है। महाभारत का यह दिव्य धम उस सामाजिक धम के समान ही उदार और मानवीय है जिसका विवरण पिछले अध्यायो म विस्तार के साथ किया गया है। दिव्य धम का यह रूप धम के उस सामान्य मानवीय सिद्धान्त के अनुरूप है जो धमशास्त्रो

१—डा० सुक्थनकर मीनिंग आव महाभारत—
पृष्ठ ६३ ६७

२—नारायण नमस्कृत्य नर चव नरोत्तमम्।
भारत का मगलाचरण

और महाभारत म सामाजिक धम का मूल आधार माना गया है। यह सिद्धात मानवीय स्वत त्रता और समानता का उन्नार सिद्धा त है। इसके अनुरूप होने पर दिव्य धम अपनी अलौकिकता और आध्यात्मिकता म रहते हुए भी मानवीय बन जाता है। पश्चिमी धम-सम्प्रदायो की तुलना म महाभारत का दिव्य धम उनसे बहुत भिन्न है। पश्चिमी धम सम्प्रदायो मे ईश्वर, पगम्बर, धम ग्रन्थ उपासना आदि की एकरूपता का अनुरोध है। महाभारत के दिव्य धम म इस एकरूपता का अनुरोध नही है। उसम अनेक देवताओ की उपासना को आदर दिया गया है। यह अनेकरूपता भारतीय दिव्य धम का सामान्य लक्षण है जो महाभारत के दिव्य धम म भी पाया जाता है। इस अनेकरूपता का स्रोत सामाजिक धम के उस सामान्य सिद्धा त मे मिलता है, जो समानता और स्वतन्त्रता को आदर देता है। स्वतन्त्रता का आदर धार्मिक आचार म परोपकार बन जाता है। यह उदारता और सहिष्णुता को जन्म देता है जिनक द्वारा समाज मे ईश्वर तथा देवता और धमग्रन्थो की अनेकता सम्भव होती है। दिव्य धम के भारतीय रूपो म कही भी अपने प्रचार और दूसरों के विरोध का आग्रह नही है। इसी कारण वह दिव्य धम मानवीय भी है। दिव्यधम की यह मानवीयता मनुष्य और ईश्वर की उस आन्तरिक और आत्मिक एकता को चरिताथ करती है जो भारतीय दिव्य धम का एकमूल सिद्धा त है तथा जो पश्चिमी धम सम्प्रदायो के मनुष्य और ईश्वर की भिन्नता के सिद्धा त से भिन्न है।

सामाजिक और नतिक धर्म का यह दिव्य एव अलौकिक आधार उसे एक आध्यात्मिक अवलम्ब प्रदान करता है। अवतार और देवताओ के रूप म यह अवलम्ब अधिक स्पष्ट और आश्रयणीय बन जाता है। भगवान की दिव्य सत्ता धम म विश्वास को प्रेरित करती है। भगवान, अवतार और इष्ट देवता क एक पूर्ण आदश क रूप म मनुष्य को धम की प्रेरणा देते हैं। महाभारत म श्रीकृष्ण की साक्षात् उपस्थिति सम्पूर्ण कथा और जीवन को ईश्वरीय प्रेरणा म ओत प्रोत करती है। भारतीय परम्परा म तीर्थ धम के दिव्य तत्त्व और प्रभाव को भूमि पर स्थायी बनाते हैं। तीर्थ धम क दिव्य स्थल है। देवताओं की प्रतिष्ठा स व पुण्य विभूति स विभूषित होते हैं। महाभारत म तीर्थों का भी वर्णन है। ये तीर्थ ईश्वर और मनुष्य तथा वकुण्ठ और पृथ्वी के बीच सेतु का काय करते हैं। व्रत और तपधम की साधना के आध्यात्मिक एव व्यक्तिगत उपाय हैं। जन-सगम क द्वारा तीर्थ धम क सामाजिक प्रभाव का

फैलाते हैं। व्रत और तप धर्म के आंतरिक पक्ष की पूर्ति करते हैं। नैतिक धर्म भी आचार है। दिव्य एवं आध्यात्मिक पक्ष में वह धर्म "साधना" बन जाता है। "तप" उस साधना का सामान्य रूप है। 'व्रत' भी साधना ही है। वह भी तप के समान त्यागमय होता है। किन्तु समय, देवता आदि के संयोग व्रतों के निमित्त बनाकर उन्हें सांस्कृतिक बना देते हैं। भगवान तीर्थ और साधना की यह त्रिवेणी धर्म के रूप को पूर्ण बनाती है।

२-श्रीकृष्ण की महिमा—

महाभारत कौरव-पाण्डवों के युद्ध की कथा है किन्तु उसके संचालक श्रीकृष्ण हैं। सारथी बनकर वे एक रूपक बन गये हैं। सारथी रथ का संचालन करता है, किन्तु महाभारत के नायक अर्जुन के सारथी बनकर श्रीकृष्ण महाभारत के युद्ध के संचालक बन गये हैं। वसुदेव के पुत्र होने के नाते श्रीकृष्ण को इतिहास पुरुष कहा जा सकता है। किन्तु भारतीय परम्परा में वे भगवान के अवतार बन गये हैं। वे विष्णु के पूर्ण अवतार माने जाते हैं। चरित्र के दिव्य गुणों की महिमा से श्रीकृष्ण भगवान बने। सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, नीति, बल, अस्त्रविद्या, कला आदि सब में वे अतुलनीय थे। बाल्यकाल में ही कंस चाणूर जैसे मल्लों का मर्दन किया था। गदा, धनुष, चक्र आदि के संचालन में उनके समान कोई नहीं था। इसके अतिरिक्त नृत्य, रास वंशी आदि श्रीकृष्ण के चरित्र के कलात्मक पक्ष थे। इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न श्रीकृष्ण अपने अद्भुत और अद्वितीय गुणों से श्रीकृष्ण अपने सहज अधिकार से भगवान बने। पुराण आदि ग्रन्थों की धार्मिक परम्परा में श्रीकृष्ण को भगवान माना गया है। वे विष्णु के पूर्णावतार हैं। महाभारत में भी श्रीकृष्ण सर्वत्र ही भगवान के रूप में ही मान्य हैं। डा० सुकथनकर ने अपने ग्रन्थ में बड़े विश्वास के साथ कहा है कि महाभारत में कोई ऐसा श्लोक नहीं है जो श्रीकृष्ण को भगवान के अवतार के रूप में स्वीकार नहीं करता।[३] महाभारत

३-डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत पृष्ठ ६३

के पाठ के आरम्भ में ही नारायण की वन्दना की जाती है।[४] आगे चलकर महाभारत में अनेक स्थानों पर यह बताया गया है कि अर्जुन और श्रीकृष्ण ही नर और नारायण हैं। महाभारत के अनेक पात्रों ने अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण के भगवत् स्वरूप का वन्दन किया है।

आदिपर्व के प्रथम अध्याय में सौति ने कहा है कि महाभारत में भगवान वासुदेव का कीर्तन किया गया है, जो शाश्वत ब्रह्म तथा परम ध्रुव ज्योति हैं।[५] हरिहर सुभाषित में श्रीकृष्ण के यश को भारतसरोवर का लीलामय हंस बताया गया है। उक्त सुभाषित का सुंदर रूपक इस प्रकार है—व्यास की वाणी के अमृत से पूर्ण यह महाभारत नामक सरोवर सुशोभित हो रहा है। अनेक क्षत्रियकुल कुसुम कमल के समान हैं। उनके बीच में श्रीकृष्ण का उज्ज्वल यश हंस के समान विलसित होता है।[६] आदि पर्व में ही श्रीकृष्ण के जन्म के प्रसंग में उनको जगत का कर्ता स्वामी, ब्रह्म आदि कहा गया है।[७] खाण्डव वन के दाह के प्रसंग में ब्रह्माजी ने अग्नि को

४—नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
मंगलाचरण

५—भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्॥
आदिपर्व—अध्याय १, श्लोक २५६ ५६३

६—भारताख्यं सरो भाति व्यासवागमृतैस्तम्।
यत्र क्षत्रकुलाब्जेषु हंसीयति हरेर्यशः॥

७—अनुग्रहाय लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः।
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः॥
आदिपर्व-अध्याय ६३, श्लोक ९९, ९९३

सम्बोधित करते हुए अर्जुन और श्रीकृष्ण को नर-नारायण बताया है।[८] आकाशवाणी के द्वारा भी इस तथ्य का समर्थन हुआ है।[९] आदिपर्व में ही कुन्ती ने गोविन्द को अनाथों का नाथ कहा है।[१०] सभापर्व में भीमसेन ने भगवान श्रीकृष्ण से सनाथ होने के कारण जय की आशा की है।[११] सभापर्व में राजसूययज्ञ के प्रसंग में भी श्रीकृष्ण का भगवान के रूप में स्मरण किया गया है।[१२] राजसूययज्ञ के ही प्रसंग में जब आगत राजाओं के अभ्यर्थना का प्रसंग उठा, तो युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से पूछा कि सर्वप्रथम पूजा के योग्य कौन है, तब उन्होंने यही निर्णय दिया कि तेज बल पराक्रम आदि से

८—नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
अर्जुन वासुदेव च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते॥
आदिपर्व—अध्याय २२३, श्लोक ८ ८½

९—वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम।
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ विविश्रुतौ।
आदिपर्व—अध्याय २२७, श्लोक १८

१०—त्वया नाथेन गोविन्द दुःख तीर्ण महत्तरम्।
त्वं हि नाथस्त्वनाथाना दरिद्राणां विशेषत॥
आदिपर्व—अध्याय २०६, श्लोक ५१ के बाद का

११—त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्व प्राप्स्यति धर्मराट्।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषा नाथो भवान्सदा।
सभापर्व—अध्याय १५, श्लोक १३

१२—साक्षात् स विबिधाश्चिन्त्य क्षत्रे नारायणो विभुः।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञरोऽजयतमीश्वरम्॥
सभापर्व—अध्याय ३६, श्लोक १३–२०

श्रीकृष्ण ही तीनों लोकों में प्रथम पूजनीय हैं।[१३] इसी प्रसंग में भीष्मपितामह ने भगवान श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन विस्तार के साथ किया है और उन्हें सब लोकों में श्रेष्ठ बताया है।[१४] चीरहरण के समय द्रौपदी ने भगवान के रूप में ही श्रीकृष्ण का स्मरण किया है। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को गोविन्द, रमानाथ, विश्वात्मन् आदि नामों से पुकारा है।[१५] वनपर्व में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्वयं कहा है कि मैं नारायण हूँ, तुम नर हो।[१६] वनपर्व में द्रौपदी ने भी श्रीकृष्ण से कहा है कि तुम धर्मशीलों की गति हो, तुम प्रभु हो। पृथ्वी

१३-एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
सभापर्व—अध्याय ३६, श्लोक २८

१४-ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम्॥
सभापर्व—अध्याय ३८, श्लोक २६

१५-गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
सभापर्व—अध्याय ६८, श्लोक ४१, ४२, ४३

१६-नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥
वनपर्व—अध्याय १२, श्लोक ४६

सूर्य, आकाश एव तुमम प्रतिष्ठित हैं । [१७] द्रौपदी के ये वचन गीता के समानार्थक वचनो का स्मरण दिलाते हैं ।[१८] वन म युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेय ऋषि ने श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया है, उन्होने श्रीकृष्ण का पुराणपुरुष, शाश्वत, निर्गुण, कर्त्ता आदि कहा है ।[१९] वनपर्व मे ही जब जयद्रथ ने गगाद्वार म तपस्या करके शिव से वरदान मागा तब उन्होंने श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया ।[२०] सजय ने भी धृतराष्ट्र से श्रीकृष्ण की की महिमा का वर्णन किया है ।[२१] भीष्मपर्व म अर्जुन ने युधिष्ठिर म कहा

---

१७ सर्वधर्मोपपन्नाना त्व गति पुरुषर्षभ ।
त्व प्रभुस्त्व विभुश्च त्व भूतात्मा त्व विचेष्टसे ।।
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्व प्रतिष्ठितम् ।।
वनपर्व—अध्याय १२, श्लोक ५७ ५८

१८—श्री भगवद्गीता—अध्याय ४ श्लोक ६ १०
वही—अध्याय ९, श्लोक ४ ५

१९—हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ।।
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
वनपर्व—अध्याय १८८, श्लोक १७ २१½

२०—देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णु सुरगुरु प्रभु ।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ।।
वनपर्व—अध्याय २७२, श्लोक ३१

२१—कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च ।
ईशते भगवानेक सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।।
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरि ।
उद्योगपर्व—अध्याय ६८, श्लोक १३ १४

है कि अनन्ततेज वाले गोविन्द हमारे सहायक हैं, हमारी जय होगी। वे सनातन पुरुष हैं।[२२] शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को भगवान श्रीकृष्ण की शरण में जाने का उपदेश दिया है और उनको सबकारणों का कारण बताया है।[२३] अनुशासनपर्व में शिव ने श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया है।[२४] धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर श्रीकृष्ण ने अनुगीता पर्व में स्वयं अपनी महिमा का वर्णन विस्तार से किया है।[२५]

२२–अनन्ततेजा गोविन्द शत्रुपूगेषु निर्व्यथ ।
पुरुष सनातनमयो यत कृष्णस्ततो जय ॥
भीष्मपर्व—अध्याय २१ श्लोक १४

२३–तस्माद् व्रज हृषीकेश कृष्ण देवकिनन्दनम् ।
एतमाराध्य गोविन्द गता मुक्ति महर्षय ।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम् ॥
शान्तिपर्व–अध्याय २०७, श्लोक ४६ से आगे का

२४–पितामहादपि वर शाश्वत पुरुषो हरि ।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदित ॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेश सर्वदैवतपूजित ॥
नायक सर्वभूताना सर्वदिवनमस्कृत ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४७, श्लोक २ ३ ११

२५—यद् भूत यद् भविष्यच्च तत् सर्वमहमेव तु ॥
मया सृष्टानि भूतानि भव्यानि च भारत।
मामेव न विजानन्ति मायया मोहितानि व ।
एष हि जगदिद सदेवासुरमानुषम् ।
मत्त प्रभवत राजन् मय्येव प्रविलीयत ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ९२, श्लोक ५३ से आगे

इस प्रकार महाभारत म सवत्र श्रीकृष्ण की दिव्य महिमा व्याप्त है। महाभारत म वे सवत्र भगवान के रूप म वन्दित हैं। पश्चिमी विद्वानो का मत है कि श्रीकृष्ण की प्रभुता को महाभारत म बाद म आरोपित किया गया है। श्री रमेशचन्द्रदत्त का भी ऐसा ही मत है। किन्तु महाभारत के वतमान रूप मे श्रीकृष्ण की महिमा सवत्र व्याप्त है। श्रीकृष्ण के बिना महाभारत की कल्पना नही की जा सकती। व महाभारत की आत्मा हैं, जिस प्रकार कि वे जगत की आत्मा हैं। अत महाभारत के वतमान रूप म श्रीकृष्ण की प्रभुता को स्वीकार करना ही उचित है। श्रीकृष्ण का चरित वतमान महाभारत का अभिन्न अग है। श्रीकृष्ण की यह महिमा महाभारत म दिव्यधम के स्थान का महत्वपूण बनाती है। किन्तु जसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारतीय परम्परा म दिव्य अथवा ईश्वरीय धम भी धमशास्त्र के मानवीय और सामाजिक धम के अनुकूल है। दिव्यधम म जिन रूपा म भगवान की वन्दना की गई है, उनम न भगवान के एकरूप का आग्रह है और न कही भगवान के दूसरे रूपा को मानने वालो को विरोधी कहकर वध का अधिकारी बताया है। भारतीय परम्परा क अन्य ईश्वरीय धम सम्प्रदाया के समान ही महाभारत का श्रीकृष्ण की महिमा स ओतप्रोत दिव्यधम भी आग्रह सकोच प्रचार आदि क उन दोषा से मुक्त है जो श्रेष्ठता के अभिमानी पश्चिमी धर्मो क कलक हैं। श्रीकृष्ण के चरित्र और गुणा की श्रेष्ठ मानवीयता और उदारता इस दिव्य धम को अत्यन्त मानवीय भी बनाती है। श्रीकृष्ण के चरित्र क सम्बन्ध म जो आक्षेप उठाये जात है उनका अनेक प्रकार से समाधान किया जाता है। कौरवो की गम्भीर अनीतियो की तुलना म श्रीकृष्ण की कूटनीति के युद्ध ममस्थल व्यावहारिक नीति की सीमा के अन्तगत आते हैं।[२६]

३—अन्य अवतार और देवता—

महाभारत म श्रीकृष्ण की ही महिमा अधिक व्याप्त है जसा कि पिछले प्रकरण के प्रसगा से विदित होता है। किन्तु श्रीकृष्ण के अतिरिक्त

२६—डा० सुकथनकर मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ १७

अन्य अवतारो और देवताओ की चर्चा भी महाभारत में मिलती है। विष्णु और उनके अवतारो के अतिरिक्त शिव, शक्ति तथा अन्य देवताओ का वर्णन भी महाभारत मे मिलता है। देवताओ की चर्चा वेदो से ही मिलती है। वेदो में अनेक देवताओं की उपासना का वर्णन है। उनको एक ही सत्ता के भिन्न भिन्न रूप भी बताया गया है।[27] आगे चलकर पौराणिक युग में ब्रह्मा विष्णु, महेश की त्रिपुटी तथा विष्णु के अवतारो की प्रतिष्ठा हुई। तथापि देवताओ की चर्चा भी चलती रही। तेतीस देवताओ की गणना महाभारत मे इस प्रकार मिलती है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और दो अश्विन्।[28] ब्रह्मा का प्रसंग महाभारत में कई स्थानो पर आता है।[29] विष्णु और शिव दो प्रधान देवता हैं। विष्णु की महिमा भारतीय धर्म परम्परा में बहुत रही है। विष्णु के अवतार भारतीय समाज के अत्यन्त लोकप्रिय देवता

२७—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—

२८—एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥
इत्येते द्वादशादित्या काश्यपेया इति श्रुतिः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।
नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १५० श्लो० १३,१४½,१७

२९—पाणिभ्यां प्रतिजग्राह तान्यथूणि पितामहः ।

द्रोणपर्व—अध्या० ५३, श्लो० २२½

ब्रह्मत्व प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥

आदिपर्व—अध्या० २०, श्लो० १०

है।[3] शान्तिपर्व म अध्याय ३३६ म विष्णु के दशअवतारा का विस्तृत वर्णन किया गया है। ये दश अवतार इस प्रकार हैं – मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण और कल्कि। महामुनि नारद से भगवान् ने कहा कि मेरा पहला अवतार मत्स्य रूप म होगा, जो महासागर म डूबते हुए लोको और वेदो की भी रक्षा करेगा। दूसरा अवतार कूर्म अर्थात् कच्छप का होगा। जब देवता अमृत के लिए क्षीरसागर का मन्थन करेगे तब मैं अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण करूँगा। प्राणियो और समुद्र से घिरी हुई पृथिवी जब भारी भार से दब कर घोर महासागर म निमग्न हो जायगी, उस समय मैं वराहरूप धारण करके पुन इसे अपने स्थान पर ला दूँगा। उसी समय बल के घमण्ड म भरे हुए हिरण्याक्ष दैत्य का वध करूँगा। देवताओ के कार्य के निमित्त नरसिंह रूप धारण करके यज्ञ नाशक दितिनन्दन हिरण्यकशिपु का सहार करूँगा। विरोचन के बलवान् पुत्र बलि नामक दैत्य होगा जो त्रिलोकी का अपहरण कर लेगा। देवता, असुर तथा सम्पूर्ण लोक भी उसे न मार सकेंगे इन्द्र को राज्य से भ्रष्ट कर देगा। तब मैं कश्यपजी के अश और अदिति के गर्भ से बारहवाँ आदित्य वामन बनकर प्रकट होऊँगा और बलि के यज्ञमण्डप मे जाकर तीन पग भूमि माँगूगा। तीन पगो से त्रिलोकी को नापकर सारा राज्य अमिततेजस्वी इन्द्र को समर्पित कर दूँगा, इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओ को अपने अपने स्थानो पर स्थापित कर दूँगा और दानव बलि पातालनिवासी बन जायेगा। फिर त्रेतायुग म भृगुकुलभूषण परशुराम के रूप म प्रकट होऊगा और सेना तथा सवारियो से सम्पन्न क्षत्रिय कुल का सहार कर डालूँगा। उसके बाद त्रेता और द्वापर की सन्ध्या उपस्थित होगी, उस समय दशरथनन्दन राम के रूप म अवतार लूँगा और इन्द्र के तुल्य पराक्रमी वानरो की सहायता से भयकर राक्षसराज रावण को गणो सहित मार डालूँगा। फिर द्वापर और कलि का सधि का समय बीतते बीतते

३०—मत्स्य कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामन ।
राम रामश्च रामश्च कृष्ण कल्की च ते दश ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ३३६ श्लो० ७६ से आगे

कंस का वध करने के लिए मथुरा में मेरा अवतार होगा। उस समय कंस, केसी, कालासुर, अरिष्टासुर, धेनुकासुर तथा वृषभरूपधारी अरिष्ट को मारकर कालियनाग को वश में करके गोकुल में इन्द्र के वर्षा करते समय गौओं की रक्षा के लिए महान् पर्वत गोवर्धन को सात दिन रात अपने हाथ से छत्र की भाँति धारण करूँगा। इसके बाद अनेक राक्षसों का संहार करके धर्मात्माओं का उद्धार करूँगा। धर्मपुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल का वध करूँगा। अर्जुन मेरा सखा होगा। मैं राजा युधिष्ठिर सहित उनके भाइयों सहित पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करूँगा। 'श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनुरुद्ध इन चार स्वरूपों का धारण करने वाला मैं असंख्य कर्म करके ब्रह्माजी के द्वारा सम्मानित अपने धाम को चला जाऊँगा।"[३१]

इनमें राम और कृष्ण तो भक्तों के परम आराध्य हैं। कृष्ण की महिमा तो महाभारत में सर्वत्र व्याप्त है। महाभारत में मिलने वाले श्रीकृष्ण के असंख्य प्रसंगों में मुख्य मुख्य प्रसंगों का विवरण पिछले प्रकरण में किया गया है। श्रीराम की कथा वनपर्व में २७५ अध्याय से लेकर २८१ अध्याय तक मिलती है। विष्णु के अन्य अवतारों में परशुराम वराह आदि के प्रसंग महाभारत में मिलते हैं। परशुराम की कथा कई प्रसंग में मिलती है। राम और परशुराम के युद्ध का वर्णन वनपर्व के ९९वें अध्याय में मिलता है। राम के दिव्य रूप का वर्णन इसी प्रसंग में बड़े विराट रूप में मिलता है[३२] जो गीता के विश्वरूप दर्शन का स्मरण दिलाता है। महाभारत में राम को

३१—कर्माण्यपरिमेयाणि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ।
कृत्वा लोकान् गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् ॥

शान्तिपर्व—अध्याय ३३८, श्लो० १०२½

३२—वनपर्व—अध्याय ९९, श्लो० ५६ से ६० तक

विष्णु का अवतार ही माना गया है।[33] परशुराम के चरित्र के अन्य प्रसंग भी वनपर्व म अध्याय ११६ म मिलते हैं। वराह अवतार की कथा शान्तिपर्व के २०६ अध्याय मे मिलती है। इसम वराह को विष्णु का अवतार बताया गया है।[34]

शिव की महिमा भी महाभारत में अनेक स्थानो पर गाई गई है। अनुशासन पर्व मे शिव ने श्रीकृष्ण को वरदान दिया है।[35] अनुशासनपर्व के १७वें अध्याय म शिव का सहस्रनाम भी दिया गया है। शिव की स्तुति करते हुए उपमन्यु ने शिव को सब देवताओ मे श्रेष्ठ बताया है। अर्जुन आदि ने शिव से अस्त्र भी प्राप्त किये हैं। लिंग रूप म शिव की पूजा के संकेत भी महाभारत म मिलते हैं। द्रोणपर्व म लिखा है कि शिव के अन्य रूपो की अपेक्षा लिंगरूप से शिव की पूजा करना अधिक महत्त्व का और अधिक फलवान है। लिंग की पूजा करने वाला मनुष्य महती सम्पत्ति को प्राप्त करता है।[36]

३३—तत स भगवान् विष्णुस्त व बाण मुमोच ह ।
वनपर्व—अध्या० ९९, श्लो० ६१

३४—एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराह रूपमास्थितः ।
शान्तिपर्व—अध्या० २०६, श्लो० ३०

३५—नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसम गति ।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १४, श्लो० ९१

३६– पूजयेद् विग्रह यस्तु लिंग चापि महात्मन ।
लिङ्ग पूजयिता नित्य महतीं श्रियमश्नुते ॥

द्रोणपर्व—अध्याय २०२, श्लो० १४०

शिव के साथ शक्ति का वर्णन भी महाभारत म मिलता है। युद्ध के आरम्भ म श्रीकृष्ण के आदेश से अर्जुन ने दुर्गा की स्तुति की है। भीष्म पर्व क अध्याय २३ म यह दुर्गा स्तोत्र मिलता है। इसम दुर्गा के पराक्रमा का निरूपण है तथा दुर्गासप्तशती के अनुरूप श्री और सरस्वती के साथ उनका एकतामाव दिखाया गया है। विराटपर्व के आरम्भ म भी दुर्गा का स्तोत्र है। उसम दुर्गा को विन्ध्यवासिनी और महिषासुरमर्दिनी कहा गया है।[३७]

शिव के पुत्र गणेश और स्कन्द का वर्णन भी महाभारत म है। गणेश तो महाभारत के लेखक ही हैं। आदिपर्व क आरम्भ म उनका प्रसंग आता है।[३८] स्कन्द का वर्णन महाभारत म दो स्थाना पर मिलता है। वनपर्व क २३६ अध्याय म स्कन्द की उत्पत्ति का वर्णन है और अगले अध्याया म उनके पराक्रमा का वर्णन है। इनम महिषासुर वध मुख्य है। अनुशासनपर्व के अध्याय ८३ म तारकासुर वध की कथा है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओ की चर्चा महाभारत म मिलती है। तीना देवताओ की समष्टि क रूप म दत्तात्रेय का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। वनपर्व के ११५ अध्याय म ऐसा वर्णन मिलता है कि सहस्रार्जुन को दत्तात्रेय क प्रसाद से एक स्वर्णिम विमान प्राप्त हुआ था। शान्तिपर्व क अध्याय ४८ म यही कथा है। अनुशासनपर्व के ९१ अध्याय म दत्तात्रेय को अत्रि का पुत्र बताया है।[३९] किन्तु महाभारत

३७—विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थान हि शाश्वतम् ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि ।

विराटपर्व—अध्या० ६, श्लो० १७,१५

३८—लेखको भारतस्यास्य भव त्व गणनायक ।

आदिपर्व—अध्या० १ श्लो० ७६½

३९—स्वायम्भुवोऽत्रि कौरव्य परमर्षि प्रतापवान् ।
तस्य वंशे महाराज दत्तात्रेय इति स्मृतः ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ९१, श्लो० ४

मे दत्तात्रय के जन्म की कथा नही है। इनके अतिरिक्त इन्द्र अग्नि आदि वदिक दवताओ के प्रसग भी महाभारत म आते हैं। महाभारत के इस बहु देववाद का मूल वदिक बहुदेववाद मे ही मिलता है। इन अनक देवताओ को एक ही परम सत्ता के विभिन्न रूप माना जाता है। ऋग्वेद का 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का सूत्र भारतीय दिव्य धम का मूल सूत्र रहा है। यह सूत्र अनेक देवताओ की कल्पना को एकसूत्रता दता रहा है। इसके साथ साथ यह भारतीय एकेश्वरवाद को कठोरता से बचाकर उदार बनाता रहा है। भारतीय धम की यह उदारता पश्चिमी एकेश्वरवादो की आग्रहपूण कठोरता और अनुदारता से तुलनीय है। अनक देवताओ की कल्पना उपासना की स्वतत्रता प्रदान करती है। महाभारत आदि म जहाँ इन दवताओ की महिमा का वणन है, वहा कोई कठोर आग्रह नही है तथा अय दवताओ के उपासको की निदा नही की गई है और उन्हें अधार्मिक नही कहा गया है। एक ही सत्ता के अनेक रूपो के प्रतिनिधि अनेक दवता भारतीय धम को समृद्ध उदार और अभिनदनीय बनाते हैं।

४–महाभारत मे तीर्थ—

देवताओ और अवतारो के तीथ नतिक तथा दिव्य धम का सगम सम्भव बनाते हैं। तीर्थों की प्रतिष्ठा से धम का सस्कृति और समाज म भी समन्वय होता है। इसीलिये भारतीय धम-परम्परा मे तीर्थों का महिमा बहुत है। जिस प्रकार देवता और अवतार अनेक है, उसी प्रकार तीथ भी अनेक हैं। एक देवता और एक अवतार के अनेक तीथ दश म फल हुये हैं। इन तीर्थों के द्वारा वैकुण्ठ की दिव्य विभूति भारत की पवित्र भूमि पर अवतीण होता है।

प्राचीन काल म धम और अध्यात्म की साधना के पीठ वना म ही थे। वय-आश्रमो के एकान्त और शान्तिपूण वातावरण म तप और साधना करने वाले मुनियो की प्रतिभा से ही धम और अध्यात्म का पथ प्रकाशित हुआ है। प्राचीन काल म यह आरण्यक आश्रम भी धम क तीथ थे। इस उष्ण देश म नदिया अमृत की धारायें थी। गम दश होने के कारण भारत वष म जल का बडा महत्त्व है। इसलिए यहा के अधिकाश तीथ नदिया के तट पर ही बने हुए हैं। नदिया पवतो से निकलती हैं निझरा और नदिया

के उद्गम होने के कारण पर्वत भी धर्म और संस्कृति के पीठ बन गये हैं। हिमालय के शीतल अंचल में अनेक मुनियों के आश्रम थे। पर्वत और नदी तटों के सघन और शान्तिपूर्ण क्षेत्र अध्यात्म की साधना के पीठ और धर्म की आराधना के तीर्थ बने। भारतवर्ष में देवताओं और सम्प्रदायों की विपुलता का कारण धर्म पर संस्कृति का ही प्रभाव है। ये देवता प्रकृति के असंख्य पीठों में असंख्य रूपों में प्रतिष्ठित हुए। प्रकृति के अंचल में प्रत्येक सम्प्रदाय का तीर्थ बना। इन तीर्थों की यात्रा धार्मिक उपासना और आराधना का आवश्यक अंग बन गई। नागरिक सभ्यता के क्षेत्र प्रकृति के इन तीर्थों से दूर होने गये। नदियों के मैदानों में कृषि का विस्तार हुआ तो असंख्य ग्राम बस गये और ये ग्राम भी नगरों की भाँति इन प्रकृति के पीठों से दूर हो गये। दूर और दुर्लभ होने के कारण प्रकृति के इन तीर्थों का महत्व और बढ़ गया। दूसरी ओर ग्रामीण और नागरिक सभ्यता के क्षेत्र में भी अनेक उपयुक्त स्थानों पर धर्म के मन्दिर बन गये और निकट होने के कारण इन तीर्थों की यात्रा सुगम हो गई। इस प्रकार धर्म और देवताओं की अनेकरूपता के प्रकाश में भारतवर्ष के विशाल भू-भाग में विभिन्न प्रकार के स्थानों पर असंख्य तीर्थों की स्थापना हुई। अवकाश और सुविधा के समय में इन तीर्थों की यात्रा धार्मिक पुण्य के साथ साथ लौकिक आनन्द भी बन गई। लोग समूहों में यात्रा के लिए जाते हैं और पैदल यात्रा करके धर्म के पुण्य के साथ-साथ मानसिक आनन्द भी प्राप्त करते हैं।

पुराणों की भाँति महाभारत में भी अनेक धार्मिक तीर्थों का वर्णन है। जनमेजय के पूछने पर वैशम्पायनजी ने तीर्थों का वर्णन करते हुए भारत के चारों दिशाओं में स्थित तीर्थों का वर्णन किया। धौम्य ऋषि ने युधिष्ठिर से पूर्व दिशा के तीर्थों का वर्णन इस प्रकार किया कि "देवर्षि-सेवित प्राची दिशा में नैमिष नामक तीर्थ है जहाँ देवर्षिसेवित परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओं की यज्ञभूमि और सूर्य का यज्ञपात्र वहीं विद्यमान है।"[४०] प्राची दिशा में ही पुण्य पर्वत श्रेष्ठ गय है तथा वहीं कन्यापादा

४०—प्राच्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत।
यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः॥
वनपर्व—अध्याय ८७ श्लोक ५, ६, ७

ब्रह्मसरोवर है। यही पर गया तीथ स्थान हैं, जहा पितरा के लिए दिया हुआ अन्न अक्षय हाता है। वही फल्गु नामावाली पुण्य सलिला महानदी है वही पर तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। पूव दिशा मे ही पुण्य नदी गगा बहती है, जिसके तट पर राजा भगीरथ ने प्रचुर दक्षिणा वाले बहुत से यज्ञो का अनुष्ठान किया था। गगा और यमुना का परम उत्तम पुण्यमय पवित्र सगम सम्पूर्ण जगत म विख्यात है और बडे-बडे महर्षि उसका सेवन करते हैं। ब्रह्माजी ने वही पर प्रकृष्टयाग किया था इस यज्ञ के नाम से उस स्थान का नाम प्रयाग हो गया।"४१ वही पर महर्षि अगस्त्य का श्रेष्ठ आश्रम है। कालिजर पवत पर हिरण्यबिन्दु नाम से प्रसिद्ध महान् तीथ बताया गया है। आगस्त्यपवत बहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एव कल्याण स्वरूप है। महात्मा भागव का निवास स्थान महेन्द्र पवत है, वहा पर ब्रह्माजी ने पूवकाल म यज्ञ किया था। वही पर पुण्यसलिला भागीरथी गगा सरोवर म स्थित थी। वही महात्मा मतगऋषि का महान् एव उत्तम आश्रम केदारतीथ है। कुण्डोद नामक रमणीय पवत बहुत फल मूल और जल स सम्पन्न है। वही तपस्वीजनो से सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्यक्षेत्र है जहाँ पवत के शिखर पर बाहुदा और नन्दा नदी बहती हैं। इस प्रकार पूव दिशा के तीथ नदी तथा पवतो का वणन करके ऋषिजी ने दक्षिण दिशा के तीर्थों का वणन किया।

दक्षिण दिशा मे पुण्यमयी गोदावरी नदी बहुत प्रसिद्ध है। बहुत से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सबके लिए कल्याण स्वरूपा है।

४१—गगा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथ ।
अयजत् तत्र बहुभि क्रतुभिभूरिदक्षिणै ॥
पवित्रमृषिभिजुष्ट पुण्य पावनमुत्तमम् ।
गगायमुनयोर्वीर सगम लोकविश्रुतम् ॥
प्रयागमिति विख्यात तस्माद् भरतसत्तम ॥
वनपव—अध्याय ८७ श्लोक १४ १८ १६

'वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिण म ही हैं जो समस्त पापभय का नाश करने वाली हैं। उसके दोना तट अनेक प्रकार के पशु-पक्षिया स याप्त और तपस्वीजनो के आश्रमो से विभूषित हैं। [४२] राजा नृग की नदी पयोष्णी भी उधर ही है जो रमणीय तीथ भी है। "जहाँ भगवान शकर का स्वय ही अपने लिए बनाया हुआ श्रृ गनामक वाद्य विशेष स्वग से भी ऊँचा और निमल है, उसका दशन करके मरणधमा मानव शिवधाम म चला जाता है।'[४३] दक्षिण म पवित्र माठर वन है। वहा वरुणस्रोतस नामक पवत पर माठर का विजयस्तम्भ सुशोभित होता है। यह स्तम्भ प्रवेणी नदी के उत्तर, वर्ती भाग म कण्व के पुण्यमय आश्रम म है। शूर्पारक क्षेत्र मे महात्मा जम दग्नि की वेदी है वही पर रमणीय पाषाणतीय और पुनश्चन्द्रा नामक तीथ विशेष हैं। उसी क्षेत्र म अशोक तीथ, अगस्त्य तीथ और वारुणतीय है। पाडयदेश के भीतर पवित्र कुमारी कन्याय (कन्याकुमारी तीथ) कही गई हैं। ताम्रपर्णी नदी मोक्ष दायिनी है। वहा मोक्ष पाने की इच्छा से देवताओ ने आश्रम म रहकर बडी भारी तपस्या की थी। वहा का गोकण तीथ तीना लोको मे विख्यात है। देवसम नामक पवत ही वह आश्रम है। वहा परम सुदर मणिमय वदूयपवत है जो शिवस्वरूप है। उसी पर महर्षि अगस्त्य का आश्रम है।

महाभारत म सौराष्ट्र के तीर्थों का वणन इस प्रकार है कि सुराष्ट म ही समुद्र के तट पर प्रभास क्षेत्र है जो देवताओ का तीथ कहा गया है।

४२—वेणा भीमरथी चव नद्यौ पापभयापहे।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते॥

४३—स्वर्गादुत्तुङ्गममल विषाण यत्र शूलिन।
स्वमात्मविहित दृष्ट्वा मत्य शिवपुर व्रजेत्॥
वनपव—अध्याय ८८ श्लोक ३ ८

वहीं पर पिंडारक नामक तीथ है। उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पवत शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला है। उसके विषय म नारदजी द्वारा कहा गया एक श्लोक सुना जाता है कि "सुराष्ट्र देश म मृगो और पक्षियो म सवित उज्ज्यन्त नामक पुण्यपवत पर तपस्या करने वाला पुरुष स्वगलोक म पूजित होता है। उज्जयन्त के ही आस-पास पुण्यमयी द्वारिकापुरी है जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष मधुसूदन निवास करते हैं वे ही सनातन धमस्वरूप हैं।'४४

धौम्य ऋषि द्वारा पश्चिम दिशा के तीर्थों का वणन इस प्रकार किया गया है, पश्चिम दिशा म पुण्यमयी नमदा नदी प्रवाहित होती है। त्रिलोकी म जो-जो पुण्यतीथ, मन्दिर, नदी वन, पवत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि चारण एव पुण्यात्माओ के समूह हैं वे सब सदा नमदा के जल म स्नान करने के लिए आया करते हैं। यहाँ पर विश्रवा का पवित्र आश्रम है, जहाँ पर धनाध्यक्ष कुबेर का जन्म हुआ था। वदूयशिखर नामक पवित्र पवत भी नमदा के तट पर है, उस पवत पर एक पुण्य सरोवर है, देवता और गधव उस पुण्यतीथ का सेवन करते हैं। इस पवत पर राजर्षि विश्वामित्र की तपस्या म प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है जो परम तीथ मानी जाती है। उसी के तट पर नहुषनन्दन राजा ययाति स्वग से साधु पुरुषो के बीच म गिरे थे और पुन सनातन धममय लोको म चले गये थे। वहाँ पुण्यसरोवर, विख्यात मनाक पवत और असित नामक पवत है। उसी पवत पर कक्षसेन का पुण्यदायक आश्रम है। महर्षि च्यवन का सुविख्यात आश्रम भी वहीं है। पश्चिम दिशा

४४—पुण्ये गिरौसुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेवित।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥
पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदन ।
साक्षाद् देव पुराणोऽसौ स हि धम सनातन ॥
वनपव—अध्याय ८८, श्लोक २३ २४

में ही जम्बूमार्ग है, जहाँ महर्षियों का आश्रम है। उधर ही सभी तपस्वी जनों से भरे हुए पुण्यतम तीर्थ—केतुमाला, मध्या और गंगाद्वार [हरिद्वार] हैं। द्विजों से सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है। "ब्रह्माजी का पुण्यमय सरोवर भी पश्चिम दिशा में ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियों का प्रिय आश्रम है। जहाँ पर निवास करने से मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं तथा स्वर्गलोक में आनन्द भोगते हैं।' ४५

युधिष्ठिर से पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण के तीर्थों का वर्णन करने के बाद महर्षि धौम्य मुनि ने उत्तर दिशा के तीर्थों का वर्णन इस प्रकार किया कि उत्तर दिशा में तीर्थों की पंक्ति से सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है। समुद्र से मिलने वाली महावेगगामिनी यमुना भी उत्तर दिशा में ही है। उधर ही परम पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मंगलकारक तीर्थ है। उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य कल्याणमय पुण्यतीर्थ है। इस तीर्थ में सहदेव (राजासृञ्जय के पुत्र) ने यमुना तट पर लाख स्वर्ण मुद्राओं की दक्षिणा देकर अग्नि की उपासना की थी। यही महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरत ने पैंतीस अश्वमेधयज्ञों का अनुष्ठान किया था। परमपुण्यमयी दृषद्वती नदी भी उधर ही है। जहाँ न्यग्रोध, पुण्य पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्य ये पाँच आश्रम हैं तथा अनन्तकीर्ति एवं अमित तेजस्वी महात्मा सुव्रत का पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्ड में ही है। गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरों का निवास स्थान है। गंगाजी अपने वेग से उस शैलराज को फोड़कर जहाँ प्रकट हुई हैं वह पुण्यद्वार गंगाद्वार (हरिद्वार) के नाम से विख्यात है। उस तीर्थ का

४५–पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥
मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥
वनपर्व—अध्याय ८९, श्लोक १६ १८

ब्रह्मर्षिगण सदा सेवन करते है। पुण्यमय कनखल म पहले सनत्कुमार ने यात्रा की थी। वही पुरु नाम से प्रसिद्ध पवत है, जहा पूवकाल म पुरुरवा ने यात्रा की थी। जिस महान् पवत पर भृगु ने तपस्या की थी, वह भृगुतुङ्ग आश्रम के नाम से विख्यात है। 'भूत, भविष्य और वतमान जिनका स्वरूप है जो सवव्यापी, सनातन एव पुरुषोत्तम नारायण हैं, उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरि की पुण्यमयी विशालापुरी बदरीवन के निकट है। वह नर-नारायण का आश्रम कहा जाता है, वह पुण्यप्रद बदरिकाश्रम तीनो लोको म विख्यात है।[४६] पूव काल से ही विशाला बदरी के समीप गगा कही गम जल तथा कही शीतल जल प्रवाहित करती है उसकी बालू सुवण की भाति चमकती है। वह बद रिकाश्रम पुण्य क्षेत्र और परब्रह्मस्वरूप है। वही तीथ है वही तपोवन है वही तपोवन है वही सम्पूण भूतो का परमदेव परमेश्वर है। वही देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोधन महात्मा निवास करते है। जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान मधुसूदन विराजमान है वह स्थान पुण्यो का भी पुण्य है।

भारतीय लोगो के मन म गगासागर अयोध्या, चित्रकूट प्रयाग हरिद्वार पुष्कर द्वारिकापुरी, बदरीनाथ, रामेश्वर गया आदि प्राचीन तीर्थों के लिए विशेष श्रद्धा आजतक वतमान है। भारतीय धम परम्परा म इन तीर्थों का बडा महत्त्व है। ये तीथ सख्या मे इतने अधिक हैं कि समस्त भारत भूमि तीथमयी जान पडती है। हिमालय से कन्याकुमारी तक और हिंगलाज स कामाक्षी तक देश मे चतुर्दिक मे तीथ फैले हुए हैं। सागर, नदीतट वन पवतशिखर आदि विविध प्रकार के प्राकृतिक स्थानो पर स्थित इन तीर्थों की विविधता धार्मिक जीवन म सुन्दरता उत्पन्न करती है। निकट और दूर के

४६–य स भूत भविष्यञ्च भवच्च भरतषभ।
नारायण प्रभुर्विष्णु शाश्वत पुरुषोत्तम ॥
तस्यातियशस पुण्या विशाला बदरीमनु।
आश्रम ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुत ॥
वनपव—अध्याय ९०, श्लोक २४,२५

सुगम और कठिन तीर्थों की यात्रा से धार्मिक जीवन में एक तारतम्य पैदा होता है। वर्ष के विभिन्न काला में इन तीर्थों की यात्रा वर्ष के कालक्रम की एकरूपता में पर्वों के समान सौन्दर्य का संचार करती है। तीर्थयात्रा भी पर्व भी सांस्कृतिक पर्वों की भाँति जीवन में उल्लास भरते हैं। इन तीर्थों का सम्बन्ध अनेक देवताओं से है। देवताओं की अनन्तता भारतीय धर्म-परम्परा को उदार बनाती है। तीर्थों की अनेकता इस उदारता का प्राकृतिक और व्यावहारिक आधार प्रदान करती है। अनेक देवताओं और तीर्थों के चयन के सम्बन्ध में मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता धर्म शास्त्रों की मानवीय भावनाओं के अनुरूप है तथा धर्म शास्त्रों के सामाजिक धर्म की भाँति दिव्य धर्म को भी उदार एवं मानवीय बनाता है। पश्चिम के एकेश्वरवादी धर्मों के तीर्थों की विरलता और एकरूपता से भारतीय धर्म-परम्परा की विविधता के समान ही तीर्थों की अनेकता भी महत्त्वपूर्ण है। अवतार देवता, तीर्थ आदि कई प्रकार की अनेकताओं से विभूषित भारतीय धर्म परम्परा उदार और कलात्मक धर्म का सर्वोत्तम उदाहरण है।

५—महाभारत मे व्रत और तप—

तीर्थों और पर्वों की भाँति व्रत भी भारतीय धर्म और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। प्रतिमास में अथवा प्रतिपक्ष में कई छोटे-बड़े व्रत आते हैं। उपनयन विवाह आदि के कुछ बड़े संस्कार ऐसे हैं जिनमें उत्सव की विपुलता होते हुए भी व्रत का अंश कम नहीं होता। विशेष रूप से विवाह के अवसर पर वर और कन्या उसके माता पिता अन्य बड़े लोगों को कई बार पूरे दिन का निराहार व्रत करना होता है। इस व्रत के साथ ही संस्कारों की कई विधियाँ सम्पन्न होती हैं। दूसरी ओर सभी व्रतों को थोड़ी बहुत मात्रा में पर्व के उल्लास की भावना कुछ उत्सव का रूप देती है। जन्माष्टमी रामनवमी, अनन्तचतुर्दशी, शिवरात्रि आदि के व्रत ऐसे ही पर्व हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक व्रत उपवास आदि की तपोमय भावना से पूर्ण हैं। तप का त्यागमय भाव सभी व्रतों में व्याप्त रहता है। व्रत के समान मानसिक संकल्प और त्याग की अपेक्षा तप में भी होती है। देवता, समय आदि का निमित्त न रहने पर त्यागमयी साधना का सामान्य रूप तप कहा जा सकता है। तप और व्रत धर्म साधना के व्यक्तिगत और आन्तरिक प

है। वे धम की आध्यात्मिकता के साधन हैं। महाभारत म तीर्थों की भांति अनेक व्रतो और तपो का भी वणन है।

युधिष्ठिर न जब भीष्म जी से व्रतो का नियम पूछा तब भीष्मजी ने प्राचीनकाल म जो व्रत के विषय मे सुन रखा था, वह इस प्रकार बताया कि ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए तीन रात उपवास करने का विधान है। वश्या और शूद्रा के लिए चौथे समय तक के भोजन का त्याग करन का विधान है। व्रत के फल को बताते हुए अगिरा जी ने युधिष्ठिर से कहा कि 'यदि मनुष्य पचमी, षष्ठी और पूर्णिमा क दिन अपने मन और इन्द्रियो को काबू म रखकर एक वक्त भोजन करके दूसरे वक्त उपवास करे, तो वह क्षमावान् रूपवान् और विद्वान् होता है। वह बुद्धिमान् पुरुष कभी सन्तानहीन या दरिद्र नही होता।[४७] "जो पुरुष भगवान की आराधना का इच्छुक होकर पचमी, षष्ठी अष्टमी तथा कृष्णपक्ष की चतुदशी को अपने घर पर ब्राह्मणो को भोजन कराता है और स्वय उपवास करता है, वह रोगरहित और बलवान् होता है। मागशीष मास को एक समय भोजन करके बिताता है वह रोग और पापो से मुक्त हो जाता है। जो पौष मास मे एक वक्त भोजन करके बिताता है वह सौभाग्यशाली, दशनीय और यश का भागी होता है। जो माघमास को नियमपूवक एक समय के भोजन से व्यतीत करता है, वह धनवान् कुल म जन्म लेकर अपने कुटुम्बीजनो मे महत्त्व को प्राप्त होता है। फाल्गुन का व्रत करने से स्त्रियो का प्रिय होता है और स्त्रिया उसके अधीन रहती हैं। जो चत्र का एक समय का व्रत करता है वह सुवण मणि और मोतियो से सम्पन्न महान कुल म जन्म लेता है। जो स्त्री अथवा पुरुष इन्द्रिय सयमपूवक

४७—पचम्यां यापि षष्ठ्यां च पौर्णमास्यां च भारत।
क्षपोष्य एकभक्तेन नियतात्मा जितेन्द्रिय ॥
क्षमावान् रूपसम्पन्न श्रुतवांश्च व जायते।
नानपत्यो भवेत् प्राज्ञो दरिद्रो वा कदाचन ॥
अनुशासन पव—अध्याय १०६, श्लोक १४ १५

एक समय भोजन करके वसाख मास को पार करता है, वह सजातीय बन्धुओ म श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। एक समय भोजन करके जेष्ठ मास बिताता है, उसे अनुपम श्रेष्ठ ऐश्वय प्राप्त होता है। जो आषाढ मास म आलस्य छोड़कर एक समय भोजन करके रहता है, वह धन धान्य और पुत्रो स सम्पन्न होता है। जो मन और इन्द्रियो का सयम म रखकर श्रावण मास म एक समय भोजन करता है वह विभिन्न तीर्थों म स्नान करने के पुण्य फल को प्राप्त होता है। जो मनुष्य भाद्रपद मास म एक समय भोजन करता है वह गोधन स सम्पन्न समृद्धिशील तथा अविचल ऐश्वय का भागी होता है। जो आश्विन मास को एक समय भोजन करके बिताता है, वह पवित्र नाना प्रकार के वाहनो स सम्पन्न तथा अनेक पुत्रो से युक्त होता है। जो मनुष्य कार्तिक मास म एक समय भोजन करता है, वह शूरवीर अनेक भार्याओ स सयुक्त और कीर्तिमान् होता है।[४८] 'जो पूरे एक वष तक दो दो दिन पर भोजन करके रहता है तथा साथ ही अहिंसा, सत्य और इन्द्रियसयम का पालन करता है वह वाजपेय यज्ञ का फल पाता है और दस हजार वर्षों तक स्वगलोक म प्रतिष्ठित होता है। जो एक साल तक छठे समय अर्थात् तीन तीन दिनो पर भोजन करता है वह मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। वह चक्रवाको द्वारा वहन किये हुए विमान स स्वगलोक म जाता है और वहा चालीस हजार वर्षों तक आनन्द भोगता है।'[४९] व्रत की महिमा बताते हुए अगिरा ऋषि न युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि धम से बढ़कर कोई उत्कृष्ट लाभ नही है तथा उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नही है। जसे इस लोक और परलोक म ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणो स बढ़कर कोई पावन नही है, उसी प्रकार

४८—महाभारत में अनुशासन पव—अध्याय १०६, श्लोक १६ से ३० तक

४९—महाभारत अनुशासन पव—अध्याय १०६, श्लोक ४१ से ४४ तक

उपवास के समान कोई तप नहीं है।"५० देवताओं ने विधिवत् उपवास करके ही स्वर्ग प्राप्त किया है तथा ऋषियों को भी उपवास से ही सिद्धि प्राप्त हुई है।

युधिष्ठिर ने भीष्मजी से द्वादशी व्रत के फल के विषय में पूछा तब भीष्मजी ने भगवान् विष्णु द्वारा बताये गये द्वादशी के व्रत के फल के विषय में जो बताया है, वह इस प्रकार कहा कि 'मार्गशीर्ष की द्वादशी तिथि का उपवास करके भगवान केशव की पूजा-अर्चा करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। पौष मास की द्वादशी का व्रत करने से वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त होता है। माघ मास की द्वादशी का व्रत करने से राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त होता है। फाल्गुन मास की द्वादशी का व्रत करने से अतिरात्र यज्ञ का फल प्राप्त होता है और मृत्यु के पश्चात् सोमलोक में जाता है। चैत्रमास की द्वादशी का उपवास करके मनुष्य पौण्डरीक यज्ञ का फल पाता है और देवलोक में जाता है। वैशाख मास की द्वादशी का व्रत करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है और सोमलोक में जाता है। ज्येष्ठमास की द्वादशी का उपवास करके भगवान त्रिविक्रम की पूजा करके गोमेधयज्ञ का फल पाता है और अप्सराओं के साथ आनन्द भोगता है। आषाढ़ मास की द्वादशी का उपवास करके वामन नाम से भगवान की पूजा करके पुरुष नरमेध यज्ञ का फल पाता है और महान् पुण्य का भागी होता है। श्रावणमास की द्वादशी का उपवास करके भगवान श्रीधर की आराधना करके पञ्चमहायज्ञों का फल पाता है और विमान पर बैठ कर सुख भोगता है। भाद्रपद की द्वादशी का व्रत करके

५०—न धर्मात् परमो लाभस्तपो नानशनात् परम् ॥
ब्राह्मणेभ्य परं नास्ति पावनं दिवि चेह च।
उपवासस्तथा तुल्य तपः कर्म न विद्यते ॥
च्यवनो जमदग्निश्च वसिष्ठो गौतमोभृगुः।
सर्व एव दिवं प्राप्ता क्षमावन्तो महर्षयः ॥
अनुशासन पर्व-अध्याय १०६, श्लोक ६५ ६६, ६८

हृषीकेश नाम से भगवान की पूजा करके मनुष्य सौत्रामणि यज्ञ का फल पाता है और पवित्रात्मा होता है। आश्विन मास की द्वादशी का व्रत करके पद्मनाभ नाम से भगवान की पूजा करके मनुष्य सहस्रगोदान का पुण्यफल पाता है। कार्तिक मास की द्वादशी का व्रत करके भगवान दामोदर की पूजा करके मनुष्य या स्त्री गो-यज्ञ का फल पाते हैं।"[५१] जो प्रति दिन इसी प्रकार भगवान विष्णु की पूजा करता है वह विष्णु भाव को प्राप्त होता है। यह व्रत समाप्त होने पर ब्राह्मणों को भोजन कराये अथवा उन्हें धनदान करे। इस उपवास से बढ़ कर दूसरा कोई उपवास नहीं है। 'इस प्रकार जो एक वर्ष तक कमलनयन भगवान् विष्णु का पूजन करता है वह पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करने वाला होता है और उसे बहुत सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है।'[५२]

रूप-सौन्दर्य और लोकप्रियता की प्राप्ति के लिए मार्गशीर्ष मास में चन्द्र व्रत करना चाहिए। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मजी ने चन्द्रव्रत के व्रत का वर्णन इस प्रकार किया कि "मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को मूल नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर चन्द्र सम्बन्धी व्रत आरम्भ करे। पौर्णमासी को व्रत समाप्त होने पर वेदों के पारगत विद्वान् ब्राह्मण को घृत

५१—अनुशासन पर्व—अध्याय १०६, श्लोक ३ से १४ तक

५२—अर्चयेत् पुण्डरीकाक्षमेवं संवत्सरं तु यः ।
जातिस्मरत्वं प्राप्नोति विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १०६, श्लोक १५

दान करे। ऐसा करने से मनुष्य पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाति परिपूर्ण सौभाग्यशाली, दर्शनीय तथा ज्ञान का भागी होता है।'[५३]

उपवास की जो विधि लिखी है, उसमे वर्णन है कि उपवास एक दिन का, दो दिन का, लगातार तीन दिन का, इस तरह बढाते-बढाते वर्ष भर करना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय, तीन दिन का उपवास करे और वैश्य तथा शूद्र एक दिन से अधिक उपवास न करें। यह एक महत्त्व की आज्ञा है जिस पर ध्यान देना चाहिए कि वैश्य और शूद्र तीन दिन का उपवास कभी न करें। क्योंकि उनके पेशे के हिसाब से अधिक उपवास करना उनके लिए सम्भव नही। दिन म एक ही बार भोजन करने को एक भक्त कहते हैं और यह भी उपवास मे माना गया है। तीन दिन का उपवास करके भोजन करे यह मुख्य उपवास विधि है। इसके आगे पक्ष भर का उपवास करने का वर्णन है। जो पुरुष वर्ष भर, एक पक्ष तक तो उपवास करता है और दूसरे पक्ष मे भोजन करता है, उसका षण्मास अनशन हो जाता है, यह अंगिरा ऋषि का मत बतलाया है।

महाभारत म पचमी, षष्ठी और कृष्ण पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी तिथियो के उपवास का जो वर्णन है, वे तिथिया अब उपवास म नही मानी जाती हैं। आजकल जो एकादशी, द्वादशी उपवास की तिथियाँ हैं वे महाभारत मे इस काम के लिए निर्दिष्ट नही हैं। ये तिथियाँ विष्णु और शिव की उपासना की है। एकादशी की व्रत वैष्णव लोग करते है और द्वादशी

५३—मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन सयुते।
समासे तु घृत दद्याद् ब्राह्मणे वेदपारगे॥
सुभगो दर्शनीयश्च ज्ञानभागी च जायते।
जायते परिपूर्णाङ्ग पौर्णमास्येव चन्द्रमा॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ११०, श्लोक २½, ६ १०

का व्रत शिव के भक्त शव करते हैं द्वादशी का ही प्रदोष का व्रत भी कहा जाता है। इसका प्रयोजन प्रदोष काल मे अर्थात् सध्याकाल म शिव की पूजा करके एक समय रात्रि को भोजन करन से है। स्मृतिशास्त्र म वर्णित चाद्रायण और सातपन आदि के जो व्रत हैं, उनका नाम तो महाभारत म प्रसङ्गानुसार आ गया है किन्तु उनका वणन नही है। तप की विधि मे व्रतो के यही भेद पाये जाते हैं। जना म उपवास करन की प्रथा भी बहुत कठोर है। उनके यहाँ ४२ दिन तक का व्रत एक साथ किया जाता है। उपवास म हर प्रकार का अन्न वर्ज्य है। पानी पीन तक की मनाही है। व्रत भी एक प्रकार से तप ही है।

कौरवा से राज्य प्राप्ति करके युधिष्ठिर को बडा दुख हुआ कि अपने सब सम्बधी युद्ध मे मृत्यु को प्राप्त हो गये तथा सब की विधवाय, मातायें स्त्रियाँ तथा पुत्रवधुयें अब क्या करती होगी। इस दुख का विचार करके दुखी मन युधिष्ठिर ने भीष्म जी से कहा कि मैं अब अपन शरीर को कठोर तपस्या के द्वारा सुखाना चाहता हूँ। इसलिए आप मुझे तप के विषय म कुछ उपदेश दें तथा उससे मिलन वाले फल का भी वणन कर। तब भीष्मजी न इस प्रकार कहा कि तपस्या से स्वग मिलता है सुयश की प्राप्ति होती है तथा बडी आयु, ऊँचा पद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं।'[५४] ज्ञान विज्ञान, आरोग्य, रूप, सम्पत्ति तथा सौभाग्य भी तपस्या स प्राप्त होते ह। मनुष्य तप करने स धन पाता है। मौनव्रत के पालन स दूसरा पर हुक्म चलाता है। वन म फल मूल खाकर रहन वाले के विषय म भीष्मजी न इस प्रकार कहा कि 'फल मूल खाकर रहन वाला को राज्य और पत्ता चबाकर तप करन वाला को स्वग लोक की प्राप्ति होती है। दूध पीकर रहन वाला

५४—तपसा प्राप्यते स्वगस्तपसा प्राप्यते यश।
आयु प्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्त तपसा विभो॥
अनुशासनपव—अध्याय १७, श्लोक ८

मनुष्य भी स्वर्ग को जाता है।"५५ मिट्टी की वेदी या चबूतरा पर सोने वाला को घर और शय्याएँ प्राप्त होती हैं। चीर और वल्कल के वस्त्र पहनने से उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण प्राप्त होते हैं। रसों का परित्याग करने से मनुष्य यहाँ सौभाग्य का भागी होता है। मांस भक्षण का त्याग करने से दीर्घायु सन्तान उत्पन्न होती है। तृण खाकर रहने वाला के विषय में भीष्म जी ने इस प्रकार कहा कि "जो केवल साग खाकर रहने का नियम लेता है वह गोधन से सम्पन्न होता है। तृण खाकर रहने वाले मनुष्यों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। तीनों काल में स्नान करने से बहुत-सी स्त्रियों की प्राप्ति होता है और हवा पीकर रहने से मनुष्य को यज्ञ का फल प्राप्त होता है। मरु का साधना-जल का परित्याग करने वाले यथा निराहार रहने वाले को स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।'५६ जो जल में निवास करता है वह राजा होता है। सत्यवादी मनुष्य स्वर्ग में देवताओं के साथ आनन्द भोगता है। यज्ञ और उपवास करने से मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है। योगयुक्त तपोधन को शय्या, आसन और वाहन प्राप्त होते हैं। नियमपूर्वक अग्नि में प्रवेश कर जाने पर जीव को ब्रह्मलोक में सम्मान प्राप्त होता है। श्रेष्ठ गति की प्राप्ति बताते हुए भीष्मजी ने इस प्रकार युधिष्ठिर से कहा कि 'पृथ्वीनाथ! बारह वर्षों तक सम्पूर्ण भोगों का त्याग, दीक्षा (जप आदि नियमों का ग्रहण) तथा तीनों

---

५५ फलमूलाशिना राज्यं स्वर्गः पर्णाशिना भवेत् ॥ ११
पयोभक्षो दिवं याति ॥ १२

५६—गवाढ्यः शाकदीक्षाभिः स्वर्गमाहुस्तृणाशिनाम्
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्॥१३
मरु साधयतो राजन् नाकपृष्ठमनाशके ॥१४
अनुशासनपर्व—अध्याय ५७, श्लोक ११, १२ १३, १४

समय स्नान करने से वीर पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है।[५७]

तप का एक प्रधान अङ्ग अथवा स्वरूप जप है। किसी कामना से जप करने वाला उस लोक या कामना को प्राप्त होता है, परन्तु जो फल की रत्तीभर भी इच्छा न करके जप करता है, वह सब फलों से श्रेष्ठ ब्रह्मलोक को जाता है। जप के सम्बन्ध में दो तीन अध्याय शान्तिपर्व में भी हैं। उनका तात्पर्य यह ध्वनित करता है कि जप है तो महाफल का देनेवाला, परन्तु ज्ञानमार्ग से घटकर है। जप करना योग का मार्ग है। इसमें भी किसी फल की इच्छा न करके जप करना सब में श्रेष्ठ है। किसी कामना से जप करना निकृष्ट कहा जाता है। गायत्री के जप से बड़े-बड़े साधक अपना जीवन सफल बनाते हैं तथा अन्तकाल में मोक्ष के अधिकारी होते हैं। तपस्या मनुष्य की आत्मा की शुद्धि का लक्षण है। शुद्ध आत्मा वाला मनुष्य ही इस संसार सागर से सरलता से पार हो जाता है। तपस्या अनेक प्रकार की होती हैं। जिसको जो तप उचित जचे या जिससे जो तप करना सम्भव हो सके वही उसके लिए श्रेष्ठ है तथा अन्तकाल में मुक्तिदायक होता है।

व्रत और तप धर्म साधना के आन्तरिक और आध्यात्मिक पक्ष हैं। तीर्थों के सामाजिक पक्ष की तुलना में व्रत और तप को धर्म साधना का व्यक्तिगत पक्ष कहा जा सकता है। भारतीय धर्म अपने स्वरूप में सांस्कृतिक, व्यवहार में सामाजिक और साधना में व्यक्तिगत है। धर्म की सांस्कृतिकता और सामाजिकता उसे जीवन से संगत बनाती है। धर्मशास्त्रों के अनुरूप धर्म के जिन सामाजिक रूपों का विवरण प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पिछले बारह अध्यायों में किया गया है, उसके अनेक कर्मों और आचारों में सांस्कृतिक

५७—उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव।
कृत्वा द्वादशवर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ५७, श्लोक २४

सौ दय का समाव ा है। गृहस्थ के कर्म सामाजिक सस्कृति के मुख्य अग हैं। अनेक अवतारा और देवताआ का दिव्य धम भी अवतारा के चरित तथा तीर्थों के योग से सामाजिक बन गया है। इस प्रकार सामाजिक और ि व्य दोनो रूपा मे धम की परस्पर सगति है। पिछले अध्याया मे अनक बार कहा जा चुका है कि भारतीय धम की भावना स्वत त्र, मानवीय और उदार है। दोनो ही रूपा मे धम की सामाजिकता, सगठन, प्रचार आदि का साधन नही बनी है, जसी कि वह पश्चिम के एकेश्वरवादी धर्मों म बनी है। व्रत और तप की व्यक्तिगत साधना एक ओर धम को आध्यात्मिक आधार प्रदा करती है तथा दूसरी ओर धम की उदारता एव स्वत त्रता का सरक्षण करती है। व्रत और तप का इतना महत्व तथा स्वत त्रता एव उ ारता क साथ धम की इतनी सफल सगति कदाचित् ही किसी अ य धम परम्परा मे मिल सकेगी।

———

अध्याय—२०

उपसंहार

१—अध्ययन के निष्कर्ष—

पिछले उन्नीस अध्यायों में महाभारत और महाभारत में धर्म से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य विषयों का क्रम क्रम से विवेचन किया गया है। आरम्भ के अध्यायों में महाभारत की महिमा और महाभारत की आधुनिक आलोचना का संक्षिप्त परिचय देने के बाद महाभारत में धर्म के स्थान, धर्म के रूप, धर्म के स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। उसके बाद बारह अध्यायों में वर्णों और आश्रमों के विभाजन के अनुसार धर्म के विशेष रूपों का विवरण एवं विवेचन है। धर्म का यह रूप सामाजिक और मानवीय है। अन्त में एक अध्याय में धर्म के ईश्वरीय और दिव्य रूप का विवेचन किया गया है। महाभारत और महाभारत में धर्म से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों का विवेचन करने के बाद उपसंहार में इस विवेचन के निष्कर्षों का आकलन अपेक्षित है। पिछले अध्यायों का यह विवेचन अध्ययन और तर्क के आधार पर किया गया है। महाभारत के ग्रन्थ तथा महाभारत सम्बन्धी आलोचना के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के आवश्यक उद्धरणों से पुष्ट किया गया है। इसके साथ-साथ विचार और तर्क के द्वारा महाभारत सम्बन्धी तथ्यों और अभिमतों की मीमांसा की गई है। इस मीमांसा के निष्कर्ष भी पिछले अध्यायों और प्रकरणों में यथास्थान दिये गये हैं। फिर भी अनेक अध्यायों और प्रकरणों में बिखरे होने के कारण कदाचित् इन निष्कर्षों में एकसूत्रता न दिखाई दे। अतः इस उपसंहार में इन निष्कर्षों का एकत्र आकलन किया गया है।

२—महाभारत एक अनुपम ग्रन्थ है—

पिछले अध्यायो के अध्ययन और विवेचन का सबसे पहला निष्कर्ष यह है कि महाभारत एक अनुपम ग्रन्थ है। महाभारत के समान विशाल महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय ग्रन्थ ससार मे दूसरा नही है। एक लाख श्लोकों की महाभारत सहिता ससार के अन्य महाकाव्यो से कई गुनी बडी है। आकार की विशालता की दृष्टि से तो महाभारत ससार के साहित्य मे अतुलनीय है ही किन्तु इसके साथ साथ विषय की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक ओर उसके विषय व्यापक और दूसरी ओर वे विषय महत्त्वपूर्ण भी हैं। विषयो की व्यापकता के कारण यन्न न भारते तन्न न भारते' तथा व्यासोच्छिष्टं जगतसर्वम्' की उक्तियाँ प्रसिद्ध हुई। व्यापक होने के साथ ये विषय जीवन की गहराइयो मे प्रवेश करते हैं। जीवन के अनेक विध सम्बन्धों, सघर्षों, सकटो और कर्त्तव्यो का गम्भीर अवगाहन करके मनुष्य की समुचित गति का मार्ग प्रकाशित करते है। महाभारत की विशाल कथा मे ही इन विषयो के प्रतिपादन के अनेक अवसर आ गये हैं। वनपर्व, शान्तिपर्व आदि के अवकाशो मे चर्चा और उपदेश के द्वारा अन्य अनेक विषयो की मीमासा की गई है। इस प्रकार महाभारत जीवन के अखिल विषयो का विशाल महासागर बन गया है। इसीलिए वह पचमवेद माना जाता है। कथा के महत्व और काव्य के सौन्दर्य ने महाभारत की महिमा को और बढा दिया है। हजारो वर्षों से महाभारत जनता मे लोकप्रिय रहा है महाभारत की लोकप्रियता की तुलना केवल गीता भागवत तथा अन्य सम्प्रदायो के धर्मग्रन्थो से की जा सकती है। किन्तु अन्य सम्प्रदायो के धर्मग्रन्थ सगठित प्रचार के द्वारा लोकप्रिय बनाये गये हैं। स्वतन्त्ररूप मे लोकप्रिय बनने वाले गीता, भागवत्, महाभारत आदि ग्रन्थ ही हैं। इनमे आकार की विशालता को देखते हुए महाभारत की लोकप्रियता आश्चर्यजनक है। इतना विशाल इतना तत्वपूर्ण और इतना लोकप्रिय ग्रन्थ ससार मे दूसरा नही है।

३—महाभारत की ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन है—

भारतीय परम्परा मे महाभारत एक धर्मग्रन्थ माना जाता है। विषय की दृष्टि से भी वह धर्मग्रन्थ ही है। उसका धार्मिक अग उसके कथा भाग से

कई गुना अधिक है। किन्तु पश्चिमी आलोचना ने महाभारत को मूल रूप म कौरव पाण्डवो के युद्ध की कथा का काव्य माना है। वे सूतो और चारणो के प्राचीन आख्यानो और वीरकाव्या में इसका मूल खोजते रहे हैं तथा महाभारत के धार्मिक अशा को निकालकर उसके मूलकाव्य का रूप निर्धारित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनकी आलोचना का दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विकासवादी है। वे महाभारत को कई लेखको की प्रति मानते हैं। उनके अनुसार *जय, भारत महाभारत के तीन सस्करणो म महाभारत का वतमान* रूप विकसित हुआ है। कई विद्वानो ने महाभारत क धार्मिक अशो को निकालकर उसके मूल काव्य का उद्धार करने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु य प्रयत्न सफल और मान्य नही हो सके। महाभारत के वतमान रूप में धार्मिक अश ऐसे घुलमिल गये हैं कि उनको अलग करना कठिन है। महाभारत की ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन जान पडती है। इस आलोचना की ऊहायें अनेक प्रकार की हैं। इनमें बहुत सी अनगल और परस्पर विरोधी भी हैं। इस ऐतिहासिक आलोचना के अधिकाश निष्कष निषेधात्मक हैं। ये काल आदि की अर्वाचीन अवधि निर्धारित करते हैं। इसके *अतिरिक्त यह आलोचना महाभारत की रचना, उसके काल आदि क सम्बन्ध* में कोई भावात्मक निणय नही कर पाती।

भारतवष के प्राचीन साहित्य क सम्बन्ध में अनगल और परस्पर विरोधी कल्पनाओ क अतिरिक्त ऐतिहासिक आलोचना कोई *आदरणीय निणय* कर भी नही सकती। इतने प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में निणय प्रमाण *मिलना कठिन है। अत महाभारत तथा अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य क* सम्बन्ध में ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन है। यह आलोचना अपने प्राचीन साहित्य क सम्बन्ध में भारतीयो की आस्था का उच्छेद करने में अवश्य सफल हुई। सरल भारतीय मृग क समान इस आलोचना के जाल में फस गये हैं।

४—महाभारत का वतमान रूप ही मान्य है—

ऐतिहासिक आलोचना महाभारत की रचना में कई लेखकों का हाथ देखती है और उनके विकासक्रम को निर्धारित करने का प्रयास करती है।

आवश्यक प्रमाणो के अभाव में वह अपने इस प्रयास मे सफल नही हो सकी। पर्याप्त प्रमाण न होते हुए भी पश्चिमी आलोचक महाभारत के सम्बन्ध मे मनमानी कल्पनायें करते रहे हैं। यह आलोचनायें निश्चित प्रमाणो के अभाव मे महाभारत की रचना, और उसके विकास का माननीय मत स्थापित नही कर सकी है। किन्तु महाभारत के वर्तमान रूप के प्रति भारतीयो की श्रद्धा का उन्मूलन अवश्य करती रही हैं। यह उन्मूलन किसी अश तक पश्चिमी विद्वानो की साम्राज्यवादी प्रेरणाओ और ईसाई मत के अनुरोध से प्रेरित हो सकता है। किन्तु निश्चित प्रमाणो के अभाव मे अनर्गल आलोचनाओ का कोई मूल्य नही है। डा० सुक्थनकर ने अपने भाषणो मे पश्चिमी विद्वानो का महाभारत सम्बन्धी आलोचना का खण्डन किया है तथा उनके दुराग्रहो और उनकी असमर्थताओ का उद्घाटन किया है। उन्होने यह मत प्रकट किया है कि ऐतिहासिक आलोचना लक्ष्य से दूर चली जाती है। हम महाभारत के वर्तमान रूप को स्वीकार कर इसी रूप मे उसका अध्ययन भारतीय दृष्टिकोण से करना चाहिए। पश्चिमी आलोचको ने भी यह स्वीकार किया है कि महाभारत का वर्तमान रूप २००० वर्ष से भारतवर्ष मे मान्य है। यह निश्चित नही कहा जा सकता कि ईसा के पहले कितनी शताब्दियो से महाभारत इसी रूप मे चला आ रहा है। ईसवी सदी के आरम्भ से पहले महाभारत का जो वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था, उसे आलोचना के द्वारा खण्डित करना उचित नही है। डा० सुक्थनकर के अनुसार महाभारत के वर्तमान रूप मे कोई विशेष असगति नही है। महाभारत का यही रूप दो हजार वर्ष से भारतीय साहित्य और परम्परा मे मान्य रहा है। हम महाभारत के इसी रूप को मानकर इसी के आधार पर महाभारत के सम्बन्ध मे अपने मत स्थिर करने चाहिए।

४—धर्म ही महाभारत का मर्म है—

महाभारत के वर्तमान रूप मे लगभग एक लाख श्लोक हैं। इसीलिये उसे शतसहस्री सहिता कहते हैं। इसी रूप मे वह दो हजार से अधिक वर्षों से प्रसिद्ध है। महाभारत के इस रूप मे धार्मिक अश अधिक हैं। यह धार्मिक अश कथा भाग से कई गुना है। कथाप्रसग मे छोटे और बडे उपदेशो के रूप मे यह मिलता है। धार्मिक अश की अधिकता के कारण ही महाभारत को धर्मग्रन्थ माना जाता है। पश्चिमी विद्वानो ने अपनी ऐतिहासिक आलोचना के

धर्म का मूल मानने पर स्वतन्त्रता धर्म का स्तम्भ बन जाती है। स्वतन्त्रता को मानने पर हम किसी पर किसी प्रकार का आरोपण नही कर सकते। धार्मिक आग्रह, आरोपण, प्रचार आदि को मानने वाले इस स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं, यद्यपि यह करते हुये भी वे अपने धर्मों की श्रेष्ठता का ढोल पीटते रहे हैं। ज्ञान, विज्ञान आदि की तार्किक परख के अभिमानी आधुनिक युग म भी धर्म की इस विडम्बना को अनावृत करने का साहस अथवा सत्य प्रेम नही दिखाई दे रहा है। किन्तु कुछ धर्म-सम्प्रदायो के द्वारा खण्डित किये जाने पर भी यह सत्य खण्डित नही होता कि स्वतन्त्रता मनुष्य जीवन और मनुष्य धर्म की सबसे बड़ी विभूति है। समानता उसका आधार है। धर्म-शास्त्रो और महाभारत के सामाजिक एव मानवीय धर्म मे समानता और स्वतन्त्रता का आधार सर्वत्र माना गया है। उदार परोपकार की भावना से ओत प्रोत धर्म-लक्षणो म इनके खण्डन का स्थान नही है। भारतीय धर्म सम्प्रदायो म भी धर्म शास्त्रो की इस आस्था के कारण समानता और स्वतन्त्रता का आदर रहा है। इन सम्प्रदायो म कही भी आरोपण और प्रचार का लेश नही है। धार्मिक सहिष्णुता इन सम्प्रदायो का एक विशेष गुण है। श्रेष्ठता के अभिमानी पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायो को भी इस सहिष्णुता उदारता, समानता और स्वतन्त्रता की दृष्टि से परखना चाहिये।

८-धर्म का आधार आध्यात्मिक है—

भारतीय परम्परा म धर्म के सभी रूपो का आधार आध्यात्मिक है। आत्मा ही इस धर्म का आधार है। आत्मा सभी जीवो म समान है। गीता मे भगवान् ने कहा है कि 'मैं सब भूतो म समान हूँ' (समोऽहं सर्वभूतेषु-गीता अध्याय ९ श्लोक २९)। शरीर इन्द्रियाँ मन, बुद्धि सस्कृति आदि अनेक दृष्टियो से मनुष्यो म भिन्नता हो सकती है। किन्तु आत्मा की दृष्टि से सब समान हैं। आत्मा ही चेतना का स्रोत है। सुख-दुःख आदि की चेतना सब म समान होती है और इसलिये सबके दुःख सुख का महत्व बराबर है। इसी आधार पर समानता का भाव धर्म का मूल तत्त्व बन गया है। 'आत्मौपम्य' और 'आत्मन प्रतिकूलानि' में इसी समानता के भाव की अभिव्यक्ति हुई है। आत्मा इस समानता का आधार है। उसका तात्त्विक अवगाहन जितना ही

कठिन हो किन्तु आत्मा के समान और उदार भाव के अनुकूल व्यवहार से सभी को आनन्द मिलता है। यही आत्मा का भाव भारतीय धर्म के सभी रूपों में ओत प्रोत है। धर्म शास्त्रों में धर्म के जो लक्षण बताये हैं वे सब इसी आत्मभाव पर आश्रित हैं। याज्ञवल्क्य ने तो 'आत्म दर्शन' को 'परम धर्म' कहा है। भारतीय दर्शनों में भी आत्मा का अनुसंधान बहुत हुआ है। ईश्वरीय धर्म सम्प्रदाय भी ईश्वर को परमात्मा के रूप में मानते हैं। आत्मा को ईश्वर और मनुष्य की एकता का आधार भी माना जाता है। यह एकता पश्चिम के एकेश्वरवादी धर्मों में पाप समझी जाती है। आरम्भिक भाव से ओत प्रोत होने के कारण ही भारतीय धर्म सम्प्रदाय तथा धर्मशास्त्रों और महाभारत का धर्म उदार मानवीय भावना से ओत प्रोत है।

६—धर्म और रिलीजन में अन्तर है—

हिन्दी के वर्तमान व्यवहार में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अंगरेजी के 'रिलीजन' के पर्याय के रूप में होता है। वास्तव में अंगरेजी का 'रिलीजन' ईश्वरीय आस्था के एक विशेष रूप का वाचक है। ईश्वर सम्बन्धी धारणायें होते हुये भी भारतीय परम्परा में उनकी विशेषता का आग्रह नहीं है। जिस विशेष रूप में ईश्वर को हम मानते हैं वही ईश्वर का एक मात्र सही रूप है तथा अन्य ईश्वर सम्बन्धी धारणायें गलत हैं, ऐसा आग्रह भारतीय परम्परा में नहीं रहा। किन्तु पश्चिमी परम्परा में ऐसा आग्रह प्रबल रहा है। पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों के प्रचार और विस्तार का इतिहास इसी अनुदार आग्रह से प्रेरित है। ईश्वर के एक विशेष रूप में विश्वास तथा एक विशेष पैगम्बर, एक विशेष धर्म ग्रन्थ तथा अन्य विशेष विधियों का कठोर आग्रह इन धर्मों की विशेषता है जिन्हें अंगरेजी में 'रिलीजन' कहा जाता है। यहूदी, ईसाई और इस्लामी सम्प्रदाय इनमें मुख्य हैं। इन सभी में अपनी विशेष मान्यताओं का आग्रह तथा अपने से भिन्न मान्यताओं का विरोध है। इस दृष्टि से ये संकीर्ण, संकुचित और सहिष्णुता से रहित हैं। इस नाते इनको सम्प्रदाय कहना अधिक उचित है, यद्यपि सम्प्रदाय में भी संकीर्णता और असहिष्णुता होना आवश्यक नहीं है। भारतीय सम्प्रदाय भी उदार और सहिष्णु हैं। अन्य धर्म शास्त्रों की धर्म सम्बन्धी उदार एवं मानवीय धारणा से इन भारतीय सम्प्रदायों

की समुचित सगति है। कि तु पश्चिमी सम्प्रदाया म जि ह रिलीजन कहा जाता है, ऐसी उदारता नही है। उनम कुछ नतिक गुण अवश्य मान जात हैं, कि तु ईश्वर सम्ब धी धारणाओ का आग्रह इन गुणा को खण्डित कर प्रचार, आरोपण आदि क अमानवीय और अधार्मिक कर्मों म प्रकट हाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रिलीजन' सगठन का वाचक है तथा धम मनुष्य की मनुष्यता क रक्षण का वाचक है। अत 'धम को 'रिलीजन से भिन्न मानना ही उचित है। धम शास्त्रो और महाभारत का धम तो ईश्वर सम्बन्धी मा यताओ स मुक्त तथा मुख्य रूप से सामाजिक एव मानवीय होन के कारण 'रिलीजन स और भी अधिक भिन्न है।

१०—धर्म और सम्प्रदाय मे विरोध आवश्यक नहीं है—

जिस रूप म धम-सम्प्रदाय पश्चिमी परम्परा म प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुय है, उस रूप म सम्प्रदाय धम की उस धारणा से दूर रह जाते हैं जिस धारणा की भावना धम शास्त्रो क धम' म तथा भारतीय सम्प्रदाया म व्याप्त है। ऊपर क प्रकरण म सकेत किया जा चुका है तथा प्रस्तुत शोध प्रब ध के आरम्भिक अध्यायो म उसका विवरण किया गया है कि धम शास्त्रो और महाभारत का धम उदार और मानवीय धम है। इसक विपरीत पश्चिम क धम सम्प्रदाय सकुचित और असहिष्णु है। इनका आग्रह, आरोपण और प्रचार उदारता एव स्वतत्रता का खण्डन करता है। इसी कारण ऊपर के प्रकरण म धम और रिलीजन मे अ तर करने की चेष्टा की गई है। किन्तु धम और रिलीजन अथवा धार्मिक सम्प्रदाय म कोई विरोध होना आवश्यक नही है। धम शास्त्रो और महाभारत का धम मुख्यत सामाजिक एव मान वीय अवश्य है तथा ईश्वर आस्था के किसी विशेष रूप से उसका आवश्यक सम्ब ध नही है। फिर भी ईश्वर की आस्था का कोई विशेष रूप अपन स्वरूप म इस मानवीय धम का विरोधी नही हाता। ईश्वर की आस्था के विशेष रूप का आग्रह आरोपण और प्रचार उस मानवीय धम का विरोधी बनाता है। ईश्वर सम्बन्धी अ य आस्थाओ का अपमान इस विरोध को और बढाता है। ईश्वर-सम्बन्धी आस्था क विशेष रूप के आग्रह आरोपण और प्रचार क कारण तथा अ य आस्थाओ का अपमान करन के कारण पश्चिमी धम-

सम्प्रदाय महाभारत के मानवीय धम के विपरीत जान पडते हैं। किन्तु यह विरोध अथवा वपरीत्य आवश्यक नही है। ईश्वर सम्बन्धी किसी विशेष आस्था का अनुदार, सकीर्ण, असहिष्णु, आरोपवादी आदि होना आवश्यक नहां है। वह उदार, सहिष्णु और स्वतन्त्र भी हो सकती हैं। भारतीय परम्परा के धम सम्प्रदाय उदार और सहिष्णु हैं। अत धम और सम्प्रदाय का विरोध आव श्यक नही है। किन्तु अनेक सम्प्रदायो को उदारता पूवक तथा आदर पूवक स्वीकार करने पर ही यह विरोध दूर हो सकता है। मानवीय धम तो सिद्धात और सार के रूप म सवत्र एक और सावभौम हो सकता है। किन्तु ईश्वर सम्बन्धी आस्थायें अनक होगी। उदारता और सहिष्णुता ही इस अनेकता का मानवीय धम स सामजस्य कर सकती है। सम्प्रदायो की अनुदारता और असहिष्णुता का दोष ईश्वर अथवा ईश्वर सम्बन्धी आस्था को नही दिया जा सकता। यह उन सम्प्रदायो के प्रवतको और अनुयायियो की मनावृत्ति का दोष है।

११–धम शास्त्रो और महाभारत का धम मुख्यत मानवीय और सामाजिक है—

धम शास्त्रो और महाभारत मे धम के जिस रूप की प्रधानता है वह मुख्यत मानवीय और सामाजिक है। धम के मम के रूप म मानवीयता का सकेत अभी ऊपर किया जा चुका है। यह मानवीयता मनुष्यता की भावना है, जो अहिंसा, दया आदि क उदार गुणो म व्यक्त होती है। यह भावना मनुष्य के प्रति भावपूण आदर स प्रेरित होती है तथा ओत प्रोत रहती है। आध्यात्मिकता इस धम का आधार है। आत्मा सभी मनुष्यो म समान है। अन्य बातो म मनुष्यो म भेद हो सकता है, किन्तु आत्मा की समानता का अनुभव होने पर म अन्य बातें अन्याय और अतिचार का आधार नही बन सकती। इसी कारण भारतीय इतिहास मे भारतवष क द्वारा अन्य देशो पर आक्रमण के उदाहरण नहीं मिलत। इसी कारण भारतवष म विकसित होने वाले ईश्वरीय धम सम्प्रदाय पश्चिमी धम-सम्प्रदायो की भाति धम प्रचार और धम-परिवतन म विश्वास नहीं करते। स्वतन्त्रता और समानता मानवीयता क मूल सिद्धान्त हैं। धम प्रचार और धम परिवतन इनको खण्डित करत हैं।

ईश्वर को मानते हुए भी भारतीय धम सम्प्रदाय मानवीय भावना से ओतप्रोत है। इसका कारण धम शास्त्र व सामाजिक धम की मौलिक मानवीयता की प्रेरणा है। धमशास्त्रो और महाभारत का धम भावना की दृष्टि से ही मानवीय नही है, वरन् क्षेत्र और सम्ब ध की दृष्टि से भी मानवीय और सामाजिक है। उसम ईश्वर का प्रसग आवश्यक नही है। धम के लक्षणा म उदार मानवीय गुणो का ही गणना की गई है उसम ईश्वर की पूजा का नाम नहा है। अध्यात्म का आधार इस धम को दिव्यता का कुछ प्रकाश अवश्य दता है फिर भी यह धम मुख्यत लौकिक और सामाजिक है। यह मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्धो म ही सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से धम का यह रूप ईश्वर की अलौकिकता म केन्द्रित धम सम्प्रदायो से भिन्न है।

१२–महाभारत के अनुसार अविरोध इस धम की कसौटी है—

ईश्वर अलौकिक और अनात है। ईश्वर को जानने का अभिमान पगम्बरो और भक्तो का अभिमान है। एक अध्यात्म का ही रूप एसा है जिसम कि ईश्वर का कुछ आभास मनुष्य को हो सकता है। यह अध्यात्म मनुष्य और ईश्वर की मौलिक एकता की ओर ले जाता है। किन्तु मनुष्य और ईश्वर की इस एकता को पश्चिम के ईश्वरवादी धम सम्प्रदाय पाप मानते हैं। मनुष्य और ईश्वर की एकता का आध्यात्मिक आधार न मानने पर ईश्वर अलौकिक बन जाता है। अलौकिक होने के कारण वह अज्ञेय भी हो जाता है। आध्यात्मिक आधार के बिना अज्ञेय ईश्वर के बारे म मनुष्य की कल्पनायें अनधिकार हैं। इस ईश्वर के सन्देश और आदेश ही सदिग्ध है। ईश्वर के अलौकिक होने के कारण उन सदेशो की यथार्थता की परीक्षा नही की जा सकती। इसीलिए उनम मतभेद होता है, जसा कि आध्यात्मिक धम म सम्भव नहीं है। ईश्वरीय धम सम्प्रदायो म अनेक मानवीय गुणो का मान है फिर भी य सम्प्रदाय धम प्रचार, धम-परिवतन आदि के द्वारा स्वतन्त्रता, समानता उदारता सद्भावना आदि मानवीय गुणो का खण्डन करते रहे हैं। यह इन धम सम्प्रदायो का एक अद्भुत आत्मविरोध है जिसकी ओर विद्वानो न उचित ध्यान नहा दिया हैं। इसके विपरीत धम शास्त्र और महाभारत का मानवीय और सामाजिक धम अपनी आध्यात्मिकता के कारण अत्यन्त

उदार और संगत है। अध्यात्म में विरोध संभव नहीं है, क्योंकि अध्यात्म के भाव मनुष्य के अनुभव के अंतर्गत हैं। वे अलौकिक ईश्वर के आदेशों की भांति मनुष्य से अतीत नहीं हैं। अविरोध बुद्धि की माग और बुद्धि का लक्षण है किन्तु भाव में भी इसका विस्तार होता है। मानवीयता, समानता, स्वतंत्रता उदारता आदि के खण्डन में भाव के विरोध की परख हो जाती है। महाभारत में भाव और व्यवहार के अविरोध को धर्म की कसौटी माना गया है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि' और 'आत्मौपम्य' में भी भाव के अविरोध की धारणा अन्तर्निहित है। धर्म के लक्षण के रूप में इस अविरोध का विवेचन पांचवें अध्याय के पहले प्रकरण में (पृष्ठ ११७) किया गया है। इस अविरोध की कसौटी पर खरा उतरने पर ही कोई भी धर्म मानव-समाज का कल्याण कर सकता है।

१३—धर्म की आध्यात्मिकता और मानवीयता उदार नैतिक गुणों में व्यक्त होती है—

धर्म शास्त्रों और महाभारत में धर्म का स्वरूप मुख्यतः मानवीय और सामाजिक माना गया है। उसके आध्यात्मिक आधार के संकेत याज्ञवल्क्य के 'आत्मदर्शन', महाभारत के 'आत्मौपम्य' और देवल के 'आत्मनः प्रतिकूलानि' में मिलते हैं। धर्म के इन आध्यात्मिक आधारों का अधिक विस्तार और विवेचन धर्म शास्त्रों में नहीं किया गया है। किन्तु जिन उदार नैतिक गुणों में धर्म का आध्यात्मिक तत्त्व व्यक्त होता है, वे गुणशील की दृष्टि से व्यक्तिगत हैं अर्थात् वे मनुष्य के व्यक्तित्व को सम्पन्न बनाते हैं। किन्तु इन गुणों की अभिव्यक्ति सामाजिक है। सामाजिक व्यवहार में इन गुणों का सौरभ फैलता है और ये फलित होते हैं। धर्म शास्त्रों में और महाभारत में ऐसे अनेक मुख्य गुणों की गणना की गई है। इन गुणों को धर्म का लक्षण बताया गया है। ये गुण धर्म के आध्यात्मिक आधार और व्यवहार के सेतु हैं। ये उनका सम्बन्ध बनाते हैं। इन गुणों के द्वारा व्यवहार में व्यक्त होकर धर्म सार्थक और सफल होता है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में अहिंसा, सत्य क्षमा दया आदि गुणों को धर्म का लक्षण बताया गया है। महाभारत में भी अहिंसा दया, शौच, दम आदि की धर्म के लक्षणों में गणना की गई है। धर्म

वे इन गुणा का विवरण पाँचवे अध्याय के तीसरे प्रकरण म तथा छठे अध्याय म किया गया है। ये गुण अनेक हो सकते हैं और इनकी गणना पूर्ण नहीं हो सकती। अत महाभारत म अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि गुणा म प्रत्येक को यहाँ परमधम और यही सनातन धम बताया गया है। आध्यात्मिक आधार की समता, स्वतन्त्रता और उदारता, अहिंसा, सत्य, दया आदि म व्यक्त होती है। अत एव मुख्य गुण से अनेक गुण घटित हो सकते हैं। अस्तेय, ब्रह्मचय, क्षमा, दया आदि म भी अहिंसा का भाव अन्तर्निहित रहता है। सामान्य और विशेष क भेद स धम के य लक्षण और गुण सभी आध्यात्मिक और मानवीय हैं। सामान्य गुण अधिक व्यापक हैं। विशेष गुण अस्तेय ब्रह्मचय आदि की भाँति कुछ विशेष विषयो म अथवा दया, क्षमा अक्रोध आदि की भाँति कुछ विशेष परिस्थितियो म सीमित हो जाते हैं। किन्तु सभी रूपो मे ये गुण समाज म धम का सौरभ फलाते हैं। इन गुणा म धम की आध्यात्मिकता और मानवीयता क सिद्धान्त सामाजिक जीवन म चरितार्थ होते हैं।

१४—वण और आश्रम धर्म के विधान के भारतीय अवलम्ब हैं—

धमशास्त्रो और महाभारत म धम की प्रतिष्ठा चार अथवा पाँच भूमियो में की गई है। धम की सबसे पहली भूमि आध्यात्मिक है जिसका सकेत याज्ञवल्क्य के 'आत्मदशन तथा गीता के 'आत्मौपम्यन में मिलता है। धम की दूसरी भूमि अहिंसा सत्य आदि के सामान्य गुण हैं तथा तीसरी भूमि अस्तेय, अक्रोध आदि के विशेष गुण हैं। इन सामान्य और विशेष गुणा के द्वारा धम की आध्यात्मिक विभूति का विस्तार समाज में होता है। ये दोनो ही प्रकार के गुण मनुष्यमात्र के लिए वाञ्छनीय हैं। अत धम का यह रूप सामान्य और व्यापक अथ में मानवीय है। किन्तु मनुष्य का सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन जटिल और अनेक रूप है। केवल सामान्य गुणो के द्वारा धम का पूण व्यवहार सम्भव नही हो सकता। सामाजिक जीवन की जटिलताओ म विशेष परिस्थितियो में सबके कर्तव्य एकसे नही हो सकते। ऐसी एकरूपता में समाज और व्यक्ति दोनो का जीवन सुन्दर नहीं बन

सकता। धर्म की सफलता और जीवन की सुन्दरता के लिए धर्मशास्त्रों और महाभारत में समाज का विभाजन चार वर्णों में और जीवन का विभाजन चार आश्रमों में किया गया है तथा इसके अनुसार धर्म का विधान किया गया है। यह धर्म मनुष्य के कर्त्तव्य के रूप में है। विद्या, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के अनुरूप चार वर्ण बनाये गये है और उनके अलग-अलग कर्त्तव्य बताये गये है। इसी प्रकार चार आश्रम माने गये हैं और उनके अलग-अलग कर्त्तव्य बताये गये हैं। वर्णों और आश्रमों के अनुसार धर्म की जो व्यवस्था की गई है उसे धर्म की प्रतिष्ठा की चौथी और पाँचवी भूमि कह सकते हैं। इन भूमियों में धर्म का मूल आध्यात्मिक आधार और धर्म के सामान्य लक्षण विशेष सामाजिक परिस्थितियों तथा आयु की विशेष अवस्थाओं के साथ संगत होता है। वर्णों और आश्रमों की यह व्यवस्था भारतवर्ष की एक निराली विशेषता है। यह अन्य देशों में नहीं पाई जाती। अन्य देशों में भी समाज में वर्ग मिलते है, किन्तु भारतवर्ष का जैसा व्यवस्थित विधान नहीं मिलता। आश्रम-व्यवस्था की कल्पना तो कहीं नहीं मिलती। वर्ण-व्यवस्था में कुछ दोष भी उत्पन्न हो गये यद्यपि उसका मूल उद्देश्य समाज में श्रम का विभाजन था। आश्रम-व्यवस्था जीवन का ऐसा विभाजन है जो सर्वकाल में उपयोगी हो सकता है। आश्रमों के विभाजन में भारतीय ऋषियों ने जीवन की एक बड़ी सुन्दर और सफल योजना प्रस्तुत की है। हजारों वर्षों तक वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था भारतीय धर्म और संस्कृति का आधार बनी रही। महाभारत में वर्ण और आश्रमों के कर्त्तव्यों के रूप में धर्म का विधान विस्तार के साथ किया गया है। धर्म के इसी रूप का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है। यह विवेचन सातवें अध्याय से लेकर १८वें अध्याय तक है।

१५—वर्णों की व्यवस्था मे कुछ सामाजिक विषमता अवश्य उत्पन्न हुई किन्तु उसका मूल उद्देश्य विषमता नही वरन् समाज का सामंजस्य तथा कर्त्तव्य विभाजन है—

आधुनिक विचारकों ने वर्ण-व्यवस्था की बहुत कुछ आलोचना की है तथा उसमें सामाजिक विषमता के बीज बताये है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य

है कि वर्ण विभाजन के कारण भारतीय समाज मे कुछ विषमतायें उत्पन्न हुई । किन्तु यह विषमता वर्ण व्यवस्था का मूल उद्देश्य नही थी। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त म विराट पुरुष के मुख, बाहु, उरु और चरण से चारो वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है । इससे विदित होता है कि चारो वर्ण समाज पुरुष के अग हैं । शरीर के अगो मे विरोध नही, वरन् सामजस्य अभीष्ट होता है । ऐसा ही सामजस्य वर्णव्यवस्था का सामाजिक उद्देश्य है । वर्ण-व्यवस्था के कारण जो विषमताये उत्पन्न हुई , उनका दोष इस व्यवस्था को नही, वरन् मनुष्य स्वभाव को देना चाहिए । वह विषमतायें अन्य देशो के समाज मे भी मिल सकती हैं जहा वर्ण-व्यवस्था नहीं है । भारत के इतिहास म वर्णों के आधार पर एसे विरोध के उदाहरण नहीं मिलते, जसे विरोध पश्चिम के ईश्वरी धर्मों ने पदा किये हैं। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध म एक जन्माधिकार की बात ही आपत्तिजनक है। यह जन्माधिकार वदिककाल म नही था। जन्माधिकार के अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था आधुनिक समाज म भी श्रम विभाजन और सामजस्य का आधार बन सकती है । विद्या रक्षा,व्यवसाय और सेवा के कम आधुनिक समाज मे भी बहुत कुछ विभाजित है। इनम न्याय और सामजस्य अपेक्षित है । इनका उल्लघन वर्ण व्यवस्था के विधायको का भी उद्देश्य नही था ।

१६—द्विजो की श्रेष्ठता और शूद्रो की हीनता सामाजिक परिस्थिति के परिणाम है —

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध म द्विजो की श्रेष्ठता और शूद्रो की हीनता सबसे अधिक आपत्तिजनक मानी जाती है । द्विज शब्द ब्राह्मण के अर्थ म भी रूढि हो गया है । किन्तु सामान्यरूप से वह तीन उच्च वर्णों का वाचक है। सस्कारो के द्वारा तीनो वर्णों का दूसरा जन्म होता है । अत उन्हे द्विज कहते हैं । इस प्रसग म उपनयन का विशेष महत्व है । उपनयन विद्या का द्वार है। विद्या म विशेष रूप से रत रहने के कारण द्विज शब्द ब्राह्मण के अर्थ म रूढि हो गया । किन्तु सामान्य अर्थ म तीनो ही उच्च वर्ण द्विज कहलाते हैं तथा व शूद्रों से श्रेष्ठ माने जाते हैं । श्रम और सेवा की तुलना म विद्या, रक्षा और व्यवसाय की श्रेष्ठता इसका कारण है । इसम सन्देह नहीं कि शूद्रो के साथ कुछ अधिक अन्याय हुआ है किन्तु श्रमिको और सेवको की हीनता दूसरे देशो

म भी रही है और वर्तमान समाज में भी है। प्राचीन भारतीय समाज में भी थी। प्राचीन भारतीय समाज में सामाजिक परिस्थितियों और कर्मभेद से वर्णों का विभाजन हुआ। महाभारत में तो यह कहा गया है कि प्राचीनकाल में वर्णों का भेद नहीं था और सभी ब्राह्मण थे। कालान्तर में स्वभाव और कर्म से वे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बन गये (शान्तिपर्व—अध्या० १८८, श्लो० १० (३, देखिए पीछे पृष्ठ—१३८)। विद्या की श्रेष्ठता भारतीय समाज का एक अनुपम विशेषता थी। प्राचीन समाज की अरक्षित स्थिति में ब्राह्मणों स्त्रियों तथा अन्य प्रजा की रक्षा के लिए क्षत्रियों को विशेष मान दिया गया। धर्म और संस्कृति की परम्परा में आचार की स्वच्छता और पवित्रता का विशेष महत्व दिया गया। मलिन कर्म के कारण शूद्रों को हीन समझा गया। यह परिस्थितियाँ समाज की परम्परा में रूढ़ि हो गईं। इतना मानना होगा कि शूद्रों के प्रति अन्याय का निराकरण धर्मशास्त्रों में नहीं किया गया।

१७—ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण प्राचीन समाज में विद्या, यज्ञ आदि के महत्व तथा तप, त्याग, पवित्रता, सरलता आदि का आदर था—

वर्ण-व्यवस्था में द्विजों को श्रेष्ठ और द्विजों में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कुछ आधुनिक विचारक इसे ब्राह्मणों का अपने प्रति पक्षपात भी मानते हैं। धर्मशास्त्रों की रचना ब्राह्मणों ने ही की है। उन्होंने धर्मविधान में अपने लिए गौरव और सुविधा दी है। किन्तु अपने विधान के द्वारा कोई श्रेष्ठ नहीं बन सकता। भारतीय समाज में विद्या, यज्ञ, तप, त्याग आदि का विशेष आदर होने के कारण ही ब्राह्मणों का विशेष आदर हुआ। उनके अध्यापन के द्वारा विद्या की परम्परा बनी रही तथा उनके याजन के द्वारा सांस्कृतिक यज्ञ कर्म आदि चलते रहे। स्वतन्त्र भारत में इन दोनों का तीव्रता से ह्रास हो रहा है यह वर्ण-व्यवस्था के आलोचकों के लिए विचारणीय है। धर्मशास्त्रों में भी विद्याहीन ब्राह्मणों की निन्दा की गई है। विद्या, तप, संस्कृति आदि की श्रेष्ठता किसी भी सभ्य समाज के लिए आदरणीय हो सकती है। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों के लिए जिन कर्त्तव्यों का विधान किया गया है, उन कर्त्तव्यों का पालन करने वाला वर्ग किसी भी समाज के लिए गौरव का कारण हो सकता है।

१८—क्षत्रियो की श्रेष्ठता का कारण रक्षा का महत्व है—

वर्ण-व्यवस्था म क्षत्रिया को भी उत्कृष्ट मान लिया गया है। यहाँ-वहाँ क्षात्रधम को सवश्रेष्ठ भी माना गया है। रक्षक होने के कारण वह अन्य धर्मो का धारक है। प्राचीन अरक्षित समाज म रक्षा का बड़ा महत्व था। दुर्बलो की रक्षा म तत्पर क्षत्रिय समाज विद्यारत ब्राह्मणो के समान ही किसी भी समाज के लिए गौरवपूर्ण हो सकता है। आज भी एसे रक्षको की आवश्यकता है।

१६—प्रजापालन और प्रजा की रक्षा राजा के मुख्य-धर्म है—

क्षत्रिय धम के उक्त दृष्टिकोण से ही धमशास्त्रो ने राजधम को निर्धारित किया है। पुरुषसूक्त म क्षत्रियो को 'राजन्य' कहा है। प्राय क्षत्रिय ही राजा होते थे। वे शक्ति बल से राज्य का शासन करते थे। धमशास्त्रो म प्रजा की रक्षा प्रजा का पालन विशेष रूप स राजा का धम बताया है। महाभारत मे विशेषत शान्तिपर्व म राजधम का विशेष वर्णन है। शक्ति बल नीति, विद्या धम आदि से युक्त लोकरजक और लोकरक्षक राजा की कल्पना धमशास्त्रो की एक विशेषता है। अनेक राजाओ न इस कल्पना को इतिहास मे सत्य बनाया है।

२०—वैश्यो के आर्थिक व्यवसाय मे भी दान आदि के द्वारा श्रेय का सामजस्य किया गया है—

आर्थिक दृष्टि स वैश्यधम अन्य वर्णों के धम की अपेक्षा लाभप्रद है। एकमर्यादा के भीतर आर्थिक व्यवसाय भी समाज की सेवा है। अधिक धन सग्रह अवश्य अनर्थकारी हो जाता है। इसी के सन्तुलन के लिए महाभारत म अनेक स्थानो पर वैश्यो के लिए न्यायपूर्वक धन सचय तथा दान का विधान किया गया है। कृषि और गोरक्षा को भी वैश्य का कर्त्तव्य माना

गया है। यद्यपि वैश्य ने इन कर्त्तव्यों को त्याग दिया। ये कर्त्तव्य धनसंचय के प्रति धर्म और समाज के रक्षक हैं। धनसंग्रह करते हुए भी वैश्यवर्ग धर्म, कर्म, दान आदि को बहुत कुछ ध्यान देता रहा है।

२१—शूद्रों के साथ वर्णव्यवस्था में निश्चित रूप से अन्याय हुआ है और उसका संशोधन आवश्यक है—

शूद्रों के प्रति अन्याय के कारण वर्णव्यवस्था की बहुत आलोचना की जाती है चाहे इसका कारण सामाजिक परिस्थिति और स्वच्छन्दता का उन्माद हो फिर भी यह सत्य है कि शूद्रों की दशा भारतीय समाज में शोचनीय रही है। धर्मशास्त्रों में इसका कोई प्रतिकार नहीं किया गया है। बुद्ध से लेकर कबीर नानक दादू आदि सन्तों ने इसके समाधान का कुछ प्रयत्न किया, किन्तु ये प्रयत्न धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित रहे। गांधी जी के प्रयत्न कुछ सामाजिक क्षेत्र में भी सफल हुए हैं। किन्तु इस क्षेत्र में और अधिक सक्रिय संशोधन की आवश्यकता है।

२२—आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर योजना है—

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियां भी हो सकती हैं किन्तु आश्रम व्यवस्था भारतीय प्रतिभा की एक अद्भुत कल्पना है। आश्रम-व्यवस्था के पीछे काल का गतिमान सत्य है। सफल और सुन्दर जीवन के लिए काल एवं आयु की गति के साथ जीवन के लक्ष्य और कर्त्तव्य भी बदलने चाहिए। आश्रम व्यवस्था में यही योजना की गई है। ब्रह्मचर्य आश्रम में शक्ति और विद्या का संचय जीवन के निर्माण की नींव बनाना है। गृहस्थाश्रम में जीवन के प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक धर्म सम्पन्न होते हैं। वानप्रस्थ स्वतन्त्र और आनन्दमय जीवन का सेतु है, जिसे सन्यास का नाम दिया गया है। निवास साधना कर्म, जीवनचर्या आदि की दृष्टि से विविधता से पूर्ण आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर और परिपूर्ण योजना है।

२३—ब्रह्मचर्य सफल और पूर्ण जीवन की सुदृढ नीव है—

आश्रम व्यवस्था म ब्रह्मचर्य की करपना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अविवाहित जीवन और इन्द्रिय सयम की कल्पना अन्य धर्मसम्प्रदायो म भी की गई है, किन्तु सम्पूर्ण समाज के सामान्य अनुशासन के रूप म ब्रह्मचर्य की व्यवस्था अन्य किसी भी परम्परा म नही मिलती। ब्रह्मचर्य का इतना मान भी कहा नही है। हनुमान भीष्म आदि के समान ब्रह्मचारियो के आदर्श भी अन्य कही पूजित नही हैं। भारतीय परम्परा म विद्या और अध्यात्म का अत्यधिक मान ही ब्रह्मचर्य के महत्व का मुख्य कारण है। आधुनिक सभ्यता की गति और मनोविज्ञान की मान्यतायें ब्रह्मचर्य के अनुकूल नही हैं। किन्तु विद्या और स्वास्थ्य के हित के लिए ब्रह्मचर्य का महत्व सदा मानना होगा। आश्रमो की व्यवस्था के सिद्धान्त ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन सिद्धान्तो के पालन के व्यावहारिक रूप समयानुसार बदल सकते हैं। धर्मशास्त्रो और महाभारत म भी इन्द्रियसयम स्वाध्याय आदि को ब्रह्मचारी के कर्तव्यो म अधिक महत्व दिया गया है।

२४—गृहस्थाश्रम सब धर्मों का पोषक है तथा जीवन की प्राकृतिक, सामाजिक और सास्कृतिक सफलता के द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है—

गृहस्थ आश्रम का भवन ब्रह्मचर्य की नीव पर बनता है। महाभारत म गृहस्थाश्रम को समस्त धर्मों का मूल माना है। गृहस्थ जीवन का निर्वाह तो ससार म सभी समाज करते रहे हैं किन्तु धर्म सस्कृति आचार आदि के मेरुदण्ड के रूप म गृहस्थाश्रम की कल्पना भारतीय धर्मशास्त्र म ही की गई। धर्मशास्त्रो के अनुरूप महाभारत म भी अतिथि सत्कार यज्ञ दान, अध्ययन आदि को गृहस्थ का कर्तव्य माना गया है। स्त्री पुत्र, पुत्री सम्बन्धी आदि के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करके सयमी और सदाचारी गृहस्थ अपने जीवन को सफल बनाता है तथा वानप्रस्थ एव सन्यास का मार्ग प्रशस्त करता है। गृहस्थ का सयम और सदाचार प्राकृतिक जीवन एव आध्यात्मिक लक्ष्य का सामजस्य बनाता है।

२५—स्त्री की रक्षा और स्त्री का आदर समाज का गौरव है, सेवा और पातिव्रत गृहस्थ जीवन को सुखी और शान्तिपूर्ण बनाते हैं -

धर्मशास्त्रों और भारतीय समाज में स्त्री के स्थान की प्रायः आलोचना की जाती है। मनु ने स्त्रियों को स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं माना है किन्तु उद्देश्य स्त्री को अतिचारियों से सुरक्षित बनाना रहा है। महाभारत में भार्या के रूप में स्त्री को बड़ा महत्त्व दिया गया है। उसे पुरुष का सर्वोत्तम बन्धु और सहायक बताया गया है। स्त्रियों का अवध्य भी माना है। गृह और पति की सेवा पातिव्रत स्त्री के मुख्य धर्म माने गये हैं। अतिथि सेवा और पातिव्रत स्त्री के अत्यन्त मांगलिक शील हैं। इनसे गृह और समाज दोनों में शान्ति और सुख का विस्तार होता है। जिस प्रकार अन्य किसी समाज में ब्रह्मचर्य का इतना व्यापक महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार पातिव्रत को भी भारतवर्ष के समान महत्व नहीं दिया गया है। ब्रह्मचारियों के समान पतिव्रताओं के ऐसे उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलते। आधुनिक सभ्यता ब्रह्मचर्य के समान पातिव्रत की भी उपेक्षा कर रही है। किन्तु ब्रह्मचर्य के बिना स्वस्थ जीवन सम्भव नहीं है और पातिव्रत के बिना स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शान्तिपूर्ण और आनन्ददायक नहीं हो सकता।

२६—वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम-व्यवस्था को तथा जीवन को पूर्ण बनाते हैं—

इन्द्रिय संयम और पातिव्रत का महत्त्व कुछ सीमा तक अन्य समाजों में भी माना गया है किन्तु वानप्रस्थ और सन्यास की ऐसी परिपूर्ण कल्पना अन्यत्र नहीं की गई है। कुछ साधु सन्यासी दूसरे देशों में भी होते रहते हैं, किन्तु वानप्रस्थ और सन्यास का इतना व्यापक विधान कहीं नहीं मिलता। भारतवर्ष में वानप्रस्थ और सन्यास का बहुत कुछ पालन भी किया गया। राजा भी पुत्र के युवक होने पर पुत्र का अभिषेक करके वन चले जाते थे। ऐसे उदाहरण अन्य किसी देश में नहीं मिलते। इसी कारण राजाओं के लिए

ह । महाभारत भारतीय धम नीति सस्कृति आदि का विपुल भाण्डार है। इसीलिए उसे पचम वेद का पद मिला । श्रीकृष्ण व आध्यात्मिक प्रसग तथा युधिष्ठिर आदि के धार्मिक प्रतीको के कारण वह शाश्वत जीवन का प्रतीक भी बन गया है । इतिहास, काव्य और धमशास्त्र आदि तीनो ही दृष्टियो से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है । युगो के प्रभाव से उसका महत्त्व कम नही हुआ है। महाभारत का महान ग्रन्थ महान् भारत का शाश्वत गौरव रहेगा तथा भारतीय जनता के लिए वह सदा श्रद्धा के साथ पठनीय है ।

३०—महाभारत का साहित्यिक स्रोत काव्य के अनेक भगीरथो का आमन्त्रण करता है

महाभारत भारतीय इतिहास, परम्परा और सस्कृति का विश्वकोष है । कौरव-पाण्डवो के युद्ध की कथा के अतिरिक्त उसमे अनेक अन्तकथायें समाहित हो गई हैं । कौरव-पाण्डवो के चरित की कथाये भी अनेक एव रोमाचकारी है । इन कथाओ तथा अन्तकथाओ के आधार पर सस्कृत साहित्य म अनेक काव्य एव नाटक रचे गये हैं । इन रचनाओ की सूची परिशिष्ट—ख म दी गई है । इनम कुछ ग्रन्थ उत्तम भी हैं । अन्य अनेक साधारण कृतियो का कथानक महाभारत से ही लिया है । किन्तु हिन्दी साहित्य म रामकथा तथा कृष्ण भक्ति का ही काव्य अधिक मिलता है । महाभारत की मूल कथा तथा अन्तकथाओ के आधार पर बहुत कम रचनाये हुई हैं ।

सस्कृत म महाभारत के आधार पर जो काव्य अथवा नाटक रचे गये है, उनके अतिरिक्त अन्य अनेक रचनायें सस्कृत हिन्दी म महाभारत के आधार पर रची जा सकती है । महाभारत का यह अक्षय साहित्यिक स्रोत काव्य के अनेक भगीरथो का आमन्त्रण करता है जो महाभारत की मूल कथा एव अन्तकथाओ के आधार पर उत्तम काव्यो की रचना कर अपनी साधना को सफल बनायें तथा साहित्य का भाण्डार सम्पन्न बनाये ।

३१—महाभारत हमारी धार्मिक एव सास्कृतिक आस्था का सुदृढ अवलम्ब बन सकता है ।

नवीन साहित्यिक रचनाओ की विषय वस्तु और प्रेरणा का स्रोत बनने के अतिरिक्त महाभारत हमारी धार्मिक एव सास्कृतिक आस्था का

सुदृढ अवलम्ब भी बन सकता है। हमारा धर्म सांस्कृतिक है तथा हमारी संस्कृति धार्मिक पवित्रता से ओत प्रोत है। महाभारत मे धर्म और संस्कृति के तत्व विपुल परिमाण मे मिलते हैं। धर्म शास्त्रो के धर्म के सिद्धान्त महाभारत म प्रतिपादित एव पल्लवित हुये हैं। अनेक अन्तकथायें आदर्शों को चरिताथ करती हैं। व्रत तीर्थ आदि धार्मिक विषयों का विवरण भी महाभारत मे बहुत मिलता है। संस्कृति की अनेक परम्पराओं के प्रसगन महाभारत मे आदर का स्थान मिला है। धर्म और संस्कृति के विषय मे सम्पन्न महाभारत भारतीय जीवन और परम्परा का प्रतिनिधि बन गया है। धार्मिक पाठ एव साहित्यिक उपयोग के अतिरिक्त महाभारत का अनुशीलन हमारी धार्मिक एव साहित्यिक आस्था को सुदृढ बनाने म सहायक हो सकता है। कौरव-पाण्डवो का गृह-युद्ध अनुकरणीय नहीं है। किन्तु उसके दुष्परिणामों से भी हम बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। मूल कथा के सूत्र पर गुम्फित अन्य धार्मिक प्रसगो एव कथाओ तथा सांस्कृतिक विषयो को लोक-मानस म पुन पुन प्रकाशित कर समाज की धार्मिक और सांस्कृतिक आस्था को सुदृढ बनाया जा सकता है।

धर्म, संस्कृति, साहित्य आदि की अपार निधि से सम्पन्न महाभारत का पचम वेद हमारी वर्तमान एव भावी आस्था का शास्त्र बना रह सकता है। यह इस प्राचीन काव्य की सनातन महिमा का प्रमाण है।



दो परिशिष्ट

परिशिष्ट-१——सहायक पुस्तकों की सूची।

परिशिष्ट-२—महाभारत मे प्राप्त कथानको पर आश्रित
काव्य, नाटक और चम्पू ग्रन्थो की सूची।

परिशिष्ट—क

सहायक पुस्तकों की सूची

1—महाभारत—गीता प्रेस का संस्करण
2—मनुस्मृति
3—याज्ञवल्क्य स्मृति
4—चिन्तामणि विनायक वैद्य महाभारत मीमांसा
5—डा० फतहसिंह भारतीय समाज शास्त्र
6—डा० फतहसिंह वैदिक दर्शन
7—डा० राधाकृष्णन् हिन्दुओं का जीवन दर्शन
8—आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोक
9—नलिन विलोचन शर्मा साहित्य का इतिहास-दर्शन
10—प्रोफेसर शिवदत्त ज्ञानी भारतीय संस्कृति
11—R C Dutt Mahabharata
12—Channing Arnold The Mahabharata
13—P V Kane History of Dharmsastra Vol II, Part I, II
14—Thadani : Mysteries of Mahabharata
15—V S Sukthankar : On the Meaning of the Mahabharata
16—S K Maitra The Ethics of the Hindus
17—Sir P S Sivaswamy Aiyer Evolution of The Hindu Moral Ideals
18—Radhakrishnan Religion and Society
19—Arthur A Macdonell History of Sanskrit Literature
20—V Varadachari A History of the Sanskrit Literature
21—Prof V V Dixit Relation of the Epics to the Brahmana Literature
22—Krishna Chaitanya A New History of Sanskrit Literature

परिशिष्ट--ख

महाभारत में प्राप्त कथानकों पर आश्रित काव्य, नाटक और चम्पू ग्रन्थों की सूची

	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१	पचरात्र	भास
२	दूतवाक्य	भास
३	मध्यम व्यायोग	भास
४	दूतघटोत्कच	भास
५	कर्ण भार	भास
६	उरुभग	भास
७	अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास
८	किरातार्जुनीय	भारवि
९	वेणीसहार	भट्ट नारायण
१०	शिशुपाल वध	माघ
११	सुभद्रा-धनञ्जय	कुलशेखर वर्मन
१२	कीचक-वध	नीति वर्मन
१३	बाल भारत	राजशेखर
१४	नैषधानन्द	क्षेमीश्वर
१५	नल चम्पू	त्रिविक्रम भट्ट
१६	भारत मजरी	क्षेमेन्द्र

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१७ धनञ्जय व्यायोग	कचन पडित
१८ किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज
१६ नैंपधीय चरित	श्रीहर्प
२० नल विलास	रामचन्द्र
२१ निर्भयभीम	रामचन्द्र
२२. वाल भारत	अमरचन्द्र
२३ पाण्डव चरित	देव प्रभा सूरि
२४ महृदयानन्द	कृष्णानन्द
२५ वाल भारत	अगस्त्य
२६ पार्थ पराक्रम	प्रह्लादनदेव
२७. भीम विक्रम	मोक्षादित्य
२८ सौगन्धि आहरणम्	विश्वनाथ
२६ युधिष्ठिर विनय	वासुदेव
३० नलोदय	वासुदेव
३१ नलाभ्युदय	वामन भट्टवाण
३२ भारत चम्पू	अनन्त भट्ट
३३ भैमीपरिणय	श्रीनिवास दीक्षित
३४ भारत चम्पू	राजचूडामणि दीक्षित
३५ सुभद्राधनजय	गुरुराम
३६ द्रोपदी परिणय चम्पू	चक्रकवि
३७ नल चरित	नीलकण्ठ दीक्षित
३८ सुभद्रा परिणय	नल्ला कवि
३६ सुभद्रा हरण	मध्व

परिशिष्ट--ख

महाभारत में प्राप्त कथानकों पर आश्रित काव्य, नाटक और चम्पू ग्रन्थों की सूची

	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१	पचरात्र	भास
२	दूतवाक्य	भास
३	मध्यम व्यायोग	भास
४	दूतघटोत्कच	भास
५	कर्ण भार	भास
६	उरुभग	भास
७	अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास
८	किरातार्जुनीय	भारवि
९	वेणीसहार	भट्ट नारायण
१०	शिशुपाल वध	माघ
११	सुभद्रा-धनञ्जय	कुलशेखर वर्मन
१२	कीचक-वध	नीति वर्मन
१३	बाल भारत	राजशेखर
१४	नैषधानन्द	क्षेमीश्वर
१५	नल चम्पू	त्रिविक्रम भट्ट
१६	भारत मजरी	क्षेमेन्द्र

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१७ धनञ्जय व्यायोग	कचन पडित
१८ किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज
१९ नैषधीय चरित	श्रीहर्ष
२० नल विलास	रामचन्द्र
२१ निर्भयभीम	रामचन्द्र
२२ बाल भारत	अमरचन्द्र
२३ पाण्डव चरित	देव प्रभा सूरि
२४ सहृदयानन्द	कृष्णानन्द
२५ बाल भारत	अगस्त्य
२६ पार्थ पराक्रम	प्रह्लादनदेव
२७ भीम विक्रम	मोक्षादित्य
२८ सौगन्धि आहरणम्	विश्वनाथ
२९ युधिष्ठिर विजय	वासुदेव
३० नलोदय	वासुदेव
३१ नलाभ्युदय	वामन भट्टबाण
३२ भारत चम्पू	अनन्त भट्ट
३३ भैमीपरिणय	श्रीनिवास दीक्षित
३४ भारत चम्पू	राजचूडामणि दीक्षित
३५ सुभद्राधनञ्जय	गुरुराम
३६ द्रौपदी परिणय चम्पू	चक्रकवि
३७ नल चरित	नीलकण्ठ दीक्षित
३८ सुभद्रा परिणय	नल्ला कवि
३९ सुभद्रा हरण	मध्व